

ओ३म्

यजुर्वेद-भाष्य-संग्रह

महर्षि दयानन्द सरस्वती विरचित

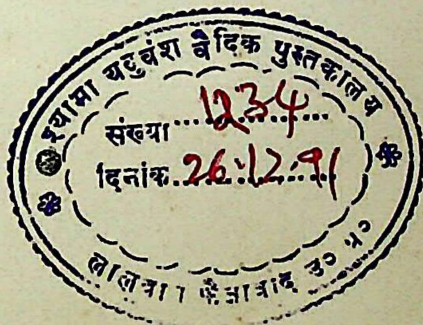
पञ्जाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा में नियत अंश

सम्पादक—

युधिष्ठिर मीमांसक

अध्यक्ष—महर्षि दयानन्द स्मारक अनुसन्धान विभाग

टंकारा (सौराष्ट्र)



दयानन्दाब्द	प्रथमवार	विक्रमाब्द २०१६
१३५	१०००	सन् १९६०

प्रकाशक—

मन्त्री—आर्य कुमार महासभा
आत्माराम पथ, बड़ोदा



मुद्रक—

श्री भगवान्स्वरूप "न्यायभूषण"
प्रबन्धकर्त्ता—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

प्राक्कथन

स्वर्गीय श्री गोविन्दरामजी हासानन्द के सुझाव पर आर्यसमाज के रिसर्चस्कालर श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक, अध्यक्ष वैदिक अनुसन्धान विभाग टंकारा से हमने महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य का वह अंश जो पञ्जाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा में स्वीकृत है, तैयार करवाकर वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित करा कर प्रकाशित कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादक ने मुद्रण और लेखकों (लिपिकरों) की भूलों को परिमार्जित किया है। महर्षि अपने ग्रन्थ लिखवाया करते थे। उनके द्वारा तो भूल नहीं हो सकती, परन्तु यदि लेखकों की असावधानी व मुद्रण की असावधानी से कुछ त्रुटि रह गई हो उसे परिमार्जित करना आवश्यक प्रतीत होने के कारण टिप्पणियों द्वारा इस काम को कर दिया गया है।

शास्त्री परीक्षा के आर्य छात्रों को इस ग्रन्थ से उनके पठन-कार्य में अवश्य लाभ होगा।

प्रकाशक

सम्पादकीय

पञ्जाब विश्वविद्यालय की संस्कृत की उच्चतम परीक्षा शास्त्री में आरम्भ से सायणाचार्य के वेदभाष्य का कुछ अंश नियत चला आ रहा था। कतिपय आर्य व्यक्तियों ने ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य के प्रचार तथा वेद के सत्यार्थ के प्रसार के लिए उसे शास्त्री परीक्षा में स्वीकृत कराने के लिये चिरकाल प्रयत्न किया उनके सतत परिश्रम से सायणाचार्य के वेदभाष्य के विकल्प में ८-१० वर्ष से ऋषि दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा यजुर्वेदभाष्य का कुछ भाग शास्त्री परीक्षा के पाठ्यक्रम में स्वीकृत कर लिया गया। यजुर्वेदभाष्य का परीक्षोपयोगी अंश स्वतन्त्र रूप से संकलित न होने से आर्य विद्यार्थियों को ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य को ग्रहण करने में भारी कठिनाई होती थी। आर्य छात्रों की उक्त कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से शास्त्री परीक्षा में नियत यजुर्वेदभाष्य का यह अंश प्रकाशित किया जा रहा है।

ऋषिर्दर्शनात् इस आर्ष निर्वचन के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋषि थे। उन्होंने वेद के सम्बन्ध में भारत में चिरकाल से प्रवृत्त, तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा नवनवोद्भावित भ्रान्तियों को दूर करने के लिए चारों वेदों के भाष्य लिखने का उपक्रम किया था। उनके इस महान् परिश्रम के फलस्वरूप यजुर्वेद का सम्पूर्ण तथा ऋग्वेद के ७वें मण्डल के ६१वें सूक्त के दूसरे मन्त्र तक का भाष्य आज हमें उपलब्ध है। आर्य जाति के दुर्भाग्य अथवा काल-चक्र के कारण ऋग्वेद के शेष अंश तथा सामवेद और अथर्ववेद का भाष्य वे न लिख पाए। उन्होंने अपने स्वर्गवास से २ मास १० दिन पूर्व सं० १९४० भाद्र वदी ५ के पत्र में लिखा था—

ऋग्वेद का चौथा अष्टक भी पूरा हो गया। पांचवे अष्टक का एक अध्याय कल पूरा होगा और छठा मण्डल आज पूरा होगया। परमेश्वर की कृपा से १ वर्ष में सब ऋग्वेदभाष्य पूरा हो जाएगा और एक वा डेढ़ वर्ष साम और अथर्व में लगेगा। पत्र और विज्ञापन पृ० ४५६, ४५७ (द्वि० सं०)।

इस पत्र से स्पष्ट विदित होता है कि यदि ऋषि दयानन्द न्यूनाति न्यून तीन वर्ष भी और जीवित रहते तो, वे चारों वेदों का भाष्य पूरा कर देते।

ऋषि ने सभी ग्रन्थ बोलकर लिपिकरों से लिखवाए, यह ऋषि दयानन्द के हस्त-लेखों के अवलोकन से स्पष्ट है। उनका मुद्रण भी दूर स्थित यन्त्रालयों में हुआ। प्रत्येक ग्रन्थ-लेखक इस बात से भले प्रकार परिचित है कि ग्रन्थों में लिपिकरों तथा मुद्रालय

के संशोधकों आदि के प्रमाद तथा दृष्टिदोष से बहुविध अशुद्धियां उत्पन्न हो जाया करती हैं। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके ग्रन्थों में भी इस प्रकार की अर्थात् लिपिकरों और मुद्रालयस्थ संशोधकों के प्रमाद से उत्पन्न बहुत सी अशुद्धियां मिलती हैं। ग्रन्थ सम्पादन-कला-विशेषज्ञों ने लिपिकर आदि के प्रमाद आदि से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की अशुद्धियों का २०-२५ विभागों में वर्गीकरण किया है। ग्रन्थ-सम्पादक को उन अशुद्धिप्रकारों का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है, जिससे लिपिकर आदि के प्रमादों से उत्पन्न अशुद्धियों का परिमार्जन हो सके।

इस परीक्षोपयोगी अंश में भी लिपिकर और मुद्रणालयस्थ संशोधकों की प्रमाद-जन्य जो स्पष्ट अशुद्धियां थीं, उनको हमने यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न किया है और ऐसे स्थलों पर पूर्वमुद्रित अशुद्ध पाठ नीचे दर्शाए हैं। कतिपय पूर्वमुद्रित पाठों को लिपिकर और संशोधकों के प्रमाद से उत्पन्न अपपाठ समझते हुए भी यथापूर्व छापकर स्वसम्मत शुद्ध पाठ नीचे दर्शाया है।

ऋषि दयानन्द के भाष्य के सम्बन्ध में उत्पन्न हो सकने वाली कतिपय विशिष्ट भ्रान्तियों के निराकरण के लिए विशिष्ट स्थलों पर टिप्पणियां देकर उनका स्पष्टीकरण भी किया है। इस अंश में ऋषि दयानन्द के ५०-६० ऐसे विशिष्ट प्रयोग हैं, जिन्हें आधुनिक वैयाकरण अशुद्ध मानते हैं। हमने उन सभी पदों पर **अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्** (इसकी शुद्धता परिशिष्ट में देखें) टिप्पणी देकर परिशिष्ट में व्याकरणशास्त्र तथा प्राचीन आर्ष प्रयोगों के आधार पर विशद प्रकाश डाला है और दर्शाया है कि ऋषि के उक्त प्रयोग व्याकरणशास्त्र और प्राचीन आर्ष प्रयोगों के अनुसार सर्वथा शुद्ध हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में यथासम्भव सतर्कता वर्तने पर भी मुझ जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति के अज्ञान अथवा प्रमाद से कहीं कुछ अन्यथा लेखन सम्भव है। और मुझसे दूर स्थित मुद्रणालय में मुद्रित होने के कारण मुद्रण में भी कुछ अशुद्धियां हुई हैं। इसलिए विद्वज्जनों से निवेदन है कि वे उन भूलों का परिमार्जन की दृष्टि से उचित निर्देश करें। मैं सदा उचित निर्देशों का समादर करूंगा और उनका सधन्यवाद आभार मानूंगा। शास्त्रकारों ने विद्वानों के लिए कहा भी है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति पण्डिताः॥

विदुषां वशंवदः—

युधिष्ठिर मीमांसक

टिप्पणीस्थ संकेत विवरण

क	यजुर्वेद भाष्य की हस्तलिखित पाण्डुलिपि (रफ कापी)
ख	,, ,, ,, ,, संशोधित कापी
ग	,, ,, ,, ,, प्रेस कापी
पूर्वमुद्रित	वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित १—अ० १, २ में सं० २०१५ का संस्करण २—अ० ३२, ४० तथा अ० ३४ में सं० १९८२ का संस्करण ३—अ० २२, २३ में सं० १९८१ का संस्करण
भाष्यकृत्	महर्षि दयानन्द सरस्वती
भाष्यकार	,, ,, ,,
ग्रन्थकार	,, ,, ,,
रालकट्र०	रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य-विवरण द्वि० सं० ।
आचार्य	सम्पादक के गुरु श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

विषय-सूची

विवेच्यमान पदों की सूची

* ओ३म् *

अथ यजुर्वेदभाष्यारम्भः क्रियते

[उपोद्घातः]

यो जीवेषु दधाति सर्वसुकृतज्ञानं गुणैरीश्वरस्
तं नत्वा क्रियते परोपकृतये सद्यः सुबोधाय च ।
ऋग्वेदस्य विधाय[1] वै गुणगुणिज्ञानप्रदातुर्वरं
भाष्यं काम्यमथो क्रियामययजुर्वेदस्य भाष्यं मया ॥१॥

चतुस्त्र्यङ्कैरङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे[2]
शुभे पौषे मासे सितदलभविश्वोन्मिततिथौ[3] ।
गुरोर्वारे प्रातः प्रतिपदमतीष्टं सुविदुषां
प्रमाणैर्निर्बद्धं शतपथनिरुक्तादिभिरपि ॥ २ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ता॑नि॒ परा॑ सुव ।
यद्भ॒द्रं तं न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ॥

ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ह्यृग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्यैस्तेभ्यो यथायथोपकारग्रहणाय क्रियाः कथं कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते । तत्र यद्यदङ्गं यद्यत्साधनं चापेक्षितं तत्तदत्र यजुर्वेदे प्रकाश्यते । कुतः ? यावत् क्रियानिष्ठं ज्ञानं न भवति, नैव तावच्छ्रेष्ठं सुखं कदाचिज्[4] जायते । विज्ञानस्य क्रियाहेतुत्वप्रकाशकारकत्वाविद्यानिवर्त्तकत्वाधर्माप्रवर्त्तक[5]त्वैर्धर्मपुरुषार्थयोः संयोजकत्वात् ।

---

१. आरभ्येत्यर्थः । यतो ह्यृग्वेदभाष्यारम्भः १९३४ वैक्रमाब्दे, मार्गशीर्षे शुक्लपक्षे षष्ठ्यां तिथौ मङ्गलवारे कृत इति ग्रन्थकृता तदुपक्रमणिकायामुक्तम् ।

२. अङ्कानां वामतो गतिरिति न्यायेन १९३४ वैक्रमवत्सर इति बोध्यम् ।

३. शुक्लपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथाविति भावः ।

४. 'कदाचित्' इति पदं हस्तलेखेषूपलभ्यते ।

५. '०निवर्तकत्वाधर्मेप्रवर्तकत्वै०' इति पूर्वमुद्रितपाठः ।

यद्यत्कर्म विज्ञाननिमित्तं भवति, तत्तत्सुखजनकं संपद्यते। तस्मान्मनुष्यैर्विज्ञानपुरःसरमेव कर्मानुष्ठानं नित्यं[1] कर्त्तव्यम्। कुतः? जीवस्य चेतनत्वादकर्मतया स्थातुमशक्यत्वात्। नैव कश्चिदात्ममनःप्राणेन्द्रियचालनेन विना क्षणमपि स्थातुमर्हति। यजुर्भिर्यजन्ति[2] इत्युक्तप्रामाण्यात्। येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, सर्वचेष्टासाङ्गत्यं, शिल्पविद्यासङ्गतिकरणं, शुभविद्यागुणदानं, यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं कुर्वन्ति तद्यजुः। अन्यत्सर्वं भूमिकायां[3] प्रकाशितं, तत्र द्रष्टव्यम्। सा भूमिका चतुर्णां वेदाना[4]मेकैव वर्त्तते॥

अस्मिन् यजुर्वेदे चत्वारिंशदध्यायाः सन्ति, तत्रैकैकस्मिन्नध्याये मन्त्राः संख्यायन्ते—

अध्यायः	मन्त्राः	अ०	मं०	अ०	मं०	अ०	मं०
१	३१	११	८३	२१	६१	३१	२२
२	३४	१२	११७	२२	३४	३२	१६
३	६३	१३	५८	२३	६५	३३	९७
४	३७	१४	३१	२४	४०	३४	५८
५	४३	१५	६५	२५	४७	३५	२२
६	३७	१६	६६	२६	२६	३६	२४
७	४८	१७	९९	२७	४५	३७	२१
८	६३	१८	७७	२८	४६	३८	२८
९	४०	१९	९५	२९	६०	३९	१३
१०	३४	२०	९०	३०	२२	४०	१७

चत्वारिंशदध्यायस्थाः सर्वे मन्त्रा एतावन्तः १९७५ एकोनविंशतिः शतानि पंचसप्ततिश्च सन्ति॥

१. 'नित्यम्' इति पदं हस्तलेखेषूपलभ्यते।

२. इदं वचनं काठकसंहितायाः ४०।७ विभागस्य ब्राह्मण उपलभ्यते।

३. 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्'। इति भावः। ४. वेदभाष्याणामिति भावः।

भाषार्थ[1]:—अब यजुर्वेद के भाष्य का आरम्भ किया जाता है !!

जो निर्गुण गुणपुञ्ज से देत सुकृत विज्ञान।
प्रणतपाल जगदीश्वरहि करि प्रणाम तिहि ध्यान ॥ १ ॥
ज्ञानदायि ऋग्वेद का भाष्याभीष्ट विधाय[2]।
पर-उपकार विचारि करि शीघ्र सुबोध निधाय ॥ २ ॥
शतपथ ब्राह्मण आदि पुनि निघण्टु निरुक्त निहारि।
यजुर्वेद जो क्रियापर वनौं ताहि विचारि ॥ ३ ॥
एक सहस्र नवशत अधिक विक्रमसर चौंतीस।
पौष शुक्ल तेरसि तिथि दिन अधीश वागीश[3] ॥ ४ ॥

विक्रम के संवत् १९३४ पौष सुदि १३ गुरुवार के दिन यजुर्वेद के भाष्य बनाने का आरम्भ किया जाता है। (विश्वानि०) इस मन्त्र का अर्थ भूमिका में कर दिया है।[4]

ईश्वर ने ऋग्वेद में गुण और गुणी के विज्ञान के प्रकाश द्वारा सब पदार्थ प्रसिद्ध किये हैं। मनुष्यों को उन पदार्थों से जिस जिस प्रकार यथायोग्य उपकार लेने के लिये क्रिया करनी चाहिये, तथा उस क्रिया के जो जो अङ्ग वा साधन हैं सो सो यजुर्वेद में प्रकाशित किये हैं। क्योंकि जबतक क्रिया करने का दृढ़ ज्ञान न हो, तबतक उस ज्ञान से श्रेष्ठ सुख कभी नहीं हो सकता। और विज्ञान होने के ये हेतु हैं कि जो क्रिया [का] प्रकाश, अविद्या की निवृत्ति, अधर्म में अप्रवृत्ति तथा धर्म और पुरुषार्थ का संयोग करना है। जो कर्मकाण्ड है सो विज्ञान का

---

१. वेदभाष्य की भाषा के विषय में ग्रन्थकार ने भ्रान्तिनिवारण (पृष्ठ ७) ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है—"भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं, उनको विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा।"

२. म० द० ने ऋग्वेद का भाष्य सं० १९३४ मार्गशीर्ष शुक्ला ६ मङ्गलवार के दिन आरम्भ किया था। अतः 'विधाय' का अर्थ 'समाप्त करके' ऐसा नहीं है। क्योंकि दोनों भाष्यों के आरम्भ करने की तिथियों में केवल ३७ दिन का अन्तर है। अतः 'विधाय' का अर्थ 'आरम्भ करके' इतना ही समझना चाहिए।

३. अर्थात् बृहस्पतिवार।

४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के आरम्भ में।

निमित्त और जो विज्ञानकाण्ड है सो क्रिया से फल देने वाला होता है। कोई जीव ऐसा नहीं है कि जो मन, प्राण-वायु, इन्द्रिय और शरीर के चलाये विना एक क्षण भर भी रह सके, क्योंकि जीव चेतन[1] है। इसलिये जो ईश्वर ने ऋग्वेद के मन्त्रों से सब पदार्थों के गुणगुणी का ज्ञान और यजुर्वेद के मन्त्रों से सब क्रिया करनी प्रसिद्ध की है, क्योंकि 'ऋक्' और 'यजुः' इन शब्दों का अर्थ भी यही है[2] कि जिससे मनुष्य लोग ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का संग, सब शिल्पक्रिया सहित विद्याओं की सिद्धि, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ गुण वा विद्या का दान, यथायोग्य उक्त विद्या के व्यवहार से सर्वोपकार के अनुकूल द्रव्यादि पदार्थों का खर्च करें, इसलिये इसका नाम यजुर्वेद है। और भी इन शब्दों का अभिप्राय भूमिका[3] में प्रकट कर दिया है,[4] वहां देख लेना चाहिये, क्योंकि उक्त भूमिका चारों वेद की एक ही है॥

इस यजुर्वेद में सब चालीस अध्याय हैं, उन एक एक अध्याय में कितने कितने मन्त्र हैं, सो पूर्व संस्कृत में कोष्ठ बनाके सब लिख दिया है और चालीसों अध्याय के सब मिलके १९७५ (उन्नीस्सौ पचहत्तर) मन्त्र हैं।

---

१. यहाँ पूर्व मुद्रित ग्रन्थ में 'जीव अल्पज्ञ एकदेशवर्ती चेतन है' ऐसा पाठ है। इस पाठ का मूल क० संज्ञक पाण्डुलिपि (रफ कापी) में लिखकर काटा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि भाषानुवाद में संस्कृत के समान संशोधन करना रह गया। हमने ऐसे स्थलों को संस्कृत संशोधनों के अनुसार ठीक कर दिया है।

२. ऋक् और यजुः पद की उक्त व्याख्या का मूल 'ऋग्भिः स्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति' वचन है। यह वचन काठक सं० ४०।७ के ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।

३. अर्थात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।

४. भूमिका के अन्त में 'प्रश्नोत्तर विषय' में इस विषय का वर्णन विस्तार से किया है। उसी की ओर यह संकेत है।

* ओ३म् *

प्रथमोऽध्यायः

इषे त्वेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । इषे त्वेत्यारभ्य भागं पर्य्यन्तस्य स्वराड्बृहती छन्दः[1] । मध्यमः स्वरः । अग्रे सर्वस्य ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथोत्तमकर्मसिध्यर्थमीश्वरः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते—

ऋग्वेद के भाष्य करने के पश्चात्[2] यजुर्वेद के मन्त्रभाष्य का आरम्भ किया जाता है। इसके प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में उत्तम उत्तम कामों की सिद्धि के लिये मनुष्यों को ईश्वर की प्रार्थना करनी अवश्य चाहिये, इस बात का प्रकाश किया है ॥

ओ३म्-इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि[3] ॥ १ ॥

इषे[4] । त्वा । ऊर्ज्जे । त्वा । वायवः । स्थ । देवः । वः । सविता । प्र । अर्पयतु । श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय । कर्मणे । आ । प्यायध्वम् । अघ्न्याः । इन्द्राय । भागम् । प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः । अनमीवाः । अयक्ष्माः । मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघशंस इत्यघऽशंसः । ध्रुवाः । अस्मिन् । गोपताविति गोऽपतौ । स्यात । बह्वीः । यजमानस्य । पशून् । पाहि ॥ १ ॥

---

१. वैदिकच्छन्दसां व्यवस्थाऽस्मदीये 'वैदिकच्छन्दोमीमांसा' नाम्नि ग्रन्थे द्रष्टव्या ।

२. इसके लिये पृष्ठ ३ की टिप्पणी २ देखिये ।

३. मन्त्राक्षरयोरुपरिष्टादधस्ताद्वानिर्दिष्टानां विविधस्वरसंकेतानां व्यवस्था, उदात्तादिस्वराणां पदवाक्यार्थसंबन्धश्चास्मदीये 'वैदिकस्वरमीमांसा' नाम्नि ग्रन्थे द्रष्टव्यः ।

४. इह पदपाठमुद्रणे यत्र क्वचिद् भ्रंश आसीत्, स परिमृष्टः ।

पदार्थः—(इषे) अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये । इषमित्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २ । ७), इषतीति गतिकर्मसु पठितम् (निघं० २ । १४), अस्माद्धातोः क्विपि कृते पदं सिध्यति । (त्वा) विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम् । (ऊर्जे) पराक्रमोत्तमरसलाभाय । ऊर्ग्रसः (श० ५ । १ । २ । ८) । (त्वा) अनन्तपराक्रमानन्दरसघनम् । (वायवः) सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणादयः । वायुरिति पदनामसु पठितम् (निघं० ५ । ४) । अनेन प्राप्तिसाधका वायवो गृह्यन्ते । वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात् कृवापा० (उ० १ । १) अनेनाप्युक्तार्थो गृह्यते । (स्थ) सन्ति । अत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्य स्थाने मध्यमपुरुषः । (देवः) सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतकः । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता (निरु० ७ । १५) । (वः) युष्माकम् । (सविता) सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् जगदीश्वरः । (प्रार्पयतु) प्रकृष्टतया संयोजयतु । (श्रेष्ठतमाय) अतिशयेन प्रशस्तः श्रेष्ठः[1], सोऽतिशयितः श्रेष्ठतमः[1], तस्मै यज्ञाय । (कर्मणे) कर्तुं योग्यत्वेन सर्वोपकारार्थाय । (आप्यायध्वम्) आप्यायामहे वा[2] । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (अघ्न्याः) वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गाव इन्द्रियाणि पृथिव्यादयः पशवश्च । अघ्न्या इति गोनामसु पठितम् (निघं० २ । ११) । (इन्द्राय) परमैश्वर्ययोगाय । (भागम्) सेवनीयं भगानां[3] धनानां ज्ञानानां वा भाजनम् । (प्रजावतीः) भूयस्यः प्रजा वर्त्तन्ते यासु ताः । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । (अनमीवाः) अमीवो व्याधिर्न विद्यते यासु ताः । अम रोगे इत्यस्माद्बाहुलकादौणादिक ईवन् प्रत्ययः । (अयक्ष्माः) न विद्यते यक्ष्मा रोगराजो यासु ताः । यक्ष इत्यस्मात् अर्त्तिस्तु० (उ० १ । १३८) अनेन मन् प्रत्ययः । (मा) निषेधार्थे । (वः) ताः । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (स्तेनः) चोरः । (ईशत) ईष्टां समर्थो भवतु । अत्र लोडर्थे लङ् । बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३][4] इति शपो लुगभावः । (मा) निषेधार्थे । (अघशंसः) योऽघं पापं शंसति सः । (ध्रुवाः) निश्चलसुखहेतवः । (अस्मिन्) वर्तमाने प्रत्यक्षे । (गोपतौ) यो गवां पतिः स्वामी, तस्मिन् । (स्यात) भवेयुः । (बह्वीः)

---

१. 'श्रेष्ठः' 'श्रेष्ठतमः' इत्येते पदे क-ख कोशयोरुपलभ्येते, गकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्ते ।
२. आप्यायध्वम्, आप्यायामहे वेत्यर्थः ।
३. सर्वकोशेषु 'भगानां' इत्येव शुद्धः पाठः ।
४. [ ] एतादृशे कोष्ठे पठितः पाठोऽस्माभिः परिवर्धित इति ध्येयम् ।

बह्व्यः । अत्र वा छन्दसि (अ० ६ । १ । १०६) अनेन पूर्वसवर्णदीर्घादेशः । (यजमानस्य) यः परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति, तस्य विदुषः । (पशून्) गोऽश्वहस्त्यादीन् श्रियः प्रजा वा । श्रीर्हि पशवः (श० १ । ८ । १ । ३६)[1] । प्रजा वै पशवः (श० १ । ६ । १ । १७)[1] । (पाहि) रक्ष ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ७ । १ । १—८[1] व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! अयं सविता देवो भगवान् वायव स्थ यान्यस्माकं वो युष्माकं च प्राणान्तःकरणेन्द्रियाणि सन्ति तानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु । वयमिषेऽन्नायोत्तमेच्छायै सवितारं देवं त्वा त्वां तथोर्जे पराक्रमोत्तमरसप्राप्तये भागं भजनीयं त्वा त्वां सततमाश्रयामः । एवं भूत्वा यूयमाप्यायध्वं वयं चाप्यायामहे । हे परमेश्वर ! भवान्कृपयाऽस्माकमिन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये श्रेष्ठतमाय कर्मणे चेमाः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या[2] गाः सदैव प्रार्पयतु । हे परमात्मन् ! भवत्कृपयास्माकं मध्ये कश्चिदघशंसः पापी स्तेनश्चोरश्च मेशत कदाचिन्मोत्पद्यताम् । तथा त्वमस्य यजमानस्य जीवस्य पशून्पाहि सततं रक्ष । यतो वः ता गा इमान्पशूंश्चाघशंसः स्तेनो मेशत, हर्तुं समर्थो न भवेद्, यतोऽस्मिन् गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य धार्मिकमनुष्यस्य समीपे बह्वीर्बह्व्यो गावो ध्रुवाः स्थात भवेयुः ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैव धर्म्यं पुरुषार्थमाश्रित्यर्ग्वेदाध्ययनेन गुणगुणिनौ ज्ञात्वा सर्वपदार्थानां संप्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये श्रेष्ठतमाभिः क्रियाभिः संयुक्तैर्भवितव्यम् । यत ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्यस्य वृद्धिः स्यात् । तथा सम्यक् क्रियया प्रजाया रक्षणशिक्षणे सदैव कर्त्तव्ये । यतो नैव कश्चिद्रोगाख्यो विघ्नश्चोरश्च प्रबलः कदाचिद्भवेत् प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुः । येनेयं विचित्रा सृष्टी रचिता, तस्मै जगदीश्वराय सदैव धन्यवादा वाच्याः । एवं कुर्वतो भवतः परमदयालुरीश्वरः कृपया सदैव रक्षयिष्यतीति मन्तव्यम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयभाषाः[3]—हे[4] मनुष्य लोगो ! जो (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाला संपूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त (देवः) सब सुखों के देने और सब विद्या

१. यत्रोद्धरणस्थलसंकेतोऽशुद्ध आसीत्, तत्र यथोचितं शोधनं विहितम्, ऋत उणाद्यष्टाध्यायीसूत्रपाठात् ।

२. 'अघ्न्या' पदं क-खकोशयोरुपलभ्यते, गकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तम् ।

३. आगे लिखी गई भाषा संस्कृत पदार्थ और अन्वय को मिलाकर बनाई गई है, यह भाव प्रकट करने के लिए यहां 'पदार्थान्वयभाषा' पद का प्रयोग किया है। आगे सर्वत्र इसकी प्रतीक मात्र 'पदार्थ' इतने अंश का ही प्रयोग किया है ।

४. यद्यपि इस ग्रन्थ की भाषा भावप्रधान है, शब्दार्थप्रधान नहीं (देखो पृष्ठ ३

का प्रसिद्ध करनेवाला परमात्मा है। सो (वः) तुम हम और अपने मित्रों के, जो (वायवः) सब क्रियाओं के सिद्ध करानेहारे स्पर्शगुणवाले प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियां (स्थ) हैं, उनको (श्रेष्ठतमाय) अत्युत्तम (कर्मणे) करने योग्य सर्वोपकारक यज्ञादि कर्मों के लिये (प्रार्पयतु) अच्छी प्रकार संयुक्त करे। हम लोग (इषे) अन्न आदि उत्तम उत्तम पदार्थों और विज्ञान की प्राप्ति और (ऊर्जे) पराक्रम अर्थात् उत्तम रस की प्राप्ति के लिये (भागम्) सेवा करने योग्य धन और ज्ञान के भरे हुए (त्वा) श्रेष्ठ पराक्रमादि गुणों के देनेहारे आपका सब प्रकार से आश्रय करते हैं। हे मित्र लोगो! तुम भी ऐसे होकर (आप्यायध्वम्) उन्नति को प्राप्त हो, तथा हम भी हों। हे भगवन् जगदीश्वर! हम लोगों के (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (प्रजावतीः) जिनके बहुत सन्तान हैं तथा जो (अनमीवाः) व्याधि और (अयक्ष्माः) जिन में राजयक्ष्मा आदि रोग नहीं हैं, वे (अघ्न्याः) जो जो गौ आदि पशु वा उन्नति करने योग्य है, जो कभी हिंसा करने योग्य नहीं तथा जो इन्द्रियां वा पृथिवी आदि लोक हैं उन को सदैव (प्रार्पयतु) नियत कराइये। हे जगदीश्वर! आपकी कृपा से हम लोगों में से दुःख देने के लिये कोई (अघशंसः) पापी वा (स्तेनः) चोर डाकू (मा ईशत) मत उत्पन्न हो। तथा आप इस (यजमानस्य) परमेश्वर और सर्वोपकारधर्म के सेवन करने वाले मनुष्य के (पशून्) गौ, घोड़े और हाथी आदि तथा लक्ष्मी और प्रजा की (पाहि) निरन्तर रक्षा कीजिये, जिससे इन पदार्थों के हरने को पूर्वोक्त कोई दुष्ट मनुष्य समर्थ न हो। (अस्मिन्) इस धार्मिक (गोपतौ) पृथिवी आदि पदार्थों की रक्षा चाहने वाले सज्जन मनुष्य के समीप (बह्वीः) बहुत से उक्त पदार्थ (ध्रुवाः) निश्चल सुख के हेतु (स्यात) हों।

इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में की है, उसका ठिकाना पूर्व संस्कृत भाष्यमें लिख दिया और आगे भी ऐसा ही ठिकाना लिखा जायगा, जिसको देखना हो, वह उस ठिकाने से देख लेवे॥ १॥

भावार्थभाषाः—विद्वान् मनुष्यों को सदैव परमेश्वर और धर्मयुक्त पुरुषार्थ के आश्रय से ऋग्वेद को पढ़ के गुण और गुणी को ठीक ठीक जानकर सब पदार्थों के सम्प्रयोग से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अत्युत्तम क्रियाओं से युक्त होना चाहिये

टि० १), तथापि जहां भाव सर्वथा अस्पष्ट अथवा विपरीत होगया था, वहां उचित परिष्कार कर दिया है। इसी प्रकार जहां वाक्य आगे पीछे हो रहे थे, उन्हें यथा स्थान रख दिया है। इस प्रकार संशोधन करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि परिवर्तन अति स्वल्प हो।

कि जिससे परमेश्वर की कृपापूर्वक सब मनुष्यों को सुख और ऐश्वर्य की वृद्धि हो। सब लोगों को चाहिये कि अच्छे अच्छे कामों से प्रजा की रक्षा तथा उत्तम उत्तम गुणों से पुत्रादि की शिक्षा सदैव करें कि जिससे प्रबल रोग विघ्न और चोरों का अभाव होकर प्रजा और पुत्रादि सब सुखों को प्राप्त हों, यही श्रेष्ठ काम सब सुखों की खान है। हे मनुष्य लोगो! आओ अपने मिलके जिसने इस संसार में आश्चर्यरूप पदार्थ रचे हैं, उस जगदीश्वर के लिये सदैव धन्यवाद देवें। वही परम दयालु ईश्वर अपनी कृपा से उक्त कामों को करते हुए मनुष्यों की सदैव रक्षा करता है॥ १॥

वसोः पवित्रमित्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

स यज्ञः कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते—

वह यज्ञ किस प्रकार का होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

वसोः॑ प॒वित्र॑मसि॒ द्यौर॑सि पृथि॒व्य॒सि मात॒रिश्व॑नो घ॒र्मोऽसि वि॒श्वधा॑ असि। प॒र॒मेण॒ धाम्ना॒ दृꣳह॑स्व मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑तिर्ह्वार्षीत्॥ २॥

वसोः॑। प॒वित्र॑म्। अ॒सि॒। द्यौः। अ॒सि॒। पृ॒थि॒वी। अ॒सि॒। मा॒त॒रिश्व॑नः। घ॒र्मः। अ॒सि॒। वि॒श्वधा॒ इति॑ वि॒श्वऽधाः॑। अ॒सि॒॥ प॒र॒मेण॑। धाम्ना॑। दृꣳह॑स्व। मा। ह्वाः। मा। ते॒। य॒ज्ञप॑ति॒रिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिः। ह्वा॒र्षी॒त्॥ २॥

पदार्थः—(वसोः) वसुः। अत्रार्थाद्विभक्तेर्विपरिणाम[1] इति प्रथमा विभक्तिर्विपरिणम्यते। यज्ञो वै वसुः (श० १। ७। १। ९)। (पवित्रम्) पुनाति येन कर्मणा तत्। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः। (द्यौः) विज्ञानप्रकाशहेतुः। (असि) भवति। (पृथिवी) विस्तृतः। (असि) भवति। (मातरिश्वनः) मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति आश्वनिति वा, तस्य वायोः। श्वनुक्षन्० (उ० १। १५७) अनेनायं शब्दो निपातितः। मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा (निरु० ७। २६)।

---

१. अर्थवशादित्यर्थः। तथा चोक्तं महाभाष्ये—'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामो भविष्यति' इति (१।३।९, अन्यत्र च)।

(घर्मः) अग्नितापयुक्तः शोधकः । घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् (निघं० ३ । १७) । (असि) भवति । (विश्वधाः) विश्वं दधातीति । (असि) भवति । (परमेण) प्रकृष्टसुखयुक्तेन । (धाम्ना) सुखानि यत्र दधति तेन । बाहुलकाड्डुधाञ्धातोर्मनिन् प्रत्ययः । (दृꣳहस्व) वर्धते । अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (मा) निषेधार्थे । (ह्वाः) ह्वरतु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (मा) निषेधार्थे । (ते) तव । (यज्ञपतिः) यज्ञस्य स्वामी यज्ञकर्त्ता यजमानः । धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिधा भवति–विद्याज्ञान-धर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिकसुखसंपादनाय सत्करणं, सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षी-करणं, नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभगुणविद्यासुखधर्मादीनां[1] नित्यं दानकरणमिति । (ह्वार्षीत्) ह्वरतु ह्वर वा । अत्रापि लोडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ७ । १ । ६—११ व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्मनुष्य ! त्वं यो वसोर्वसुरयं यज्ञः पवित्रमसि पवित्रकारकोऽस्ति, द्यौरसि सूर्य्यरश्मिस्थो भवति, पृथिव्यसि वायुना सह विस्तृतो भवति, तथा मातरिश्वनो घर्मोऽसि वायोः शोधको भवति, विश्वधा असि संसारस्य सुखधारको भवति, परमेण धाम्ना सह दृꣳहस्व दृꣳहते[2] वर्धते । तमिमं यज्ञं मा ह्वार्मा त्यज । तथा ते तव यज्ञपतिस्तं मा ह्वार्षीत् मा त्यजतु ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्याणां विद्याक्रियाभ्यां सम्यगनुष्ठितेन यज्ञेन पवित्रता-प्रकाशः, पृथिवीराज्यं, वायुप्राणवद्राज्यनीतिः, प्रतापः, सर्वरक्षा, अस्मिँल्लोके परलोके च परमसुखवृद्धिः, परस्परमार्जवेन वर्त्तमानं,[3] कुटिलतात्यागश्च जायते । अत एव सर्वैर्मनुष्यैः परोपकाराय विद्यापुरुषा-र्थाभ्यां प्रीत्या यज्ञो नित्यमनुष्ठातव्य इति ॥ २ ॥

पदार्थः—हे विद्यायुक्त मनुष्य ! तू जो (वसोः) यज्ञ (पवित्रम्) शुद्धि का हेतु (असि) है, (द्यौः) जो विज्ञान के प्रकाश का हेतु और सूर्य की किरणों में स्थिर होने वाला (असि) है, जो (पृथिवी) वायु के साथ देशदेशान्तरों में

१. 'शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानाम्' इति विपर्यस्तः पाठो पूर्वमुद्रिते । द्रष्टव्योऽस्य-भाषानुवादः । तुलना कार्या—(:वेषाय) सर्वशुभगुणविद्याव्याप्तये । यजुः १।६ ॥

२. अत्रात्मनेपदं कथं प्रयुक्तमित्यस्य मीमांसा ग्रन्थान्ते परिशिष्टे द्रष्टव्या ।

३. वर्तनमिति भावः ।

फैलनेवाला (असि) है, जो (मातरिश्वनः) वायु को (घर्मः) शुद्ध करनेवाला (असि) है, जो (विश्वधाः) संसार का धारण करनेवाला (असि) है, तथा जो (परमेण) उत्तम (धाम्ना) स्थान से (दृंहस्व) सुख का बढ़ानेवाला है। इस यज्ञ का (मा) मत (ह्वाः) त्याग कर। तथा (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञ की रक्षा करनेवाला यजमान भी उसको (मा) न (ह्वार्षीत्) त्यागे।

धात्वर्थ के अभिप्राय से यज्ञ शब्द का अर्थ तीन प्रकार का होता है[1] अर्थात् एक जो इस लोक और परलोक के सुख के लिये विद्या, ज्ञान और धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े बड़े विद्वान् हैं, उनका सत्कार करना। दूसरा अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना और नित्य विद्वानों का समागम तीसरा शुभगुण विद्या सुख धर्म और सत्यका नित्य दान करना है ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग अपनी विद्या और उत्तम क्रिया से जिस यज्ञ का सेवन करते हैं, उससे पवित्रता का प्रकाश, पृथिवी का राज्य, वायुरूपी प्राण के तुल्य राजनीति, प्रताप, सब की रक्षा, इस लोक और परलोक में सुख की वृद्धि, परस्पर कोमलता[2] से वर्त्तना और कुटिलता का त्याग इत्यादि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को परोपकार तथा अपने सुख के लिये विद्या और पुरुषार्थ के साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान नित्य करना चाहिये ॥ २ ॥

वसोः पवित्रमित्यस्य ऋषिः स एव। सविता देवता। भुरिग्जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते —

फिर उक्त यज्ञ कैसा सुख करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ ३ ॥

---

१. इसी प्रकार जहाँ जहाँ मन्त्रों में यज्ञ शब्द आवे, वहाँ वहाँ तीनों प्रकार के अर्थों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इसीलिए आचार्य ने आरम्भ में ही यज्ञ शब्द के तीनों अर्थ दर्शा दिए।

२. अर्थात् सरलता से।

वसोः । पवित्रम् । असि । शतधारमिति शतऽधारम् । वसोः । पवित्रम् । असि । सहस्रधारमिति सहस्रऽधारम् ॥ देवः । त्वा । सविता । पुनातु । वसोः । पवित्रेण । शतधारेणेति शतऽधारेण । सुप्वेति सुऽप्वा । काम् । अधुक्षः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(वसोः) वसुर्यज्ञः । (पवित्रम्) शुद्धिकारकं कर्म । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (शतधारम्) शतं बहुविधमसंख्यातं विश्वं धरतीति तम् । शतमिति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३ । १) । (वसोः) वसुर्यज्ञः । (पवित्रम्) शुद्धिनिमित्तम् । (असि) अस्ति । (सहस्रधारम्) सहस्रं[1] बहुविधं ब्रह्माण्डं धरतीति तं यज्ञम् । सहस्रमिति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३ । १) । (देवः) स्वयं-प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः । (त्वा) तं यज्ञम् । (सविता) सर्वेषां वसूनामग्निपृथिव्यादीनां त्रयस्त्रिंशतो[2] देवानां प्रसविता । सविता वै देवानां प्रसविता (श० १ । १ । २ । १७) । (पुनातु) पवित्रीकरोतु । (वसोः) पूर्वोक्तो यज्ञः । (पवित्रेण) पवित्रतानिमित्तेन वेदविज्ञानकर्मणा । (शतधारेण) बहुविद्याधारकेण परमेश्वरेण वेदेन वा । (सुप्वा) सुष्ठुतया पुनाति पवित्रताहेतुर्वा तेन । (काम्) कां कां वाचम् । (अधुक्षः) दोग्धुमिच्छसीति प्रश्नः । अत्र लडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ७ । १ । १२–१६ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः—यो वसोर्वसुर्यज्ञः शतधारं पवित्रमसि शतधा शुद्धिकारकोऽस्ति तथा वसोः[3] सहस्रधारं पवित्रमसि सुखदोऽस्ति त्वा तं सविता देवः पुनातु । हे जगदीश्वर ! भवान् [वसोः वसुर्यज्ञः][4] तेनास्माभिरनुष्ठितेन पवित्रेण शतधारेण सुप्वा यज्ञेनास्मान् पुनातु । हे विद्वन् ! जिज्ञासो ! वा त्वं कां वाचमधुक्षः प्रपूरयसि वा प्रपूरयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥

---

१. हस्तलेखेषूपलभ्यमानमपि 'सहस्रं' पदं पूर्वमुद्रणे प्रमादात् त्यक्तम् ।

२. अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रश्च प्रजापतिश्च । एषां व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां 'वेदविषयविचारप्रकरणे' ग्रन्थकृता विस्तरेण कृतेति नेह प्रपञ्च्यते । इह पदार्थे 'वस्वादीनामग्नि पृथिव्यादीनां' पाठो युक्तः स्यात् ।

३. 'तथा वसोः' इति पदे कोशेषूपलभ्यमाने अपि मुद्रणे प्रमादान्नष्टे ।

४. अयं कोष्ठान्तर्गतपाठो लेखकप्रमादान्नष्ट इति प्रतिभाति । यतोऽस्य भाषायामनुवादो दृश्यते ।

भावार्थः—ये मनुष्याः पूर्वोक्तं यज्ञमनुष्ठाय पवित्रा भवन्ति, तान् जगदीश्वरो बहुविधेन विज्ञानेन सह वर्त्तमानान् कृत्वैतेभ्यो बहुविधं सुखं ददाति, परन्तु ये क्रियावन्तः परोपकारिणः सन्ति ते सुखमाप्नुवन्ति, नेतरेऽलसाः । अत्र कामधुक्ष इति प्रश्नोऽस्ति ॥ ३ ॥

पदार्थः—जो (वसोः) यज्ञ (शतधारम्) असंख्यात संसार का धारण करने और (पवित्रम्) शुद्धि करनेवाला कर्म (असि) है, तथा जो (वसोः) यज्ञ (सहस्रधारम्) अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड को धारण करने और (पवित्रम्) शुद्धि का निमित्त सुख देनेवाला [(असि)] है, (त्वा) उस यज्ञ को (देवः) स्वयंप्रकाशस्वरूप (सविता) वसु आदि तेंतीस देवों[1] का उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर (पुनातु) पवित्र करे । हे जगदीश्वर ! आप हम लोगों से सेवित जो (वसोः) यज्ञ है, उस (पवित्रेण) शुद्धि के निमित्त वेद के विज्ञान, (शतधारेण) बहुत विद्याओं का धारण करनेवाला वेद और (सुप्वा) अच्छी प्रकार पवित्र करनेवाले यज्ञ से हम लोगों को पवित्र कीजिये । हे विद्वान् पुरुष ! वा जानने की इच्छा करनेवाले मनुष्य ! तू (काम्) वेद की श्रेष्ठ वाणियों में से कौन कौन[2] वाणी के अभिप्राय को (अधुक्षः) अपने मन में पूर्ण करना अर्थात् जानना चाहता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य पूर्वोक्त यज्ञ का सेवन करके पवित्र होते हैं, उन्हीं को जगदीश्वर बहुतसा ज्ञान देकर अनेक प्रकार के सुख देता है । परन्तु जो लोग ऐसी क्रियाओं के करने वाले वा परोपकारी होते हैं, वे ही सुख को प्राप्त होते हैं, आलस्य करने वाले कभी नहीं । इस मन्त्र में "काम् अधुक्षः" इन पदों से वाणी के विषय में प्रश्न है ॥ ३ ॥

सा विश्वायुरित्यस्य ऋषिः स एव । विष्णुर्देवता ।

अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ त्रिविधस्य प्रश्नस्य त्रीण्युत्तराण्युपदिश्यन्ते —

जो पूर्वोक्त मन्त्र में तीन प्रश्न कहे हैं, उनके उत्तर अगले मन्त्र में क्रम से प्रकाशित किये हैं ।

---

१. आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये तेंतीस देव है । आठ वसु—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र । ग्यारह रुद्र—दश प्राण और एक आत्मा । बारह आदित्य—बारह मास । इन्द्र = विद्युत् । प्रजापति = यज्ञ । द्र० शत० १४ । ६ । ३।७-१० ॥

२. अर्थात् किस किस । यह ग्रन्थकार की भाषा शैली का उदाहरण है ।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः । इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेना तनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष ॥ ४ ॥

सा । विश्वायुरिति विश्वऽआयुः । सा । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । सा । विश्वधाया इति विश्वऽधायाः ॥ इन्द्रस्य । त्वा । भागम् । सोमेन । आ । तनच्मि । विष्णो इति विष्णो । हव्यम् । रक्ष ॥ ४ ॥

पदार्थः—(सा) वाक् । वाग् वै यज्ञः (श० १ । १ । ४ । ११) । (विश्वायुः) पूर्णमायुर्यस्यां सा ग्रहीतव्या । (सा) शिल्पविद्यासंपादिका । (विश्वकर्मा) विश्वं संपूर्णं क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा । (सा) संपूर्णविद्याप्रकाशिका । (विश्वधायाः) या विश्वं सर्वं जगद्विद्यागुणैः सह दधाति सा । विश्वोपपदे डुधाञ् धातोरसुन्प्रत्ययः बाहुलकाण्णिच्च । (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य यज्ञस्य वा । (त्वा) तम् । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (भागम्) भजनीयं शुभगुणभाजनं यज्ञम् । (सोमेन) शिल्पविद्यया संपादितेन रसेनानन्देन वा । (आ) समन्तात् । (तनच्मि) संकोचयामि, दृढीकरोमि । (विष्णो) वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं विश्वम्, तत्संबुद्धौ, परमेश्वर ! (हव्यम्) पूर्वोक्तयज्ञसंबन्धि दातुं ग्रहीतुं योग्यं द्रव्यं विज्ञानं वा (रक्ष) पालय ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ७ । १ । १७–२१ व्याख्यातः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे विष्णो व्यापकेश्वर ! भवता या वाग्धार्य्यते सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया अस्ति । तया त्रिविधया गृहीतयैवाहं यमिन्द्रस्य भागं यज्ञं सोमेनातनच्मि [त्वा] तं हव्यं यज्ञं त्वं सततं रक्ष ॥ ४ ॥

भावार्थः—त्रिविधा वाग्भवति । या ब्रह्मचर्य्याश्रमे पूर्णविद्यापठनाय पूर्णायुःकरणाय च सेव्यते सा प्रथमा । या गृहाश्रमेऽनेकक्रिययोद्योगसुखप्रापकफला विस्तीर्य्यते सा द्वितीया । या च सर्वमनुष्यैः सर्वमनुष्येभ्यः शरीरात्मसुखवर्धनायेश्वरादिपदार्थविज्ञानप्रकाशिका वानप्रस्थसंन्यासाश्रमे खलूपदिश्यते सा तृतीया । न चैनया विना कस्यापि सर्वं सुखं भवितुमर्हति । अनयैव मनुष्यैः पूर्वोक्तो यज्ञोऽनुष्ठातव्यः, व्यापकेश्वरः स्तोतव्यः, प्रार्थनीय उपासनीयश्च भवति । अनुष्ठितोऽयं यज्ञो जगति रक्षाहेतुः, प्रेम्णा सत्यभावेन प्रार्थितश्चेश्वरस्तान् सर्वदा

रक्षति। परन्तु ये क्रियाकुशला धार्मिकाः परोपकारिणो जनाः सन्ति त एव[1] ईश्वरं धर्मं च विज्ञाय सम्यक् क्रियासाधनैरैहिकं पारत्रिकं च सुखं प्राप्नुवन्ति, नेतरे ।। ४ ।।

पदार्थः—हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! आप जिस वाणी का धारण करते हैं (सा) वह (विश्वायुः) पूर्ण आयु की देनेवाली, (सा) वह (विश्वकर्मा) जिससे कि संपूर्ण क्रियाकाण्ड सिद्ध होता है और (सा) वह (विश्वधायाः) सब जगत् को विद्या और गुणों से धारण करनेवाली है। पूर्व मन्त्र में जो प्रश्न है, उसके उत्तर में यही तीन प्रकार की वाणी ग्रहण करने योग्य है। इसी से मैं (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (भागम्) सेवा करने योग्य यज्ञ को (सोमेन) विद्या से सिद्ध किये रस अथवा आनन्द से (आ तनच्मि) अपने हृदय में दृढ़ करता हूं, तथा हे परमेश्वर ! [(त्वा) उस] (हव्यम्) पूर्वोक्त यज्ञ संबन्धी देने लेने योग्य द्रव्य वा विज्ञान की (रक्ष) निरन्तर रक्षा कीजिये ।। ४ ।।

भावार्थः—तीन प्रकार की वाणी होती है अर्थात् प्रथम वह जो कि ब्रह्मचर्य में विद्या पढ़ने वा पूर्ण आयु होने के लिये सेवन की जाती है। दूसरी वह जो गृहाश्रम में अनेक क्रिया वा उद्योगों से सुखों की देने वाली विस्तार से प्रकट की जाती है, और तीसरी वह जो इस संसार में सब मनुष्यों के शरीर और आत्मा के सुख की वृद्धि वा ईश्वर आदि पदार्थों के विज्ञान को देनेवाली वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में विद्वानों से उपदेश की जाती है। इस प्रकार की वाणी के विना किसी को सब सुख नहीं हो सकते। क्योंकि इसी से पूर्वोक्त यज्ञ तथा व्यापक ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना योग्य है। ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो नियम से किया हुआ यज्ञ संसार में रक्षा का हेतु और प्रेम सत्यभाव से प्रार्थना को प्राप्त हुआ ईश्वर विद्वानों की सर्वदा रक्षा करता है, वही सब का अध्यक्ष है। परन्तु जो क्रिया में कुशल धार्मिक परोपकारी मनुष्य हैं, वे ही ईश्वर और धर्म को जानकर मोक्ष और सम्यक् क्रियासाधनों से इस लोक और परलोक के सुख को प्राप्त होते हैं ।। ४ ।।

अग्ने व्रतपत इत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। आर्ची त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ।।

किं च तद्वाचो व्रतमित्युपदिश्यते —

उक्त वाणी का व्रत क्या है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

---

१. 'एव' पदं क-ख कोशयोरुपलभ्यते।

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्य॒ताम्। इ॒दम॒हमनृ॑तात् स॒त्यमुपै॑मि ॥ ५ ॥

अग्ने॑। व्र॒त॒प॒त॒ इति॑ व्रतऽपते। व्र॒तम्। च॒रि॒ष्या॒मि॒। तत्। श॒के॒य॒म्। तत्। मे॒। रा॒ध्य॒ता॒म् ॥ इ॒दम्। अ॒हम्। अनृ॑तात्। स॒त्यम्। उप॑। ए॒मि॒ ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सत्योपदेशकेश्वर ! (व्रतपते) व्रतानां सत्यभाषणादीनां पतिः पालकः, तत्संबुद्धौ। (व्रतम्) सत्यभाषणं सत्यकरणं सत्यमानं च। (चरिष्यामि) अनुष्ठास्यामि। (तत्) व्रतमनुष्ठातुम्। (शकेयम्) यथा समर्थो भवेयम्। (तत्) तस्यानुष्ठानं पूर्तिश्च। (मे) मम। (राध्यताम्) संसेध्यताम्[1]। (इदम्) प्रत्यक्षमाचरितुं सत्यं व्रतम्। (अहम्) धर्मादिपदार्थचतुष्टयं चिकीर्षुर्मनुष्यः। (अनृतात्) न विद्यते ऋतं यथार्थमाचरणं यस्मिन्, तस्मान्मिथ्याभाषणान्मिथ्याकरणान्मिथ्यामानात् पृथग्भूत्वा। (सत्यम्) यद्वेदविद्यया, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः, सृष्टिक्रमेण, विदुषां संगेन, सुविचारेणात्मशुद्ध्या वा निर्भ्रमं, सर्वहितं, तत्त्वनिष्ठं, सत्प्रभवं, सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत्। सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा (निरु० ३। १३)। (उप) क्रियार्थे। (एमि) ज्ञातुं प्राप्तुमनुष्ठातुं प्राप्नोमि ॥ अयं मन्त्रः श० १। १। १। १–६ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे[2] व्रतपते अग्ने सत्यधर्मोपदेशकेश्वर ! अहं यदिदमनृतात् पृथग्वर्त्तमानं सत्यं व्रतमाचरिष्यामि, यदुपैमि प्राप्नोमि तदनुष्ठातुं शकेयम्,

---

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

२. पूर्वमुद्रिते त्वेवमन्वयः—हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मोपदेशकेश्वर ! अहं यदिदमनृतात् पृथग्वर्तमानं सत्यं व्रतमाचरिष्यामि तन्मे ममभवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यताम्। यदुपैमि प्राप्नोमि यच्चानुष्ठातुं शकेयं तदपि सर्वं राध्यतां संसेध्यताम् ॥ ५ ॥

ख-हस्तलेखे त्वित्थं पाठो वर्तते—हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मेश्वर यदिदमनृतात् पृथग्वर्तमानं सत्यं व्रतमाचरिष्यामि [2]तन्मे भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यताम्[2] [1]यदुपैमि यच्चानुष्ठातुं शकेयम्[1] तदपि सर्वं राध्यताम्।

अत्रेदमवधेयम्—ख-हस्तलेखे द्वयोर्वाक्ययोः स्थानपरिवर्तनविवक्षया ग्रन्थकर्त्रा संशोधनकाले तयोर्वाक्ययोरुपरि २-२, १-१ इत्येवं क्रमभेदनिदर्शिका

तन्मे मम भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यताम्[1] ॥ ५ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण सर्वमनुष्यैरनुष्ठेयोऽयं धर्म उपदिश्यते। यो न्यायः,[2] पक्षपातरहितः, सुपरीक्षितः, सत्यलक्षणान्वितः, सर्वहिताय वर्त्तमान, ऐहिकपारमार्थिकसुखहेतुरस्ति स एव सर्वमनुष्यैः सदाऽऽचरणीयः। यश्चैतस्माद्विरुद्धो ह्यधर्मः, स नैव केनापि कदाचिदनुष्ठेयः। एवं हि सर्वैः प्रतिज्ञा कार्य्या—हे परमेश्वर! वयं वेदेषु भवदुपदिष्टमिमं सत्यधर्ममाचरितुमिच्छामः। येयमस्माकमिच्छा सा भवत्कृपया सम्यक् सिध्येत्। यतो वयमर्थकाममोक्षफलानि प्राप्तुं शक्नुयाम। यथा चाधर्मं सर्वथा त्यक्त्वाऽनर्थकुकामबन्धदुःखफलानि पापानि त्यक्तुं त्याजयितुं च समर्था भवेम। यथा भवान् सत्यव्रतपालकत्वाद् व्रतपतिर्वर्त्तते, तथैव वयमपि भवत्कृपया स्वपुरुषार्थेन यथाशक्ति सत्यव्रतपालका भवेम। एवं सदैव धर्मं चिकीर्षवः, सत्क्रियावन्तो भूत्वा सर्वसुखोपगताः, सर्वप्राणिनां सुखकारकाश्च भवेमेति सर्वैः सदैवेष्टितव्यम्[3] ॥ शतपथब्राह्मणेऽस्य मन्त्रस्य व्याख्यायामुक्तम्—मनुष्याणां द्विविधमेवाचरणं सत्यमनृतं च। तत्र ये वाङ्मनःशरीरैः सत्यमेवाचरन्ति, ते देवाः। ये चैवानृतमाचरन्ति, ते मनुष्या अर्थादसुरराक्षसाः सन्तीति वेद्यम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे (व्रतपते) सत्य भाषण आदि धर्मों के पालक और (अग्ने) सत्य उपदेश करनेवाले परमेश्वर! मैं (इदम्) इस (अनृतात्) झूठ से अलग (सत्यम्) वेदविद्या, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, सृष्टिक्रम, विद्वानों का संग, श्रेष्ठ विचार तथा आत्मा की शुद्धि आदि प्रकारों से जो निर्भ्रम, सर्वहित, तत्त्व अर्थात् सिद्धान्त

संख्या निर्दिष्टा। तस्याभिप्रायमविदित्वा मूढेन प्रतिलिपिकर्त्रा स पाठः गकोशे तथैव प्रतिलिपिकृतः, क्रमभेदनिदर्शिका संख्या च न प्रत्ता। एवमेव 'तदपि सर्वं राध्यतां संसेध्यताम्' इत्यंशो ग्रन्थकर्त्रा स्वकोशे मसिना खण्डितोऽपि पुनर्लिखितः। आचार्यपादैः कार्यबाहुल्याद् अन्येषु विश्वस्य च संस्कृत भागोऽपि पुनर्नावलोकितः। अत एव स यथापूर्वमयुक्त एव मुद्रितः।

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

२. न्याय्य इत्यर्थः। एतस्मिन्नर्थे 'अध्यायन्यायोद्याव' (अ० ३।३।१२२) इत्यनेनाधिकरणे निपातितो द्रष्टव्यः। करणे निपातितस्तु सामान्यार्थकः। शब्दसादृश्यादुभयार्थकोऽपि सकृदेव निपातितो मन्तव्यः।

३. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे मन्तव्यम्।

के प्रकाश करनेहारे प्रमाणों से सिद्ध हुआ, अच्छी प्रकार परीक्षा किया गया (व्रतम्) सत्य बोलना सत्य मानना और सत्य करना है, उस[1] सत्य व्रत का (आ चरिष्यामि) पालन करूंगा। जिसको मैं (उपैमि) नियम से ग्रहण करने वा जानने और उसकी प्राप्ति की इच्छा करता हूं, (तत्) उस सत्यव्रत के नियम करने को (शकेयम्) समर्थ होऊं। (तत् मे) मेरे उस व्रत को आप अपनी कृपा से (राध्यताम्) अच्छी प्रकार सिद्ध कीजिये ॥ ५ ॥

भावार्थ:—परमेश्वर ने सब मनुष्यों को नियम से सेवन करने योग्य धर्म का उपदेश किया है जो कि न्याययुक्त, परीक्षा किया हुआ, सत्य लक्षणों से प्रसिद्ध और सब का हितकारी तथा इस लोक अर्थात् संसारी और परलोक अर्थात् मोक्षसुख का हेतु है, यही सब को आचरण करने योग्य है। और उस से विरुद्ध जो कि अधर्म कहाता है, वह किसी को ग्रहण करने योग्य कभी नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वत्र उसी का त्याग करना है। इसी प्रकार हमको भी प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हे परमेश्वर ! हम लोग वेदों में आपके प्रकाशित किये सत्य धर्म का ही ग्रहण करें, तथा हे परमात्मन् ! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग उक्त सत्य धर्म का पालन करके अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को सुगमता से प्राप्त हो सकें। [और जिस प्रकार हम अधर्म को सर्वथा त्याग कर अनर्थ, बुरी कामनाओं, बन्धन तथा दुःख को उत्पन्न करने वाले पापों को छोड़ने और छुड़ाने में समर्थ हो सकें।] जैसे सत्यव्रत के पालने से आप व्रतपति हैं, वैसे ही हम लोग भी आपकी कृपा और अपने पुरुषार्थ से यथाशक्ति सत्यव्रत के पालनेवाले हों, तथा धर्म करने की इच्छा से अपने सत्कर्म के द्वारा सब सुखों को प्राप्त होकर सब प्राणियों को सुख पहुँचानेवाले हों, ऐसी इच्छा सब मनुष्यों को करनी चाहिये ॥ शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि मनुष्यों का आचरण दो प्रकार का होता है—एक सत्य और दूसरा झूठ का। अर्थात् जो पुरुष वाणी मन और शरीर से सत्य का आचरण करते हैं, वे देव कहाते और जो झूठ का आचरण करनेवाले हैं वे असुर राक्षस आदि नामों के अधिकारी होते हैं ॥ ५ ॥

कस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव। प्रजापतिर्देवता। आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

केन सत्यमाचरितुमसत्यं त्यक्तुमाज्ञा दत्तेत्युपदिश्यते—

किसने सत्य करने और असत्य छोड़ने की आज्ञा दी है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

---

१. यहां से आगे का पाठ शुद्ध संस्कृत अन्वय के अनुसार कर दिया है।

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति। तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥

कः। त्वा। युनक्ति। सः। त्वा। युनक्ति। कस्मै। त्वा। युनक्ति। तस्मै। त्वा। युनक्ति॥ कर्मणे। वाम्। वेषाय। वाम् ॥६॥

पदार्थः—(कः) को हि सुखस्वरूपः। (त्वा) क्रियानुष्ठातारं मनुष्यं पुरुषार्थे। (युनक्ति) नियुक्तं करोति। (सः) परमेश्वरः। (त्वा) विद्यादिशुभगुणानां ग्रहणे विद्यार्थिनं विद्वांसं वा। (युनक्ति) योजयति। अत्र सर्वत्रान्तर्गतो णयर्थः। (कस्मै[1]) प्रयोजनाय। (त्वा) त्वां सुखमिच्छुकम्। (युनक्ति) योजयति। (तस्मै) सत्यव्रताचरणाय यज्ञाय। (त्वा) धर्मं प्रचारयितुमुद्योगिनम्। (युनक्ति) योजयति। (कर्मणे) पूर्वोक्ताय यज्ञाय (वाम्) कर्त्ताकारयितारौ[2]। (वेषाय) सर्वशुभगुणविद्याव्याप्तये। (वाम्) अध्येत्रध्यापकौ॥ अयं मन्त्रः श० १।१।१।१३-२२; १।१।२।१ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य! कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति स एव वां कर्मणे नियोजयति। एवं च वां वेषायाऽऽज्ञापयति ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्र प्रश्नोत्तराभ्यामीश्वरो जीवेभ्य उपदिशति। कश्चित् कंचित्प्रति ब्रूते-को मां सत्यक्रियायां प्रवर्त्तयतीति, सोऽस्योत्तरं ब्रूयात्-ईश्वरः पुरुषार्थक्रियाकरणाय त्वामादिशतीति। एवं कश्चिद्विद्यार्थी विद्वांसं प्रति पृच्छेत्-को मदात्मन्यन्तर्यामिरूपतया सत्यं प्रकाशयतीति। स उत्तरं दद्यात्-सर्वव्यापको जगदीश्वर इति। कस्मै प्रयोजनायेति केनचित्पृच्छ्यते। सुखप्राप्तये परमेश्वरप्राप्तये चेत्युत्तरं ब्रूयात्। पुनः कस्मै प्रयोजनाय मां नियोजयतीति पृच्छ्यते। सत्यविद्याधर्मप्रचारायेत्युत्तरं ब्रूयात्। आवां किं करणायेश्वर उपदिशति? यज्ञानुष्ठानायेति परस्परमुत्तरं ब्रूयाताम्। पुनः स किमात्तय आज्ञापयतीति? सर्वविद्यासुखेषु व्याप्तये तत्प्रचाराय [च] इत्युत्तरं ब्रूयात्। मनुष्यैर्द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्त्तितव्यम्। एकमत्यन्तपुरुषार्थशरीरा-

---

१. पदमिदं कोशेषूपलभ्यते, पूर्वमुद्रणे प्रमादात् त्यक्तम्।

२. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

रोग्याभ्यां चक्रवर्तिराज्यश्रीप्राप्तिकरणम् । द्वितीयं सर्वा विद्याः सम्यक् पठित्वा तासां सर्वत्र प्रचारीकरणं चेति । नैव केनचिदपि कदाचित् पुरुषार्थं त्यक्त्वाऽऽलस्ये स्थातव्यमिति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(कः) कौन (त्वाम्) तुझ को अच्छी अच्छी क्रियाओं के सेवन करने के लिये (युनक्ति) आज्ञा देता है । (सः) सो जगदीश्वर (त्वा) तुम को विद्या आदिक शुभ गुणों के प्रकट करने के लिये विद्वान् वा विद्यार्थी होने को (युनक्ति) आज्ञा देता है । (कस्मै) वह किस किस प्रयोजन के लिये (त्वा) मुझ और तुझ को (युनक्ति) युक्त करता है । (तस्मै) पूर्वोक्त सत्यव्रत के आचरण रूप यज्ञ के लिये (त्वा) धर्म के प्रचार करने में उद्योगी को (युनक्ति) आज्ञा देता है । (सः) वही ईश्वर (कर्मणे) उक्त श्रेष्ठ कर्म करने के लिये (वाम्) कर्म करने और कराने वालों को नियुक्त करता है ! (वेषाय) शुभ गुण और विद्याओं में व्याप्ति के लिये (वाम्) विद्या पढ़ने और पढ़ाने वाले तुम लोगों को उपदेश करता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में प्रश्न और उत्तर से ईश्वर जीवों के लिये उपदेश करता है । जब कोई किसी से पूछे कि मुझे सत्य कर्मों में कौन प्रवृत्त करता है ? इसका उत्तर ऐसा दे कि प्रजापति अर्थात् परमेश्वर ही पुरुषार्थ और अच्छी अच्छी क्रियाओं के करने की तुम्हारे लिये वेद के द्वारा उपदेश की प्रेरणा करता है । इसी प्रकार कोई विद्यार्थी किसी विद्वान् से पूछे कि मेरे आत्मा में अन्तर्यामिरूप से सत्य का प्रकाश कौन करता है ? तो वह उत्तर देवे कि सर्वव्यापक जगदीश्वर । फिर वह पूछे कि वह हमको किस किस प्रयोजन के लिये उपदेश करता और आज्ञा देता है ? उसका उत्तर देवे कि सुख और सुखस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति [के लिये । यदि फिर पूछे कि किस प्रयोजन के लिये नियुक्त करता है ? इसका उत्तर देवे ।] सत्य विद्या और धर्म के प्रचार के लिये । मुझे और आप दोनों को कौन कौन काम करने के लिये वह ईश्वर उपदेश करता है ? इसका परस्पर उत्तर देवें कि यज्ञ करने के लिये । फिर वह कौन कौन पदार्थ की प्राप्ति के लिये आज्ञा देता है ? इसका उत्तर देवें कि सब विद्याओं की प्राप्ति और उनके प्रचार के लिये ॥ मनुष्यों को दो प्रयोजनों के लिये प्रवृत्त होना चाहिये अर्थात् एक तो अत्यन्त पुरुषार्थ और शरीर की आरोग्यता से चक्रवर्ती राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति करना और दूसरे सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़ के उनका प्रचार करना चाहिये । किसी मनुष्य को पुरुषार्थ को छोड़ के आलस्य में कभी नहीं रहना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रत्युष्टमित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । प्राजापत्या जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

सर्वैर्दुष्टगुणानां दुष्टमनुष्याणां च निषेधः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते—

सब मनुष्यों को उचित है कि दुष्ट गुण और दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्यों का निषेध करें, इस बात का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम् । रक्षः । प्रत्युष्टा इति प्रतिऽउष्टाः । अरातयः । निष्टप्तम् । निस्तप्तमिति निःऽतप्तम् । रक्षः । निष्टप्ताः । निस्तप्ता इति निःऽतप्ताः । अरातयः ॥ उरु । अन्तरिक्षम् । अनु । एमि ॥ ७ ॥

पदार्थः—(प्रत्युष्टम्) यत्प्रतीतं च तद् उष्टं दग्धं च तत् । (रक्षः) रक्षः स्वभावो दुष्टो मनुष्यः । (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्षतया उष्टा दग्धा[1]स्ते । (अरातयः) अविद्यमाना रातिर्दानं येषु ते शत्रवः । (निष्टप्तम्) नितरां तप्तं सन्तापयुक्तं च कार्यम् । (रक्षः) स्वार्थी मनुष्यः । (निष्टप्ताः) पूर्ववत् । (अरातयः) कपटेन विद्यादानग्रहणरहिताः । (उरु) बहुविधं सुखं प्राप्तुं प्रापयितुं वा । उर्विति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३।१) । (अन्तरिक्षम्) सुखसाधनार्थमवकाशम् । (अन्वेमि) अनुगतं प्राप्नोमि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । २ । २—४ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—मया रक्षः प्रत्युष्टमरातयः प्रत्युष्टा रक्षो निष्टप्तमरातयो निष्टप्ताः पुरुषार्थेन सदैव कार्याः । एवं कृत्वान्तरिक्षमुरु बहुसुखं चान्वेमि ॥ ७ ॥

भावार्थः—इदमीश्वर आज्ञापयति-सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्त्वाऽन्येषामपि विद्याधर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च संपाद्य विद्याधर्मपुरुषार्थान्विताः सुखिनः सर्वे प्राणिनः सदा संपादनीयाः ॥ ७ ॥

पदार्थः—मुझ को चाहिये कि पुरुषार्थ के साथ (रक्षः) दुष्ट गुण और दुष्ट स्वभाववाले मनुष्य को (प्रत्युष्टम्) निश्चय करके निर्मूल करूं, तथा (अरातयः) जो राति अर्थात् दान आदि धर्म से रहित, दयाहीन दुष्ट शत्रु हैं,

---

१. 'दग्ध्यास्ते' इति पूर्वमुद्रणेऽपपाठः ।

उनको (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्ष निर्मूल, वा (रक्षः) दुष्टस्वभाव, दुष्टगुण, विद्याविरोधी, स्वार्थी मनुष्य (निष्टप्तम्) [अत्यन्त सन्ताप युक्त,] और (अरातयः) छलयुक्त होके विद्या के ग्रहण वा दान से रहित दुष्ट प्राणियों को (निष्टप्ताः) निरन्तर सन्तापयुक्त करूं। इस प्रकार करके (अन्तरिक्षम्) सुख के सिद्ध करने वाले उत्तम स्थान और (उरु) अपार सुख को (अन्वेमि) प्राप्त होऊं ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर विद्या और धर्म के उपदेश से औरों को भी दुष्टता आदि अधर्म के व्यवहारों से अलग करना चाहिये, तथा उनको बहु प्रकार का ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्य आदि प्राणियों को विद्या धर्म पुरुषार्थ और नाना प्रकार के सुखों से युक्त करना चाहिये ॥ ७ ॥

धूरसीत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। [निचृद्] अतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

अथ सर्वविद्याधारकेश्वरो विद्यासाधनीभूतो भौतिकोऽग्निश्चोपदिश्यते—

सब के धारण करनेवाले ईश्वर और पदार्थविद्या की सिद्धि हेतु भौतिक अग्नि का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

धूर॑सि॒ धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं यो॒ऽस्मान् धूर्व॑ति॒ तं धूर्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः। दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳ सस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं दे॒वहू॑तमम् ॥ ८ ॥

धूः। अ॒सि॒। धूर्व॑। धूर्व॑न्तम्। धूर्व॑। तम्। यः। अ॒स्मान्। धूर्व॑ति। तम्। धूर्व॒। यम्। व॒यम्। धूर्वा॑मः ॥ दे॒वाना॑म्। अ॒सि॒। वह्नि॑तम॒मिति॒ वह्नि॑ऽतमम्। सस्नि॑तम॒मिति॒ सस्नि॑ऽतमम्। पप्रि॑तम॒मिति॒ पप्रि॑ऽतमम्। जुष्ट॑तम॒मिति॒ जुष्ट॑ऽतमम्। दे॒वहू॑तम॒मिति॑ दे॒वहू॑ऽतमम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(धूः) सर्वदोषनाशकोऽन्धकारनाशको वा। (असि) अस्ति वा। अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते। (धूर्व) हिंसय, धूर्वति हिनस्ति वा। (धूर्वन्तम्) हिंसाशीलं प्राणिनम्। (धूर्व) हिंसय, हिनस्ति वा। (तम्) सर्वभूताभिद्रोग्धारम्। (यः) अस्मद्द्वेष्टा। (अस्मान्) धार्मिकान् सर्वेभ्यः सुखोपकर्तॄन्। (धूर्वति) हिनस्ति।

(तम्) दुष्टं दस्युं चोरं वा। (धूर्व) हिंसय, हिनस्ति वा। (यम्) पापिनम्। (वयम्) विद्वांसः सर्वमित्राः। (धूर्वामः) हिंसामः[1]। (देवानाम्) विदुषां, पृथिव्यादीनां वा। (असि) उत्पादको वर्त्तसे, प्रकाशको वर्त्तते वा। (वह्नितमम्) वहति प्रापयति यथायोग्यं सुखानि स वह्निः, सोऽतिशयितस्तम्। (सस्नितमम्) अतिशयेन शुद्धं शुद्धिकारकं च, तथा शुद्धिहेतुं भौतिकं वा। अथवा स्वव्याप्त्या सर्वजगद्वेष्टयितारमीश्वरं, शिल्पविद्याहेतुं व्यापनशीलं भौतिकं वा। ष्णा शौचे अथवा ष्णै वेष्टने इत्यस्य रूपम्। (पप्रितमम्) प्राति प्रपूरयति सर्वाभिर्विद्याभिरानन्दैश्च जनान् स्वव्याप्त्या जगद्वा मूर्त्तं वस्तु शिल्पविद्यासाध्याङ्गानि च यः, सोऽतिशयितस्तम्। (जुष्टतमम्) धार्मिकैर्भक्तजनैः शिल्पिभिश्च यो जुष्यते स जुष्टः, अतिशयेन जुष्टस्तम्। (देवहूतमम्) देवैर्विद्वद्भिः [हूयते] स्तूयते[2] शब्द्यते सोऽतिशयितस्तम्। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेत्यस्य रूपम्॥ अयं मन्त्र श० १। १। २। १०–१२ व्याख्यातः॥ ८॥

अन्वयः—हे परमेश्वर! यतस्त्वं धूरसि सर्वाभिरक्षकश्चासि तस्माद्वयमिष्टबुद्ध्या देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमं त्वां नित्यमुपास्महे। योऽस्मान् धूर्वति [तं धूर्व] यं च वयं धूर्वामस्तं त्वं धूर्व। यश्च सर्वद्रोही तमपि धूर्वन्तं सर्वहिंसकं सदैव धूर्व। इत्येकः।

हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो। त्वं यो भौतिकोऽग्निर्धूः सर्वपदार्थच्छेदकत्वाद्धिंसको[स्य]स्ति तं कलाकौशलेन यानेषु सम्प्रयोजनीयं देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतममग्निं वयं धूर्वामस्ताडयामः। योऽयुक्त्या संवितोऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वन्तमग्निं धूर्व। हे वीर! त्वं यो दुष्टशत्रुरस्मान् धूर्वति, तमप्याग्नेयास्त्रेण धूर्व, यश्च दस्युरस्ति तमपि धूर्व [इति द्वितीयः]॥ ८॥

भावार्थः—यो धातेश्वरः सर्वं जगद्धाति, पापिनो दुष्टान् जीवान् तत्कृतपापफलदानेन ताडयति, धार्मिकांश्च रक्षति, सर्वसुखप्रापक, आत्मशुद्धिकारकः, पूर्णविद्याप्रदाता, विद्वद्भिः स्तोतव्यः, प्रीत्येष्टबुद्ध्या च सेवनीयोऽस्ति। स एव सर्वैर्मनुष्यैर्भजनीयः। तथैव योऽग्निः सकलशिल्पविद्याक्रियासाधकतमः पृथिव्यादिपदार्थानां मध्ये प्रकाशक-

---

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

२. वस्तुतः 'हूयते' इत्यस्यैवापभ्रंशः 'स्तूयते' प्रतिभाति।

प्रापकतमतया श्रेष्ठोऽस्ति। यस्य प्रयोगेणाग्नेयास्त्रादिविद्यया शत्रूणां पराजयो भवति, स एव शिल्पिभिर्विद्यायुक्त्या होमयानक्रियासिध्यर्थं सम्प्रीत्या सेवनीयः ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! आप (धूः) सब दोषों के नाश और जगत् की रक्षा करने वाले (असि) हैं, इस कारण हम लोग इष्टबुद्धि से (देवानाम्) विद्वानों को विद्या, मोक्ष और सुख में (वह्नितमम्) यथायोग्य: पहुँचाने (सस्नितमम्) अतिशय करके शुद्ध करने (पप्रितमम्) सब विद्या और आनन्द से संसार को पूर्ण करने [अथवा अपनी व्याप्ति से जगत् को व्याप्त करने] (जुष्टतमम्) धार्मिक भक्तजनों के सेवा करने योग्य और (देवहूतमम्) विद्वानों से स्तुति करने योग्य आप की नित्य उपासना करते हैं। (यः) जो कोई द्वेषी, छली, कपटी, पापी, कामक्रोधादियुक्त मनुष्य (अस्मान्) धर्मात्मा और सब को सुख से युक्त करने वाले हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देता है [(तम्) उस सब प्राणियों से द्रोह करने वाले का (धूर्व) नाश कीजिये।] और (यम्) जिस पापीजन को (वयम्) हम लोग (धूर्वामः) दुःख देते हैं, (तम्) उसको आप (धूर्व) शिक्षा कीजिये तथा जो सब से द्रोह करने वा सब को [(धूर्वन्तम्)] दुःख देता है उस को भी आप सदैव (धूर्व) ताड़ना कीजिये। [यह इस मन्त्र का पहला अर्थ हुआ] ॥

हे शिल्पविद्या को जानने की इच्छा करने वाले मनुष्य ! तू जो भौतिक अग्नि (धूः) सब पदार्थों का छेदन और अन्धकार का नाश करने वाला (असि) है, तथा जो कला चलाने की चतुराई से यानों में [(देवानाम्)] विद्वानों को (वह्नितमम्) सुख पहुंचाने (सस्नितमम्) शुद्धि होने का हेतु (पप्रितमम्) शिल्पविद्या का मुख्य साधन (जुष्टतमम्) कारीगर लोग जिसका सेवन करते हैं, तथा जो (देवहूतमम्) विद्वानों को स्तुति करने योग्य अग्नि है, उस को (वयम्) हम लोग (धूर्वामः) ताड़ते हैं [अर्थात् यानों में प्रयुक्त करते हैं] और जिसका सेवन युक्ति से न किया जाय तो (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) पीड़ा करता है, (तम्) उस (धूर्वन्तम्) पीड़ा करने वाले अग्नि को (धूर्व) यानादिकों में युक्त कर, तथा हे वीर पुरुष ! तुम (यः) जो दुष्ट शत्रु (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देता है (तम्) उस को [भी आग्नेय अस्त्र से] (धूर्व) नष्ट कर, तथा जो कोई चोर आदि है, उस का भी (धूर्व) नाश कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो ईश्वर सब जगत् को धारण कर रहा है, वह पापी दुष्ट जीवों को उन के किये हुए पापों के अनुकूल दण्ड देकर दुःखयुक्त और धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम कर्मों के अनुसार फल देके उन की रक्षा करता है, वही सब सुखों की

प्राप्ति, आत्मा की शुद्धि कराने और पूर्ण विद्या का देने वाला, विद्वानों से स्तुति करने योग्य तथा प्रीति और इष्ट बुद्धि से सेवा करने योग्य है, दूसरा कोई नहीं। [उसकी ही सबको उपासना करनी चाहिये]। तथा यह प्रत्यक्ष भौतिक अग्नि भी संपूर्ण शिल्पविद्याओं की क्रियाओं को सिद्ध करने वाला तथा उनका मुख्य साधन और पृथिवी आदि पदार्थों में अपने प्रकाश अथवा उनकी प्राप्ति से श्रेष्ठ है, क्योंकि जिससे सिद्ध की हुई आग्नेय आदि उत्तम शस्त्रास्त्रविद्या से शत्रुओं का पराजय होता है, इससे यह भी विद्या की युक्तियों से होम और विमान आदि के सिद्ध करने के लिये प्रीति से सेवा करने के योग्य है ॥ ८ ॥

अह्रुतमसीत्यस्य ऋषिः स एव। विष्णुर्देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ यजमानभौतिकाग्निकृत्यमुपदिश्यते—

अब यजमान और भौतिक अग्नि के कर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्। विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥ ९ ॥

अह्रुतम्। असि। हविर्धानमिति हविःऽधानम्। दृꣳहस्व। मा। ह्वाः। मा। ते। यज्ञपतिरिति यज्ञऽपतिः। ह्वार्षीत् ॥ विष्णुः। त्वा। क्रमताम्। उरु। वाताय। अपहतमित्यपऽहतम्। रक्षः। यच्छन्ताम्। पञ्च ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अह्रुतम्) कुटिलतारहितम्। (असि) अस्ति। अत्र व्यत्ययः। (हविर्धानम्) हविषां धानं स्थित्यधिकरणम्। (दृंहस्व) वर्धयस्व, वर्धयति वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। (मा ह्वाः) मा त्यजेः। अत्र लिङर्थे लुङ्। (मा) क्रियार्थे निषेधवाची। (ते) तव। (यज्ञपतिः) पूर्वोक्तस्य यज्ञस्य पतिः पालकः। (ह्वार्षीत्) त्यजतु। अत्र लोडर्थे लुङ्। (विष्णुः) व्यापनशीलः सूर्यः। (त्वा) तद्धोतव्यं द्रव्यम्। (क्रमताम्) चालयति। अत्र लडर्थे लोट्। (उरु) बहु। उर्विति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३। १)। (वाताय) वायोः शुद्धये सुखवृद्धये

वा । (अपहतम्) विनाशितम् । (रक्षः) दुर्गन्धादिदुःखजालम्[1] । (यच्छन्ताम्) निगृह्णन्तु । (पञ्च) पञ्चभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिः । उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि (वैशे० १ । ७) । अत्र सुपां सुलुग् [अ० ७ । १ । ३६] इति भिसो लुक् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । २ । १२—१६ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे ऋत्विक् ! त्वं यदग्निना दृंहितमह्रुतं हविर्धानमस्त्यस्ति तद् दृंहस्व, किन्तु तत्कदाचिन्मा ह्वार्मा त्यजेरिदं ते तव यज्ञपतिर्दृंहतां मा ह्वार्षीन्मा त्यजतु । एवं भवन्तः सर्वे मनुष्याः पञ्च पञ्चभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिर्यदग्नौ हूयते तन्नियच्छन्तां निगृह्णन्तु । यद् द्रव्यं विष्णुर्व्यापनशीलः सूर्योऽपहतं रक्षो यथा स्यात्तथोरु वाताय [क्रमताम्] क्रमयति चालयति । त्वा तत्सर्वं मनुष्या अग्नौ होमद्वारा यच्छन्तां निगृह्णन्तु ॥ ९ ॥

भावार्थः—यदा मनुष्याः परस्परं प्रीत्या कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञानक्रियाभ्यां ज्ञात्वाऽनुतिष्ठन्ति, तदा महतीं शिल्पविद्यां संपाद्य शत्रुदारिद्र्यनिवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्तीति ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे ऋत्विग् मनुष्य ! तुम जो अग्नि से बढ़ा हुआ (अह्रुतम्) कुटिलतारहित (हविर्धानम्) होम के योग्य पदार्थों का धारण करना है, उसको (दृंहस्व) बढ़ाओ, किन्तु किसी समय में (मा ह्वाः) उसका त्याग मत करो, तथा यह (ते) तुम्हारा (यज्ञपतिः) यजमान भी उस यज्ञ के अनुष्ठान को [(मा ह्वार्षीत्)] न छोड़े । इस प्रकार तुम लोग (पञ्च) एक तो ऊपर को चेष्टा होना, दूसरा नीचे को, तीसरा चेष्टा से अपने अङ्गों को संकोचना, चौथा उनका फैलाना, पांचवां चलना फिरना आदि इन पांच प्रकार के कर्मों से हवन के योग्य जो द्रव्य हो उसको अग्नि में [नियम से धारण करो अर्थात्] हवन करो । वह जो हवन किया हुआ द्रव्य है, उसको (विष्णुः) जो व्यापनशील सूर्य है, वह (अपहतम् रक्षः) दुर्गन्धादि दोषों का नाश करता हुआ (उरु वाताय) अत्यन्त वायु की शुद्धि वा सुख की वृद्धि के लिये [ऊपर को] (क्रमताम्) चढ़ा देता है [(त्वा) उस सबको मनुष्य अग्नि में होम द्वारा (यच्छन्ताम्) नियम से धारण करें] ॥ ९ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य परस्पर प्रीति के साथ कुटिलता को छोड़कर शिक्षा देने वाले के शिष्य होके विशेष ज्ञान और क्रिया से भौतिक अग्नि की विद्या को

१. 'दुर्गन्धादिदोषजालम्' इति क-खकोशयोः पाठः । भाषानुवादोऽप्यस्यैव वर्तते ।

जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं, तभी शिल्पविद्या की सिद्धि के द्वारा सब शत्रु दारिद्र्य और दुःखों से छूटकर सब सुखों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विष्णु अर्थात् व्यापक परमेश्वर ने सब मनुष्यों के लिये आज्ञा दी है, जिसका पालन करना सब को उचित है ॥ ९ ॥

देवस्य त्वेत्यस्य ऋषिः स एव। सविता देवता। भुरिग्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

तस्य यज्ञफलस्य ग्रहणं केन कुर्वन्तीत्युपदिश्यते—

उस यज्ञ के फल का ग्रहण किस करके होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ १० ॥

देवस्य। त्वा। सवितुः। प्रसव इति प्रऽसवे। अश्विनोः। बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम्। पूष्णः। हस्ताभ्याम्॥ अग्नये। जुष्टम्। गृह्णामि। अग्नीषोमाभ्याम्। जुष्टम्। गृह्णामि॥ १०॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य सर्वसुखदातुरीश्वरस्य। (त्वा) तत्। (सवितुः) सविता वै देवानां प्रसविता (श० १।१।२।१७)। तस्य सर्वजगदुत्पादकस्य सकलैश्वर्यप्रदातुः। (प्रसवे) सवितृप्रसूतेऽस्मिन् जगति। (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोरध्वर्य्वोर्वा, सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके (निरु० १२। १)। (बाहुभ्याम्) बलवीर्य्याभ्याम्। वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू (श० ५। ४। १। १७)। (पूष्णः) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य। (हस्ताभ्याम्) ग्रहणविसर्जनाभ्याम्। (अग्नये) अग्निविद्यासंपादनाय। (जुष्टम्) विद्यां चिकीर्षुभिः सेवितं कर्म। (गृह्णामि) स्वीकरोमि। (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्निश्च सोमश्च, ताभ्यामग्निजलविद्याभ्याम्। (जुष्टम्) विद्वद्भिः प्रीतं फलम्। (गृह्णामि) पूर्ववत्॥ अयं मन्त्रः श० १। १। २। १७—१९ व्याख्यातः॥ १०॥

अन्वयः—यत्सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टमस्ति त्वा तत् कर्माहं गृह्णामि। एवं च यद्विद्वद्भिरग्नीषोमाभ्यां जुष्टं प्रीतं चारु फलमस्ति तदहं गृह्णामि॥ १०॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गत्या सम्यक् पुरुषार्थेनेश्वरेणोत्पादितायामस्यां सृष्टौ सकलविद्यासिद्धये सूर्यचन्द्राग्निजलादिपदार्थानां सकाशात् सर्वेषां वलवीर्यवृद्धये च सर्वा विद्याः संसेव्य प्रचारणीयाः। यथा जगदीश्वरेण सकलपदार्थानामुत्पादनधारणाभ्यां सर्वोपकारः कृतोऽस्ति, तथैवास्माभिरपि नित्यं प्रयतितव्यम् ॥ १० ॥

पदार्थः—मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्नकर्त्ता, सकल ऐश्वर्य्य के दाता तथा (देवस्य) संसार का प्रकाश करनेहारे और सब सुखदायक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस संसार में (अश्विनोः) सूर्य्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य्य से तथा (पूष्णः) पुष्टि करने वाले प्राण के (हस्ताभ्याम्) ग्रहण और त्याग से (अग्नये) अग्निविद्या के सिद्ध करने के लिये (जुष्टम्) विद्या पढ़ने वाले जिस कर्म की सेवा करते हैं, (त्वा) उसे (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं। इसी प्रकार (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और जल की विद्या करके (जुष्टम्) विद्वानों ने जिस कर्म को चाहा है उसके फल को (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों का समागम वा अच्छे प्रकार अपने पुरुषार्थ से परमेश्वर की उत्पन्न की हुई प्रत्यक्ष सृष्टि अर्थात् संसार में सकल विद्या की सिद्धि के लिये सूर्य चन्द्र अग्नि और जल आदि पदार्थों के सकाश[1] से सबके बल वीर्य की वृद्धि के अर्थ अनेक विद्याओं को पढ़ के उनका प्रचार करना चाहिये, अर्थात् जैसे जगदीश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति और उनकी धारणा से सबका उपकार किया है, वैसे ही हम लोगों को भी नित्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ १० ॥

भूताय त्वेति ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। स्वराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

यज्ञशालादिगृहाणि कीदृशानि रचनीयानीत्युपदिश्यते—

यज्ञशाला आदिक घर कैसे बनाने चाहियें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

---

१. अर्थात् 'पदार्थों के द्वारा'। पूर्व मुद्रित में 'के प्रकाश से' पाठ छपा है। ग कोश में तथा संस्कृत पाठ में 'सकाश' पद है, प्रकाश नहीं।

भूतायं त्वा नारांतये स्वरभिविख्येषं दृꣳहंन्तां दुर्याः पृथिव्यामुर्वꣳन्तरिक्षमन्वेमि । पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थेऽग्ने हव्यꣳ रक्ष ॥ ११ ॥

भूतायं । त्वा । न । अरांतये । स्वंः । अभिविख्येषमित्यंभिऽविख्येषम् । दृꣳहंन्ताम् । दुर्याः । पृथिव्याम् । उरु । अन्तरिक्षम् । अनुं । एमि ॥ पृथिव्याः । त्वा । नाभौ । सादयामि । अदित्याः । उपस्थ इत्युपऽस्थें । अग्नें । हव्यम् । रक्ष ॥ ११ ॥

पदार्थः—(भूताय) उत्पन्नानां प्राणिनां सुखाय । (त्वा) तं कृषिशिल्पादिसाधिनम् । (न) निषेधार्थे । (अरातये) रातिर्दानं न विद्यते यस्मिन्, तस्मै शत्रवे, बहुदानकरणार्थं दारिद्र्यविनाशाय वा । (स्वः) सुखमुदकं वा । स्वरिति सुखनामसु पठितम् (निघं० ३ । ६), उदकनामसु (१ । १२) च । (अभिविख्येषम्) अभितः सर्वतो विविधं पश्येयम् । अत्राभिव्योरुपपदे चक्षिङ् इत्यस्याशीर्लिङ्यार्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य ख्याञ् आदेशः । लिङ्याशिष्यङ् [अ० ३ । १ । ८६] इत्यङ् सार्वधातुकसंज्ञामाश्रित्य च या इत्यस्य इय् आदेशः[1] । सकारलोपाभाव इति[2] । (दृꣳहन्ताम्) दृंहन्तां वर्धयन्ताम् । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः ।

---

१. अतो येयः (७ । २ । ८०) इत्यनेन सूत्रेण, सार्वधातुक इति तत्रानुवर्तते ।

२. अत्र लेखकप्रमादात् पाठो व्यस्तः । लिङ्याशिष्यङ् (३ । १ । ८६) इत्यत्र 'सार्वधातुके' इत्यनुवर्तते । अतः स सार्वधातुकसंज्ञायामेव प्रवर्तते । सकारलोपाभावश्च आर्धधातुकसंज्ञायामेव भवति । लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (अ० ७ । २ । ७९) इत्यत्र सार्वधातुक इत्यस्यानुवृत्तेः । तेनैवं पाठेनात्र भाव्यम्—

"...ख्याञादेशः, सकारलोपाभावश्चेति । सार्वधातुकसंज्ञामाश्रित्य लिङ्याशिष्यङ् (३ । १ । ८६) इत्यङ्, या इत्यस्य इयादेशश्च ।" इति

'देष्म' (यजुः २ । २२) पदव्याख्यान इत्थं पदसिद्धिरुपलभ्यते—

"...आशीर्लिङ्युत्तमबहुवचने लिङ्याशिष्यङ् (अ० ३ । १ । ८६) इत्यङ्, छन्दस्युभयथा (अ० ३ । ४ । ११७) इति मस आर्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य सकारलोपाभावः । सार्वधातुकसंज्ञामाश्रित्य अतो येयः (अ० ७ । २ । ८०) इतीयादेशश्च' इति

उपस्थेषम् (यजुः २ । ८) पदव्याख्यानमपि द्रष्टव्यम् ।

(दुर्य्याः) गृहाणि । दुर्य्या इति गृहनामसु पठितम् (निघं० ३ । ४)। (पृथिव्याम्) विस्तृतायां भूमौ । (उरु) बहु । (अन्तरिक्षम्) अवकाशं सुखेन निवासार्थम् । (अनु) क्रियार्थे । (एमि) प्राप्नोमि । (पृथिव्याः) शुद्धाया विस्तृताया भूमेः । (त्वा) तं पूर्वोक्तं यज्ञम् । (नाभौ) मध्ये । (सादयामि) स्थापयामि । (अदित्याः) विज्ञानदीप्तेर्वेदवाचः सकाशादन्तरिक्षे मेघमण्डलस्य मध्ये, अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति मन्त्रप्रामाण्यात् (ऋ० १ । ८९ । १०) । अदितिरिति वाङ्नामसु पठितम् (निघं० १ । ११), पदनामसु (निघं० ४ । १) च । (उपस्थे) समीपे । (अग्ने) परमेश्वर ! (हव्यम्) दातुं ग्रहीतुं योग्यं क्रियाकौशलं सुखं वा । (रक्ष) पालय ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । २ । २०—२३ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः—अहं यं भूतायारातयेऽदानायादित्या उपस्थे यज्ञं सादयामि [त्वा] तं कदाचिन्न त्यजामि । हे विद्वांसो ! भवन्तः पृथिव्यां दुर्य्या दृंहन्तां वर्धयन्ताम् । अहं [त्वा] पृथिव्या नाभौ मध्ये येषु गृहेषु स्वरभिविख्येषं यस्यां[1] पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि । हे अग्ने जगदीश्वर ! त्वमस्माकं हव्यं सर्वदा रक्ष ॥ इत्येकोऽन्वयः ॥

हे अग्ने परमेश्वर ! अहं भूतायारातये पृथिव्या नाभौ ईश्वरत्वोपास्यत्वाभ्यां स्वः सुखरूपं [त्वा] त्वामभिविख्येषम् प्रकाशयामि, भवत्कृपयेमेऽस्माकं दुर्य्या गृहादयः पदार्थास्तत्रस्था मनुष्यादयः प्राणिनो दृंहन्तां नित्यं वर्धन्ताम् । अहं पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं व्यापकमदित्या उपस्थे त्वा त्वामन्वेमि नित्यं प्राप्नोमि न कदाचित्त्वा त्वां त्यजामि, त्वमिममस्माकं हव्यं सर्वदा रक्ष ॥ इति द्वितीयः ॥

अहं शिल्पविद्यजमानो भूतायारातये पृथिव्या नाभौ त्वा तम[ग्नेऽ]ग्निं होमार्थं शिल्पविद्यार्थं च सादयामि । यतोऽयमग्निरदित्या अन्तरिक्षस्योपस्थे हुतं हव्यं द्रव्यं [रक्ष] रक्षति, तस्मात्तं पृथिव्यां स्थापयित्वोर्वन्तरिक्षमन्वेमि । अत एव त्वा तं पृथिव्यां सादयामि । एवं कुर्वन्नहं स्वरभिविख्येषम् । तथैवेमे दुर्य्याः प्रासादास्तत्स्था मनुष्याश्च दृंहन्तां शुभगुणैर्वर्धन्तामिति मत्वा तमिममग्निं कदाचिन्नाहं त्यजामि ॥ इति तृतीयोऽन्वयः ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । ईश्वरेण मनुष्य आज्ञाप्यते—हे मनुष्य ! अहं त्वां सर्वेषां भूतानां सुखदानाय पृथिव्यां रक्षयामि, त्वया वेदविद्याधर्मानुष्ठानयुक्तेन पुरुषार्थेन सुन्दराणि सर्वर्तुसुखयुक्तानि सर्वतो

१. अत्र कदाचित् 'तस्यां' इति पाठः सम्यक् स्यात् ।

विशालावकाशसहितानि गृहाणि रचयित्वा सुखं प्रापणीयम्। तथा मत्सृष्टौ यावन्तः पदार्थाः सन्ति तेषां सम्यग्गुणान्वेषणं कृत्वाऽनेका विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य तासां रक्षणं प्रचारश्च सदैव संभावनीयः। मनुष्येणात्रैवं मन्तव्यं-सर्वत्राभिव्यापकं, सर्वसाक्षिणं, सर्वमित्रं, सर्व-सुखवर्धकम्, उपासितुमर्हं, सर्वशक्तिमन्तं, परमेश्वरं ज्ञात्वा सर्वोपकारो, विविधविद्यावृद्धिधर्मोपस्थानम्, अधर्माद् दूरे स्थितिः, क्रियाकौशल-संपादनं, यज्ञक्रियानुष्ठानं च कर्त्तव्यमिति॥

अत्र महीधरेण भ्रान्त्या अभिविख्येषमिति पदं ख्या प्रकथने इत्यस्य दर्शनार्थे गृहीतं तत् धात्वर्थादेव विरुद्धम्॥ ११॥

पदार्थः—मैं जिस यज्ञ को (भूताय) प्राणियों के सुख तथा (अरातये) दारिद्र्य आदि दोषों के नाश के लिये (अदित्या) वेदवाणी वा विज्ञानप्रकाश के (उपस्थे) गुणों में (सादयामि) स्थापना करता हूं और (त्वा) उसको कभी (न) नहीं छोड़ता हूँ। हे विद्वान् लोगो! तुम को (पृथिव्याम्) विस्तृत भूमि में (दुर्य्याः) अपने घर (दृंहन्ताम्) बढ़ाने चाहिये। मैं (पृथिव्याः नाभौ) पृथिवी के बीच में जिन गृहों में (स्वः) जल आदि सुख के पदार्थों को (अभिविख्येषम्) सब प्रकार से देखूं और (उर्वन्तरिक्षम्) उक्त पृथिवी में बहुतसा अवकाश देकर सुख से निवास करने योग्य स्थान रचकर [(त्वा) आपको] (अन्वेमि) प्राप्त होता हूं। हे (अग्ने) जगदीश्वर! आप (हव्यम्) हमारे देने लेने योग्य पदार्थों की (रक्ष) सर्वदा रक्षा कीजिये॥ यह प्रथम पक्ष हुआ॥

अब दूसरा पक्ष—हे अग्ने परमेश्वर! मैं (भूताय) संसारी जीवों के सुख तथा (अरातये) दरिद्रता का विनाश और दान आदि धर्म करने के लिये (पृथिव्याः) पृथिवी के (नाभौ) बीच में ईश्वर की सत्ता और उसकी उपासना से (स्वः) सुखस्वरूप (त्वा) आपको (अभिविख्येषम्) प्रकाश करता हूं, तथा आपकी कृपा से मेरे घर आदि पदार्थ और उनमें रहनेवाले मनुष्य आदि प्राणी (दृंहन्ताम्) वृद्धि को प्राप्त हों, और मैं (पृथिव्याम्) विस्तृत भूमि में (उरु) बहुत से (अन्तरिक्षम्) अवकाशयुक्त स्थान को निवास के लिये [बनाकर] (अदित्या उपस्थे) सर्वत्र व्यापक आपके समीप सदा (अन्वेमि) प्राप्त होता हूं। कदाचित् (त्वा) आपका त्याग (न) नहीं करता हूं। हे जगदीश्वर! आप मेरे (हव्यम्) अर्थात् उत्तम पदार्थों की सर्वदा (रक्ष) रक्षा कीजिये॥ यह दूसरा पक्ष हुआ॥

---

१. चक्षिङो यः ख्याञादेशः स भिन्नः प्रकथनार्थात् ख्याधातोः।

तथा तीसरा और भी कहते हैं—मैं शिल्पविद्या का जानने वाला यज्ञ को करता हुआ (भूताय) सांसारिक प्राणियों के सुख और (अरातये) दरिद्रता आदि दोषों के विनाश वा सुख से दान आदि धर्म करने की इच्छा से (पृथिव्या नाभौ) इस पृथिवी पर शिल्पविद्या की सिद्धि करने वाला जो (अग्ने) अग्नि है, उसको, हवन करने वा शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये (सादयामि) स्थापन करता हूं, क्योंकि उक्त शिल्पविद्या इसी से सिद्ध होती है। तथा जो (अदित्याः उपस्थे) अन्तरिक्ष में स्थित मेघमण्डल में [(हव्यम्)] होम द्वारा पहुँचे हुए उत्तम उत्तम पदार्थों की रक्षा करनेवाला है, इसीलिये इस अग्नि को (पृथिव्याम्) पृथिवी में स्थापन करके (उर्वन्तरिक्षम्) बड़े अवकाशयुक्त स्थान और विविध प्रकार के सुखों को [(अन्वेमि)] प्राप्त होता हूं, अथवा इसी प्रयोजन के लिये [(त्वा)] इस अग्नि को पृथिवी में स्थापन करता हूं। इस प्रकार श्रेष्ठ कर्मों को करता हुआ (स्वः) अनेक सुखों को (अभिविख्येषम्) देखूं, तथा मेरे (दुर्य्याः) घर और उनमें रहने वाले मनुष्य (दृंहन्ताम्) शुभ गुण और सुख से वृद्धि को प्राप्त हों, इसलिये इस भौतिक अग्नि का भी त्याग मैं कभी (न) नहीं करता हूँ॥ यह तीसरा अर्थ हुआ॥ ११॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है और ईश्वर ने आज्ञा दी है कि हे मनुष्य लोगो! मैं तुम्हारी रक्षा इसलिये करता हूं कि तुम लोग पृथिवी पर सब प्राणियों को सुख पहुंचाओ तथा तुम को वेदविद्या, धर्म के अनुष्ठान और अपने पुरुषार्थ द्वारा विविध प्रकार के सुख सदा बढ़ाने चाहियें। तुम सब ऋतुओं में सुख देने के योग्य बहुत अवकाशयुक्त सुन्दर घर बनाकर सर्वदा सुख सेवन करो और मेरी सृष्टि में जितने पदार्थ हैं, उनसे अच्छे अच्छे गुणों को खोजकर अथवा अनेक विद्याओं को प्रकट करते हुए फिर उक्त गुणों का संसार में अच्छे प्रकार प्रचार करते रहो कि जिससे सब प्राणियों को उत्तम सुख बढ़ता रहे। तथा तुम को चाहिये कि मुझको सब जगह व्याप्त, सब का साक्षी, सब का मित्र सब सुखों का बढ़ानेहारा, उपासना के योग्य और सर्वशक्तिमान् जानकर सबका उपकार, विविध विद्या की वृद्धि, धर्म में प्रवृत्ति, अधर्म से निवृत्ति, क्रियाकुशलता की सिद्धि और यज्ञक्रिया के अनुष्ठान आदि करने में सदा प्रवृत्त रहो॥

इस मन्त्र में महीधर ने भ्रान्ति से "अभिविख्येषम्" यह पद "ख्या प्रकथने" इस धातु का दर्शन अर्थ में माना है। यह धातु के अर्थ से ही विरुद्ध होने करके अशुद्ध है[1]॥ ११॥

---

१. 'चक्षिङ्' के स्थान पर जो 'ख्याञ्' आदेश होता है, वह 'ख्या प्रकथने' से भिन्न है, वह दर्शनार्थ है।

पवित्रे स्थ इत्यस्य ऋषिः स एव । अप्सवितारौ देवते । विराडार्ची त्रिष्टुप्[1] छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ [देवीराप इत्यस्य स्वराडार्ची जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥]

अग्नौ हुतं द्रव्यं मेघमण्डलं प्राप्य कीदृशं भवतीत्युपदिश्यते—

अग्नि में जिस द्रव्य का होम किया जाता है, वह मेघमण्डल को प्राप्त होके किस प्रकार का होकर, क्या गुण करता है, इस बात का उपदेश ईश्वर ने अगले मन्त्र में किया है ॥

पवित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ । देवी॑रापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र॑ इ॒मम॒द्य य॒ज्ञं न॑यता॒ग्रे य॒ज्ञप॑तिं सु॒धातुं॑ य॒ज्ञप॑तिं देव॒युव॑म् ॥ १२ ॥

प॒वित्रे॒ इति॑ प॒वित्रे॑ । स्थः॒ । वै॒ष्ण॒व्यौ॑ । स॒वि॒तुः । वः॒ । प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे । उत् । पु॒ना॒मि॒ । अच्छि॑द्रेण । प॒वित्रे॑ण । सूर्य॑स्य । र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिऽभिः॑ ॥ देवीः॑ । आपः॒ । अ॒ग्रे॒गु॒व॒ इत्य॑ग्रेऽगुवः । अ॒ग्रे॒पु॒व॒ इत्य॑ग्रेऽपुवः । अग्रे॑ । इ॒मम् । अ॒द्य । य॒ज्ञम् । न॒य॒त॒ ।

---

१. 'स्वराट् त्रिष्टुप्' इति पूर्वमुद्रितः पाठः । स्वराट् त्रिष्टुपि ४६ अक्षराणि भवन्ति । अत्र पूर्वभागे एकत्रिंशद्, अपरभागेऽष्टात्रिंशद् अक्षराणि सन्ति । एकोनसप्तत्यक्षराणां नैतच्छन्दो भवितुमर्हति । अतः पूर्वभागस्य विराडार्ची त्रिष्टुप् छन्दसा भाव्यम् । उत्तरभागस्य च लेखकप्रमादात् छन्दःस्वरयोः पाठो नष्ट इति प्रतीयते । तस्य 'स्वराडार्ची जगती छन्दः, निषादः स्वरः,' इति ध्येयम् ।

इदमत्र ज्ञेयम्—ग्रन्थकृता प्रतिमन्त्रमक्षराणि संख्याय संख्याप्य वा छन्दांसि निर्दिष्टानि । तत्र क्वचित् प्रमादकृताशुद्धाक्षरगणनामूलका अशुद्धयः समजनिषत । ता यथाशास्त्रमस्माभिः संशोधिताः । अत्र पूर्वभागस्य कदाचिद् त्रिंशदक्षराणि संख्यातानि स्युः, तदनुसारमस्य छन्दः 'स्वराट् [प्राजापत्या] त्रिष्टुप्' लेखनमभिप्रेतमासीदिति प्रतीयते ।

वैदिक छन्दसां परिचयायास्मदीयः 'वैदिकछन्दोमीमांसा'नामा ग्रन्थोऽवलोकनीयः ।

५

अग्रे॑ । य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् । सु॒धा॒तु॒मिति॑ । सु॒ऽधा॒तु॒म् । य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् । दे॒व॒युव॒मिति॑ दे॒व॒ऽयुव॑म् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(पवित्रे) पवित्रकरणहेतू प्राणापानगती । (स्थः) भवतः । अत्र व्यत्ययः । (वैष्णव्यौ) यज्ञस्येमौ व्याप्तिकर्त्तारौ पवनपावकौ, तौ । (सवितुः) जगदुत्पादकस्येश्वरस्य । (वः) ताः । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (प्रसवे) उत्पन्नेऽस्मिन् जगति । (उद्) धात्वर्थे । उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह (निरु० १ । ३) । (पुनामि) पवित्रीकरोमि । (अच्छिद्रेण) छिद्ररहितैः[१] । (पवित्रेण) शुद्धिकरणहेतुभिः[१] । (सूर्यस्य) प्रत्यक्षलोकस्य । (रश्मिभिः) किरणैः । (देवीः) दिव्यगुणयुक्ताः । अत्र सुपां सुलुग् [अ० ७ । १ । ३९] इति पूर्वसवर्णादेशः । (आपः) जलानि । (अग्रेगुवः) अग्रे समुद्रेऽन्तरिक्षे गच्छन्तीति ताः । (अग्रेपुवः) प्रथमां पृथिवीस्थसोमौषधिं[२] सेविकाः । (अग्रे) पुरःसरत्वे क्रियासंबन्धे । (इमम्) प्रत्यक्षम् । (अद्य) अस्मिन्नहनि । (यज्ञम्) पूर्वोक्तम् । (नयत) प्रापयत । (अग्रे) । (यज्ञपतिम्) यज्ञस्यानुष्ठातारं स्वामिनम् । (सुधातुम्) शोभना धातवः शरीरस्था मन-आदयः सुवर्णादयो वा यस्य तम् । (यज्ञपतिम्) यज्ञस्य कामयितारम् । (देवयुवम्) देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा यौति[३] प्राप्नोति प्रापयतीति वा, तम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । ३ । ६—७ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो ! यथा सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवेऽस्मिन् संसारेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवनपावकौ स्थो भवतः । यथा चैतैरग्रेगुवोऽग्रेपुवो [वो] देवीरापः पवित्रा भवेयुस्तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ [नयत] प्रापयत, तथैवाहमद्येमं यज्ञमग्रे नीत्वाऽग्रे सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवं यज्ञपतिं चोत्पुनामि ॥ १२ ॥

---

१. जातावेकवचनं मन्त्रे । तस्य रश्मिभिः सह सम्बन्धात् बहुवचने न निर्देशः कृतः ।

२. अत्र कथंचित् पाठो भ्रष्ट इति प्रतीयते । अत्र 'प्रथमं पृथिवीस्थसोमौषधेः सेविकाः' इति युक्तः पाठः स्यात् ।

३. अत्र 'याति' इति युक्तः पाठः । तस्यैव 'प्राप्नोति प्रापयतीति' अर्थः । यौतेर्नायमर्थः कथंचित् सम्भवति । अपि च यौते रूपे तुक्प्राप्तिरपि दुर्निवारा । देवयुशब्दो 'मृगय्वादयश्च' (उ० १ । ३७) इत्युणादिसूत्रेण साधनीयः ।

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। ये पदार्थाः संयोगेन विकारं प्राप्नुवन्ति ते अग्निना छिन्नाः पृथक् पृथक् परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति ते शुद्धा[श्च] भवन्ति। यथा यज्ञानुष्ठानेन वायुजलानामुत्तमे शुद्धिपुष्टी जायेते, न तथाऽन्येन भवितुमर्हतः। तस्माद्धोमक्रियाशुद्धैर्वाय्वग्निजलादिभिः शिल्पविद्यया यानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्युः कारयेयुश्च। या आपोऽस्मात्स्थानादुत्थाय समुद्रमन्तरिक्षं गच्छन्ति ततः पुनः पृथिव्यादिपदार्थानागच्छन्ति, ताः प्रथमाः संख्यायन्ते। या मेघस्थास्ता द्वितीया इति॥ शतपथब्राह्मणे मेघस्य=वृत्रस्य सूर्यलोकस्य च युद्धाख्यायिकयाऽस्य मन्त्रस्य व्याख्याने मेघविद्योक्ता॥ १२॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो! तुम जैसे (सवितुः) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस संसार में (अच्छिद्रेण) निर्दोष और (पवित्रेण) पवित्र करने का हेतु जो (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरण हैं, उनसे (वैष्णव्यौ) [यज्ञ को सर्वत्र फैलाने वाले वायु तथा, अग्नि] (पवित्रे) यज्ञ सम्बन्धी प्राण और अपान की गति तथा पदार्थों के भी पवित्र करने में हेतु (स्थः) हों और जैसे उक्त सूर्य्य की किरणों से (अग्रेगुवः) आगे समुद्र वा अन्तरिक्ष में चलें (अग्रेपुवः) प्रथम पृथिवी में रहने वाली सोम ओषधि के सेवन करने तथा (देवीः) दिव्यगुणयुक्त (आपः) जल पवित्र हों। वैसे (नयत) पवित्र पदार्थों का होम अग्नि में करो, वैसे ही मैं भी (अद्य) आज के दिन (इमम्) इस (यज्ञम्) पूर्वोक्त क्रियासम्बन्धी यज्ञ को प्राप्त करके (अग्रे) जो प्रथम (सुधातुम्) श्रेष्ठ मन आदि इन्द्रिय और सुवर्ण आदि धनवाला (यज्ञपतिम्) यज्ञ का नियम से पालक तथा (देवयुवम्) विद्वान् और श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त होने वा उनका प्राप्त कराने (यज्ञपतिम्) यज्ञ की इच्छा करने वाला मनुष्य है, उसको (उत्पुनामि) पवित्र करता हूं॥ १२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। जो पदार्थ संयोग से विकार को प्राप्त होते हैं, वे अग्नि के निमित्त से अतिसूक्ष्म परमाणुरूप होकर वायु के बीच रहा करते हैं, और कुछ शुद्ध भी हो जाते हैं, परन्तु जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है, वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती। इससे विद्वानों को चाहिये कि होमक्रिया से शुद्ध किये वायु अग्नि जल आदि पदार्थ, वा शिल्पविद्या से अच्छी अच्छी सवारी बना के अनेक प्रकार के लाभ उठावें अर्थात् अपनी मनोकामना सिद्धि करके औरों की भी कामना सिद्धि करें। जो जल इस पृथिवी से अन्तरिक्ष को चढ़कर वहां से

लौटकर फिर पृथिवी आदि पदार्थों को प्राप्त होते हैं, वे प्रथम और जो मेघ में रहने वाले हैं, वे दूसरे कहाते हैं ॥ शतपथ ब्राह्मण में मेघ का वृत्र तथा सूर्य का इन्द्र नाम से वर्णन करके युद्धरूप कथा के प्रकाश से मेघविद्या दिखलाई है ॥ १२ ॥

युष्मा इन्द्रो वृणीतेत्यस्य ऋषिः पूर्वोक्तः । इन्द्रो देवता । निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः । अग्नये त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । [निचृद्] विराड्गायत्री[1] छन्दः । षड्जः स्वरः । दैव्याय कर्म्मण इत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्ताः कथंभूता आप इन्द्रवृत्रयुद्धं चेत्युपदिश्यते—

उक्त जल किस प्रकार के हैं, वा इन्द्र और वृत्र का युद्ध कैसे होता है, सो अगले मन्त्र में कहा गया है ॥

युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ । अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ १३ ॥

युष्माः । इन्द्रः । अवृणीत । वृत्रतूर्य इति वृत्रऽतूर्ये । यूयम् । इन्द्रम् । अवृणीध्वम् । वृत्रतूर्य इति वृत्रऽतूर्ये । प्रोक्षिता इति प्रऽउक्षिताः । स्थ ॥ अग्नये । त्वा । जुष्टम् । प्र । उक्षामि । अग्नीषोमाभ्याम् । त्वा । जुष्टम् । प्र । उक्षामि ॥ दैव्याय । कर्मणे । शुन्धध्वम् । देवयज्याया इति देवऽयज्यायै । यत् । वः । अशुद्धाः । पराजघ्नुरिति पराऽजघ्नुः । इदम् । वः । तत् । शुन्धामि ॥ १३ ॥

---

१. अस्मिन् भागे एकोनविंशत्यक्षराणि सन्ति । उपनिदानसूत्रानुसारं विंशत्यक्षराणां विराड्गायत्री भवति । पिङ्गलसूत्रानुसारं विराड्गायत्री २२ अक्षराणां भवति । द्र० वैदिक छन्दोमीमांसा, पृष्ठ १२८ ।

पदार्थः—(युष्माः) ताः पूर्वोक्ता आपः। अत्र व्यत्ययः, वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [महा० १ । ४ । ९] इति शसः सकारस्य नत्वाभावश्च । (इन्द्रः) सूर्य्यलोकः । (अवृणीत) वृणीते । अत्र लडर्थे लङ् । (वृत्रतूर्ये) वृत्रस्य मेघस्य तूर्यो वधस्तस्मिन् । वृत्र इति मेघनामसु पठितम् (निघं० १ । १०) । तूरी गतित्वरणहिंसनयोरित्यस्मात् कर्मणि ण्यत् । वृत्रतूर्य इति संग्रामनामसु पठितम् (निघं० २ । १७) । (यूयम्) विद्वांसो मनुष्याः । (इन्द्रम्) वायुम् । इन्द्रेण वायुना (ऋ० १ । १४ । १०) इतीन्द्रशब्देन वायोर्ग्रहणम् । (अवृणीध्वम्) वृणते, स्वीकुरुध्वम् । अत्र प्रथमपक्षे लडर्थे लङ् । (वृत्रतूर्ये) वृत्रस्य तूर्ये शीघ्रवेगे । (प्रोक्षिताः) प्रकृष्टतया सिक्ताः सेचिता वा । (स्थ) भवन्ति । अत्रापि व्यत्ययः । (अग्नये) भौतिकाय, परमेश्वराय वा । (त्वा) तं यज्ञम् । (जुष्टम्) विद्याप्रीतिक्रियाभिः सेवितम् । (प्रोक्षामि) सेचयामि । (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्निश्च सोमश्च, ताभ्याम् । (त्वा) तं वृष्ट्यर्थम् । (जुष्टम्) प्रीतं, प्रीत्या सेवनीयम् । (प्रोक्षामि) प्रेरयामि । (दैव्याय) दिवि भवं दिव्यं, तस्य भावस्तस्मै । (कर्मणे) पञ्चविधलक्षणचेष्टामात्राय । उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि (वैशे० १ । ७) इत्यत्र[1] पञ्चविधं कर्म गृह्यते । (शुन्धध्वम्) शुन्धन्ति, शोधयत वा । अत्रापि व्यत्यय, आत्मनेपदं च । (देवयज्यायै) देवानां विदुषां दिव्यगुणानां वा यज्या सत्क्रिया, तस्यै । छन्दसि निष्टर्क्य० (अ० ३ ।.१ । १२३) इति देवयज्याशब्दो निपातितः । (यत्) यस्माद्यज्ञेन शोधितत्वात् । (वः) तासां, युष्माकं वा । (अशुद्धाः) न शुद्धा अशुद्धा गुणाः । (पराजघ्नुः) पराहता विनष्टा भवेयुः । अत्र लिडर्थे लिट् । (इदम्) शोधनम् । (वः) तासां, युष्माकं वा । (तत्) तस्मादशुद्धिनाशेन सुखार्थत्वात् । (शुन्धामि) पवित्रीकरोमि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । ३ । ८—१२ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—यथाऽयमिन्द्रो वृत्रतूर्ये युष्मास्ताः पूर्वोक्ता आप अवृणीत वृणीते । यथा ता इन्द्रं वायुमवृणीध्वं वृणते, तथैव ता अपो यूयं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम् । यथा ता आपः शुद्धाः स्थ भवेयुरेतदर्थमहं यज्ञानुष्ठाता दैव्याय कर्मणे देवयज्याया अग्नये जुष्टं त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि । एवमग्नीषोमाभ्यां त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि । एवं यज्ञशोधितास्ता आपः शुन्धध्वं शुन्धन्ति, यद्वस्तासामशुद्धा गुणास्ते पराजघ्नुस्तत् तस्मात् वस्तासामिदं शोधनं शुन्धामि ॥ इत्येकोऽन्वयः ॥

१. 'इति वैशेषिकसूत्रोक्तं पञ्चविधं कर्म अत्र मन्त्रे गृह्यते' इति भावः ।

हे यज्ञानुष्ठातारो मनुष्या ! यद्यदिन्द्रो वृत्रतूर्ये युष्मा इन्द्रमवृणीत यद्यस्माच्चेन्द्रेण वृत्रतूर्ये ताः प्रोक्षिताः स्थ भवन्ति । तस्माद्यूयं त्वा तं यज्ञं सदाऽवृणीध्वम् । एवं च सर्वो जनोऽहं दैव्याय कर्मणे देवयज्याया अग्नये त्वा तं जुष्टं यज्ञं प्रोक्षामि तथा चाग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि । एवं कुर्वन्तो यूयं सर्वान् पदार्थान् जनांश्च शुन्धध्वं शोधयत । यद्वोऽशुद्धा दोषास्ते सदैव पराजश्नुर्निवृत्ता भवेयुस्तत् तस्मात् कारणादहं वो युष्माकमिदं शोधनं शुन्धामि ॥ इति द्वितीयोऽन्वयः ॥ १३ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः । ईश्वरेणाग्निसूर्यावेतदर्थौ[1] रचितौ यदिमौ सर्वेषां पदार्थानां मध्ये प्रविष्टौ जलौषधिरसान् छिन्तः[2] [ति छिन्ना] वायुं प्राप्य मेघमण्डलं गत्वाऽऽगत्य च शुद्धिसुखकारका भवेयुः । तस्मान्मनुष्यैरुत्तमसुखलाभायाऽग्नौ सुगन्ध्यादिपदार्थानां होमेन वायुवृष्टि-जलशुद्धिद्वारा दिव्यसुखानामुत्पादनाय संप्रीत्या नित्यं यज्ञः करणीयः । यतः सर्वे दोषा नष्टा भूत्वाऽस्मिन् विश्वे सततं शुद्धा गुणाः प्रकाशिता भवेयुः । एतदर्थमहमीश्वर इदं शोधनमादिशामि, यूयं परोपकारार्थानि शुद्धानि कर्माणि नित्यं कुरुतेति । एवं रीत्यैव वाय्वग्निजलगुणग्रहण-प्रयोजनाभ्यां[3] शिल्पविद्ययाऽनेकानि यानानि यन्त्रकलाश्च रचयित्वा पुरुषार्थेन सदैव सुखिनो भवतेति ॥ १३ ॥

पदार्थः—[जैसे] यह (इन्द्रः) सूर्यलोक (वृत्रतूर्ये) मेघ के वध के लिये (युष्माः) पूर्वोक्त जलों को (अवृणीत) स्वीकार करता है, जैसे जल (इन्द्रम्) वायु को (अवृणीध्वम्) स्वीकार करते हैं, वैसे ही (यूयम्) हे मनुष्यो ! तुम लोग उन जल ओषधि रसों को शुद्ध करने के लिये (वृत्रतूर्ये) मेघ के शीघ्रवेग में (प्रोक्षिताः) संसारी पदार्थों के सींचने वाले जलों को स्वीकार करो और जैसे वे जल शुद्ध (स्थ) होते हैं, वैसे तुम भी शुद्ध होओ । इसलिये मैं यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला (दैव्याय) सबको शुद्ध करने वाले (कर्मणे) उत्क्षेपण= उछालना, अवक्षेपण=नीचे फेंकना, आकुञ्चन=सिमेटना, प्रसारण=फैलाना, गमन=चलना आदि पांच प्रकार के कर्म हैं, उनके और (देवयज्यायै) विद्वान् वा श्रेष्ठ गुणों की दिव्य क्रिया के लिये तथा (अग्नये) भौतिक अग्नि से सुख के लिये (जुष्टम्) अच्छी क्रियाओं से सेवन करने योग्य (त्वा) उस यज्ञ को (प्रोक्षामि) करता हूं, तथा (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम से वर्षा के निमित्त (जुष्टम्)

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् । २. क-खकोशानुसारं शोधनम् ।
३. प्रकर्षेण योजनं प्रयोजनं प्रयोग इति भावः । क-खकोशयोस्तु 'प्रयोग' इत्येव पठ्यते ।

प्रीति देनेवाला और प्रीति से सेवने योग्य (त्वा) उक्त यज्ञ को (प्रोक्षामि) मेघमण्डल में पहुँचाता हूं । इस प्रकार यज्ञ से शुद्ध किये हुए जल (शुन्धध्वम्) अच्छे प्रकार शुद्ध होते हैं । (यत्) जिस कारण यज्ञ की शुद्धि से (वः) पूर्वोक्त जलों के अशुद्धि आदि दोष (पराजघ्नुः) निवृत्त हों, (तत्) उन जलों की शुद्धि को मैं (शुन्धामि) अच्छे प्रकार शुद्ध करता हूं ॥ यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ है ॥

हे यज्ञ करने वाले मनुष्यो ! (यत्) जिस कारण (इन्द्रः) सूर्यलोक (वृत्रतूर्ये) मेघ के वध के निमित्त (युष्माः) पूर्वोक्त जल और (इन्द्रम्) पवन को (अवृणीत) स्वीकार करता है तथा जिस कारण सूर्य ने (वृत्रतूर्ये) मेघ की शीघ्रता के निमित्त (युष्माः) पूर्वोक्त जलों को (प्रोक्षिताः) पदार्थ सींचने वाले (स्थ) किया हैं, इससे (यूयम्) तुम (त्वा) उक्त यज्ञ को सदा स्वीकार करके सिद्धि को प्राप्त करो । इस प्रकार हम सब लोग (दैव्याय) श्रेष्ठ कर्म वा (दैवयज्यायै) विद्वान् और दिव्य गुणों की श्रेष्ठ क्रियाओं के तथा (अग्नये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये [(त्वा) उस] (जुष्टम्) प्रीति कराने वाले यज्ञ को (प्रोक्षामि) सेवन करें । तथा (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम से प्रकाशित होनेवाले (त्वा) उक्त यज्ञ को (प्रोक्षामि) मेघमण्डल में पहुंचावें । हे मनुष्यो ! इस प्रकार करते हुए तुम सब पदार्थों वा सब मनुष्यों को (शुन्धध्वम्) शुद्ध करो । और (यत्) जिससे (वः) तुम लोगों के अशुद्धि आदि दोष हैं, वे सदा (पराजघ्नुः) निवृत्त होते रहें । वैसे ही मैं वेद का प्रकाश करने वाला तुम लोगों के शोधन अर्थात् शुद्धि प्रकार को (शुन्धामि) अच्छे प्रकार बढ़ाता हूं [यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ है] ॥ १३ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने अग्नि और सूर्य को इसलिये रचा है कि वे सब पदार्थों में प्रवेश करके उनके रस और जल को छिन्न भिन्न कर दें, जिससे वे वायुमण्डल में जाकर फिर वहां से पृथिवी पर आके सबको सुख और शुद्धि करने वाले हों । इससे मनुष्यों को उत्तम सुख प्राप्त होने के लिये अग्नि में सुगन्धित पदार्थों के होम से वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा श्रेष्ठ सुख बढ़ाने के लिये प्रीतिपूर्वक नित्य यज्ञ करना चाहिये । जिससे इस संसार के सब रोग आदि दोष नष्ट होकर उसमें शुद्ध गुण प्रकाशित होते रहें । इसी प्रयोजन के लिये मैं ईश्वर तुम सबों को उक्त यज्ञ के निमित्त शुद्धि करने का उपदेश करता हूं कि हे मनुष्यो ! तुम लोग परोपकार करने के लिये शुद्ध कर्मों को नित्य किया करो । तथा उक्त रीति से वायु अग्नि और जल के गुणों को शिल्पक्रिया में युक्त करके अनेक यान आदि यन्त्रकला बना कर अपने पुरुषार्थ से सदैव सुखयुक्त होओ ॥१३॥

शर्मासीत्यस्य पूर्वोक्त ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्ति, कथं कर्तव्यश्चेत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ किस प्रकार का है और किस प्रकार से करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

शर्मास्यवधूत्ꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

शर्म । असि । अवधूतमित्यवऽधूतम् । रक्षः । अवधूता इत्यवऽधूताः । अरातयः । अदित्याः । त्वक् । असि । प्रति । त्वा । अदितिः । वेत्तु ॥ अद्रिः । असि । वानस्पत्यः । ग्रावा । असि । पृथुबुध्न इति पृथुऽबुध्नः । प्रति । त्वा । अदित्याः । त्वक् । वेत्तु ॥ १४ ॥

पदार्थः—(शर्म) सुखकारकं गृहम् । शर्म इति गृहनामसु पठितम् (निघं० ३ । ४)। (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अवधूतम्) दूरीकृतं विचालितम् । (रक्षः) दुष्टस्वभावो जन्तुः । (अवधूताः) दूरीभूताः । (अरातयः) दानशीलतारहिताः शत्रवः । (अदित्याः) पृथिव्याः । अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम् (निघं० १ । १)। (त्वक्) त्वग्वत् । (असि) भवति । (प्रति) क्रियार्थे पश्चादर्थे । प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह (निरु० १ । ३)। (त्वा) तत्, तं वा । (अदितिः) नाशरहितो जगदीश्वरः । अदितिरिति पदनामसु पठितम् (निघं० ५ । ५)। अनेन ज्ञानस्वरूपोऽर्थो गृह्यते, अन्तरिक्षं वा । (वेत्तु) जानातु ज्ञापयतु वा । (अद्रिः) मेघः । अद्रिरिति मेघनामसु पठितम् (निघं० १ । १०)। (असि) अस्ति । (वानस्पत्यः) वनस्पतेर्विकारो रसमयः । (ग्रावा) जलगृहीतो मेघः । ग्रावेति मेघनामसु पठितम् (निघं० १ । १०)। (असि) अस्ति । (पृथुबुध्नः) पृथु विस्तीर्णं बुध्नमन्तरिक्षं निवासार्थं यस्य स पृथुबुध्नो मेघः । बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति (निरु० १० । ४४)। (प्रति) उक्तार्थे । (त्वा) तम् । (अदित्याः) अन्तरिक्षस्य (त्वक्) त्वग्वत् सेविनम् । (वेत्तु) जानातु ज्ञापयतु वा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । ४ । ४—७ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! युष्मद्गृहं शर्मासि भवतु, तस्माद् गृहाद् रक्षोऽवधूतमरातयोऽवधूता भवन्तु । तच्च गृहमदित्यास्त्वगसि पृथिव्यास्त्वग्वदस्त्विति सर्वो जनः प्रतिवेत्तु । यो वानस्पत्योऽद्रिः [अस्यस्ति] पृथुबुध्नो ग्रावा मेघोऽसि वर्त्तते । एतद्विद्यामदितिर्जगदीश्वरस्तुभ्यं [प्रति] वेत्तु कृपया वेदयतु । विद्वानप्यदित्यास्त्वग्वत्त्वा तं व्यवहारं प्रतिवेत्तु ॥ १४ ॥

भावार्थः—ईश्वरेणाज्ञाप्यते मनुष्यैः शुद्धायाः सर्वतोऽवकाशयुक्तायाः पृथिव्या मध्ये सर्वेष्वृतुषु सुखदायकं गृहं रचयित्वा तत्र सुखेन स्थातव्यम् । तस्मात् सर्वे दुष्टा मनुष्या दोषाश्च निवारणीयाः । तत्र सर्वाणि साधनान्यपि स्थापनीयानि । तत्रैव वृष्टिहेतुर्यज्ञोऽनुष्ठातव्यस्तेन[1] सुखानि संपादनीयानि । एवं कृते वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा जगति महत् सुखं सिध्यतीति ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम्हारा घर (शर्म) सुख देनेवाला (असि) हो । उस घर से (रक्षः) दुष्टस्वभाव वाले प्राणी (अवधूतम्) अलग हों और (अरातयः) दान आदि धर्मरहित शत्रु (अवधूताः) दूर हों । उक्त गृह (अदित्याः) पृथिवी की (त्वक्) त्वचा के तुल्य (असि) हो, ज्ञानस्वरूप ईश्वर ही से उस घर को (प्रतिवेत्तु) सब मनुष्य जानें और प्राप्त हों, तथा जो (वानस्पत्यः) वनस्पति के निमित्त से उत्पन्न होने (पृथुबुध्नः) अतिविस्तारयुक्त अन्तरिक्ष में रहने तथा (ग्रावा) जल का ग्रहण करनेवाला (अद्रिः) मेघ (असि) है, उस और इस विद्या को (अदितिः) जगदीश्वर तुम्हारे लिये ([प्रति] वेत्तु) कृपा करके जनावें । विद्वान् पुरुष भी (अदित्याः) पृथिवी की (त्वक्) त्वचा के समान (त्वा) उक्त घर की रचना को (प्रतिवेत्तु) जानें ॥ १४ ॥

भावार्थः—ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि तुम लोग शुद्ध और विस्तारयुक्त भूमि के बीच में अर्थात् बहुत से अवकाश में सब ऋतुओं में सुख देने योग्य घर को बना के उसमें सुखपूर्वक वास करो, तथा उसमें रहनेवाले दुष्ट स्वभावयुक्त मनुष्यादि प्राणी और दोषों को निवृत्त करो । फिर उसमें सब पदार्थ-स्थापन और वर्षा का हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान करके नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करना चाहिये, क्योंकि यज्ञ के करने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा संसार में अत्यन्त सुख सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

---

१. कख-कोशानुसारी पाठः ।

अग्नेस्तनूरित्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। निचृज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः। हविष्कृदिति याजुषी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनः स यज्ञः कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ किस प्रकार का होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व। हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि॥ १५॥

अग्नेः। तनूः। असि। वाचः। विसर्जनमिति विऽसर्जनम्। देववीतय इति देवऽवीतये। त्वा। गृह्णामि। बृहद्ग्रावेति बृहत्ऽग्रावा। असि। वानस्पत्यः। सः। इदम्। देवेभ्यः। हविः। शमीष्व। शमिष्वेति[1] शमिष्व। सुशमीति सुऽशमि। शमीष्व। शमिष्वेति शामिष्व॥ हविष्कृत्। हविःकृदिति हविःऽकृत्। आ। इहि। हविष्कृत्। हविःकृदिति हविःऽकृत्। आ। इहि॥ १५॥

पदार्थः—(अग्नेः) भौतिकस्य। (तनूः) शरीरवत्तस्य संयोगेन विस्तृतो यज्ञः। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः। (वाचः) वेदवाण्याः। (विसर्जनम्) यजमानेन होतृभिश्च हविषस्त्यागो मौनं वा। (देववीतये) देवानां विदुषां दिव्यगुणानां वा वीतिर्ज्ञानं, प्रापणं, प्रजनं, व्याप्तिः प्रकाशः, अन्येभ्य उपदेशनं, विविधभोगो वा यस्यां, तस्यै। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। (त्वा) तमिमं सम्यक् शोधितं हविःसमूहम्। (गृह्णामि) स्वीकरोमि। (बृहद्ग्रावा)

१. पदकाराणामियं शैली वर्तते यत्ते मन्त्रस्थमलौकिकं पदं प्राक् स्वरूपः पठित्वा तस्य लौकिकं रूपं निर्दिशन्ति, तदनन्तरं चावग्रहं प्रदर्शयन्ति (यदि तत्रावग्रहो भवति)। एवं चात्र 'शमिष्व' इति निर्देशादासीदिदं पुरा लोके व्यवहृतमिति प्रतिभाति। तथासत्यस्य साधुत्वप्रतिपादनाय शमधातोरदादौ पाठः, रोदिति वदिडागमश्च स्वीकर्तव्यः। 'शमिष्व' इति ह्रस्वं पदं तै० सं० १। १। ५ उमुपलभ्यते।

बृहच्चासौ[1] ग्रावा च सः । (असि) अस्ति । (वानस्पत्यः) यो वनस्पतेर्विकारस्तं हविःसंस्कारार्थम् । (सः) त्वं यजमानः । (इदम्) यत् प्रत्यक्षं हुतं तत् । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा । (हविः) संस्कृतं सुगन्ध्या[2]दियुक्तं द्रव्यम् । (शमीष्व) दुःखनिवृत्तये सुखसंपादनार्थं कुरुष्व । शमु उपशमे इत्यस्माद् बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति श्यनो लुक्[3] । तुरुस्तुशम्यमः० (अ० ७ । ३ । ९५) इतीडागमः । महीधरेणात्र [व्यत्ययेन] शपो लुगित्यशुद्धं व्याख्यातम्[4] । (सुशमि) सुष्ठु दुःखं शमितुं शीलं धर्मः पदार्थानां साधुकरणं वा यस्य तत् । शमित्यष्टा० (अ० ३ । २ । १४१) अनेन शमेर्घिनुण् । इदमपि पदमुवटमहीधराभ्यामन्यथैव व्याख्यातम्[5] । (शमीष्व) पुनरुच्चारणं हविषोऽत्यन्तसंस्कारद्योतनार्थम्[6] । (हविष्कृत्) हविः करोति अनया वेदवाण्या सा हविष्कृद्वाक् । (एहि) अध्ययनेनैवैति प्राप्नोति । (हविष्कृत्) अत्र यज्ञसंपादनाय ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाग् गृह्यते ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । ४ । ८—१७ व्याख्यातः ॥ १५ ॥

---

१. बृहंश्चासौ ग्रावा च इति साम्प्रतिकानां मते शुद्धः पाठः । मूलपाठस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

२. गुणवाचके 'सुगन्ध' इत्येव भवितव्यमित्याधुनिका आहुः । सुगन्धिपदं सुगन्धयुक्ते द्रव्ये साधु । तदर्थे ग्रन्थकृता स्वयमस्यैव मन्त्रस्य भावार्थेऽन्यत्र च बहुधा प्रयोगः कृतः । एवमेव गुणवाचकं सुगन्धिपदमपि ग्रन्थकारोऽनेकत्र प्रयुक्तवान् । गुणवाचकसुगन्धिपदस्य साधुत्वं परिशिष्टे प्रतिपादयिष्यामः ।

३. बहुलं छन्दसीति सूत्रं शपो लुकं विधत्ते । तेनेत्थमस्याभिप्रायो ज्ञेयः—शप औत्सर्गिकत्वात् सर्वधातुभ्यस्तावत् शप् भवति, तस्य श्यन्नादय आदेशा विधीयन्ते । तदेवं शप एव लुकि श्यन्नादीनामभावः सुतरां सिद्धः । अनेन सूत्रेण श्यन एव लोपस्य स्वीकारे स्ववचोविरुद्धत्वमापद्यते । यतः स्वयमेव ग्रन्थकृताऽष्टाध्यायीभाष्ये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (व्याकरणविषये) चास्य सूत्रस्य 'वेदविषये शपो बहुलं लुग् भवति' इत्येवार्थः प्रतिपादितः ।

४. महीधरो दैवादिकात् 'शमु' धातोः श्यना भाव्यमिति समीक्ष्य ततो व्यत्ययेन शपो विधानं स्वीकृत्य 'व्यत्ययेन शपो लुक्' इत्युक्तवान् ।

५. सुशमि पदमुभावपि क्रियाविशेषणमाहतुः ।

६. अभ्यासेन भूयांसमर्थं मन्यन्ते (निरुक्त १० । ४२) इति न्यायेनायमभिप्रायोऽयं ग्रन्थकारेण व्यक्तीकृतः ।

अन्वयः—अहं सर्वो जनो यस्य हविषः [वाचो वेदवाण्या उच्चारणेन अग्नेर्मध्ये विसर्जनं करोमि, सोऽग्नेर्भौतिकस्य तनूः शरीरवद् अस्यस्ति, तस्य][1] संस्काराय बृहद्ग्रावास्यस्ति वानस्पत्यश्च यदिदं देवेभ्यो भवति [त्वा] तं देववीतये गृह्णामि । हे विद्वन् ! स त्वं देवेभ्यो विद्वद्भ्यः सुशमि तद्धविः शमीष्व शमीष्व । ये मनुष्या वेदादीनि शास्त्राणि पठन्ति पाठयन्ति च तानेयं वाग् हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीत्याह ॥ १५ ॥

भावार्थः—यदा मनुष्या वेदादिशास्त्रद्वारा यज्ञक्रियां फलं च विदित्वा सुसंस्कृतेन हविषा यज्ञं कुर्वन्ति, तदा स सुगन्ध्यादिद्रव्य-होमद्वारा परमाणुमयो भूत्वा वायौ वृष्टिजले च विस्तृतः सन् सर्वान् पदार्थानुत्तमान् कुर्वन् दिव्यानि सुखानि संपादयति । यश्चैवं सर्वेषां प्राणिनां सुखाय पूर्वोक्तं त्रिविधं यज्ञं[2] नित्यं करोति, तं सर्वे मनुष्या हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति सत्कुर्य्युः ॥ १५ ॥

पदार्थः—मैं सब जनों के सहित जिस हवि अर्थात् पदार्थ [को (वाचः) वेदवाणी के उच्चारण द्वारा अग्नि के मध्य (विसर्जनम्) छोड़ता हूं, (सः) वह (अग्नेः) भौतिक अग्नि के (तनूः) शरीर के समान (असि) होता है । उस हवि][3] के संस्कार के लिये (बृहद्ग्रावा) बड़े बड़े पत्थर (असि) हैं और (वानस्पत्यः) काष्ठ के मूसल आदि पदार्थ [हैं । (इदम्) यह यज्ञ] (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्यगुणों के लिये [होता है । (त्वा)] उस यज्ञ को (देववीतये) श्रेष्ठ गुणों के प्रकाश और श्रेष्ठ विद्वान् वा विविध भोगों की प्राप्ति के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं । हे विद्वन् मनुष्य ! तुम विद्वानों के सुख के लिये (सुशमि) अच्छे प्रकार दुःख शान्त करनेवाले (हविः) यज्ञ करने योग्य पदार्थ को (शमीष्व शमीष्व) अत्यन्त शुद्ध करो । जो मनुष्य वेद आदि शास्त्रों को प्रीतिपूर्वक पढ़ते वा पढ़ाते हैं, उन्हीं को यह (हविष्कृत्) हविः अर्थात् होम में चढ़ाने योग्य पदार्थों का विधान करनेवाली जो कि यज्ञ को विस्तार करने के लिये वेद के पढ़ने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की शुद्ध सुशिक्षित और प्रसिद्ध वाणी है, सो प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

---

१. अस्य मन्त्रस्यान्वये लेखकप्रमादाद् बहूनि मन्त्रगतानि पदानि नोपलभ्यन्ते । अस्माभिस्तानि यथायोग्यस्थाने निविष्टानि ।

२. द्वितीय मन्त्रे यज्ञपतिपदव्याख्याने यज्ञस्य त्रिविधित्वमुक्तम् ।

३. इस मन्त्र के पदार्थ में मन्त्र के कई पदों के अर्थ परित्यक्त हैं । हमने उन्हें यथास्थान दर्शाने का प्रयत्न किया है ।

भावार्थः—जब मनुष्य वेद आदि शास्त्रों के द्वारा यज्ञक्रिया और उसका फल जान के शुद्धि और उत्तमता के साथ यज्ञ को करते हैं, तब वह सुगन्धि आदि पदार्थों के होमद्वारा परमाणु अर्थात् अति सूक्ष्म होकर वायु और वृष्टि जल में विस्तृत हुआ सब पदार्थों को उत्तम करके दिव्य सुखों को उत्पन्न करता है। जो मनुष्य सब प्राणियों के सुख के अर्थं पूर्वोक्त तीन प्रकार के यज्ञ को नित्य करता है उसका सब मनुष्य हविष्कृत् अर्थात् 'यह यज्ञ का विस्तार करनेवाला', 'यज्ञ का विस्तार करनेवाला उत्तम मनुष्य है' ऐसा वारंवार कहकर सत्कार करें ॥ १५ ॥

कुक्कुटोऽसीत्यस्य ऋषिः स एव । वायुर्देवता । [स्वराड्] ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ देवो वः सवितेत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते—

फिर भी यह यज्ञ कैसा है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमा वद त्वया वयꣳ संघातꣳसंघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातयोऽपहतꣳ रक्षो वायुर्वो वि विनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥

कुक्कुटः । असि । मधुजिह्व इति मधुऽजिह्वः । इषम् । ऊर्जम् । आ । वद । त्वया । वयम् । संघातꣳसंघातमिति संघातम्ऽसंघातम् । जेष्म । वर्षवृद्धमिति वर्षऽवृद्धम् । असि । प्रति । त्वा । वर्षवृद्धमिति वर्षऽवृद्धम् । वेत्तु । परापूतमिति पराऽपूतम् । रक्षः । परापूता इति पराऽपूताः । अरातयः । अपहतमित्यपऽहतम् । रक्षः । वायुः । वः । वि । विनक्तु । देवः । वः । सविता । हिरण्यपाणिरिति हिरण्यऽपाणिः । प्रति । गृभ्णातु । अच्छिद्रेण । पाणिना ॥ १६ ॥

पदार्थः—(कुक्कुटः) कुकं परद्रव्यादातारं चोरं शत्रुं वा कुटति येन स यज्ञः । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (मधुजिह्वः) मधुरगुणयुक्ता जिह्वा ज्वाला प्रयुज्यते यस्मिन् सः । (इषम्) अन्नादिपदार्थसमूहम् । इषमित्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २ । ७) । (ऊर्जम्) विद्यादिपराक्रमम् अनुत्तमरसं वा । (आ) क्रियायोगे । (वद) उपदिश । (त्वया) परमेश्वरेण, विदुषा, वीरेण वा सह संगत्य । [(वयम्)] (संघातं संघातम्) सम्यग्घन्यन्ते जना यस्मिन् तं संग्रामम् । संघात इति संग्रामनामसु पठितम् (निघं० २ । १७) । अत्र वीप्सायां द्विरुक्तिः । (जेष्म) जयेम । अत्र लिङर्थे लुङ्, अड्वृद्ध्यभावश्च । (वर्षवृद्धम्) शस्त्रास्त्राणां वर्धयितारम् । (असि) भवति । (प्रति) क्रियायोगे । (त्वा) त्वां, तं यज्ञं वा । (वर्षवृद्धम्) वृष्टेर्वर्धकं यज्ञम् । (वेत्तु) जानातु । (परापूतम्) परागतं पूतं पवित्रत्वं यस्मात्, तत् । (रक्षः) दुष्टस्वभावो मूर्खः । (परापूताः) परागतः पूतः पवित्रस्वभावो येभ्यस्ते । (अरातयः) परपदार्थगृहीतारः शत्रवः । (अपहतम्) अपहन्यते यत् तत् । (रक्षः) दस्युस्वभावः । (वायुः) योऽयं भौतिको वाति । (वः) तान् हुतान् परमाणुजलादिपदार्थान्[1] । (वि) विशेषार्थे । (विनक्तु) वेचयति वेचयतु वा । अत्राद्ये पक्षे लडर्थे लोड्, [उभयत्र] अन्तर्गतो णयर्थश्च । (देवः) प्रकाशस्वरूपः । (सविता) वृष्टिप्रकाशद्वारा दिव्यगुणानां प्रसवहेतुः । (हिरण्यपाणिः) हिरण्यं ज्योतिः पाणिर्हस्तः किरण-व्यवहारो वा यस्य[2] सः । ज्योतिर्हि हिरण्यम् (श० ४ । ३ । १ । २१) । (प्रतिगृभ्णातु) प्रतिगृह्णाति । अत्र हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् (अ० ८ । २ । ३२) । इति हकारस्य स्थाने भकारः, लडर्थे लोट् च । (अच्छिद्रेण) छिद्ररहितेनैकरसेन । (पाणिना) किरणसमूहेन व्यवहारेण ॥ अयं मन्त्रः श० । १ । १ । ४ । १८–२४ व्याख्यातः ॥१६॥

अन्वयः—यतोऽयं यज्ञो मधुजिह्वः कुक्कुटोऽस्यस्तीषमूर्जं च प्रापयति तस्मात्स सदैवानुष्ठेयः । हे विद्वन् ! त्वमस्य त्रिविधस्य यज्ञस्यानुष्ठानस्य गुणानां च [3]वेदितासि तस्माद् अस्मान् प्रतिवद प्रत्यक्षमुपदिश । यतो वयं त्वया सह संघातं संघातमाजेष्म सर्वान्संग्रामान्विजयेमहि । सर्वो

१. 'परमाणुत्वप्राप्तान् पदार्थान्' पाठः साधु स्यात् ।
२. 'हिरण्यं ज्योतिः किरणं, पाणिर्हस्तो व्यवहारो वा यस्य' इति पाठः साधु स्यात् ।
३. सर्वकोशेषु 'वेत्ता' पाठः । अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

मनुष्यो वर्षवृद्धं त्वा त्वां तं वर्षवृद्धं यज्ञं वा प्रतिवेत्तु। एवं कृत्वा सर्वैर्जनैः परापूतं रक्षः परापूता अरातयोऽपहतं रक्षः सदैव कार्य्यम्। यथाऽयं हिरण्यपाणिर्वायुरच्छिद्रेण पाणिना यज्ञे संसारेऽग्निना सूर्येण विच्छिन्नान् पदार्थकणान् [प्रतिगृभ्णातु] प्रतिगृभ्णाति[1]। यथा च हिरण्यपाणिः सविता देवः [वः] तान् [विविनक्तु] विविनक्ति पृथक्करोति, तथैव परमेश्वरो विद्वान् मनुष्यश्चाच्छिद्रेण पाणिना सर्वा विद्या विविनक्तु। तथैव कृपया संप्रीत्या चैतौ वो युष्मानानन्दकरणाय प्रतिगृभ्णातु प्रतिगृह्णीतः ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः[2]। ईश्वरः सर्वान्मनुष्यानाज्ञापयति— मनुष्यैर्यज्ञानुष्ठानं, संग्रामे दुष्टशत्रूणां विजयो, गुणज्ञानं, विद्यावृद्धसेवनं, दुष्टानां मनुष्याणां दोषाणां वा निराकरणं,[3] सर्वपदार्थच्छेदकोऽग्निः सूर्यो वा तथा सर्वपदार्थधारको वायुश्चास्तीति विज्ञानं, परमेश्वरोपासनं, विद्वत्समागमं च कृत्वा सर्वा विद्याः प्राप्य सदैव सर्वार्था सुखोन्नतिः कार्येति ॥ १६ ॥

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ (मधुजिह्वः) जिसमें मधुर गुणयुक्त वाणी हो तथा (कुक्कुटः) चोर वा शत्रुओं का विनाश करने वाला (असि) है। और (इषम्) अन्न आदि पदार्थ वा (ऊर्जम्) विद्या आदि बल और उत्तम से उत्तम रस को देता है, इसी से उसका अनुष्ठान सदा करना चाहिये। हे विद्वान् लोगो! तुम उक्त गुणों को देनेवाला जो तीन प्रकार का यज्ञ है, उसके अनुष्ठान और [गुण के ज्ञाता (असि) हो।] हम लोगों के प्रति उसके गुणों का (आवद) उपदेश करो, जिससे (वयम्) हम लोग (त्वया) तुम्हारे साथ (संघातं संघातम्) जिनमें उत्तम रीति से शत्रुओं का पराजय होता है अर्थात् अति भारी संग्रामों को वारंवार (आ जेष्म) सब प्रकार से जीतें। क्योंकि आप युद्धविद्या के जानने वाले हैं, इसीसे सब मनुष्य (वर्षवृद्धम्) शस्त्र और अस्त्रविद्या की वर्षा को बढ़ानेवाले (त्वा) आप तथा (वर्षवृद्धम्) वृष्टि के बढ़ाने वाले उक्त यज्ञ को (प्रतिवेत्तु) जानें। इस प्रकार संग्राम करके सब मनुष्यों को (परापूतम्) पवित्रता आदि गुणों को छोड़नेवाले (रक्षः) दुष्ट मनुष्य तथा (परापूताः) शुद्धि को छोड़ने

---

१. अयं ग्रन्थकर्तुः प्रयोगः। अस्य लोके साधुत्वं परिशिष्टे प्रतिपादयिष्यामः।

२. गकोशेऽयं पाठः परिवर्धितः। पदार्थे 'विनक्तु' इत्यस्य 'वेचयति वेचयतु वा' इत्युभयथा व्याकरणादन्वये सूर्यपरमेश्वरयोर्निर्देशादस्यश्लेषालङ्कारस्य कथंचित् संगतिर्द्रष्टव्या। आचार्यपादास्त्वत्र टिप्पण्यां वाचकलुप्तोपमालंकारमाहुः।

३. निराकरणं कृत्वा इति दूरान्वयी योजनाऽत्र द्रष्टव्या। एवमेवाग्रेऽपि।

वाले और (अरातयः) दान आदि धर्म से रहित शत्रुजन तथा (रक्षः) डाकुओं का जैसे (अपहतम्) नाश हो सके, वैसा प्रयत्न सदा करना चाहिये । जैसे यह (हिरण्यपाणिः) जिसका ज्योति हाथ है ऐसा जो (वायुः) पवन है, वह (अच्छिद्रेण) एकरस (पाणिना) अपने गमनागमन व्यवहार से यज्ञ और संसार में अग्नि और सूर्य से अति सूक्ष्म हुए पदार्थों को (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करता है । वा जैसे (हिरण्यपाणिः) किरण हैं हाथ जिसके वह हिरण्यपाणि (सविता) किरणव्यवहार से वृष्टि वा प्रकाश के द्वारा दिव्य गुणों के उत्पन्न करने में हेतु (देवः) प्रकाशमय सूर्यलोक (वः) उन पदार्थों को (वि विनक्तु) अलग अलग अर्थात् परमाणुरूप करता है, वैसे ही परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष निरन्तर अपने उपदेशरूप व्यवहार से सब विद्याओं का प्रकाश करें, वैसे ही कृपा करके प्रीति के साथ (वः) तुमको अत्यन्त आनन्द करने के लिये (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । परमेश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि यज्ञ का अनुष्ठान, संग्राम में शत्रुओं का पराजय, अच्छे अच्छे गुणों का ज्ञान, विद्वानों की सेवा, दुष्ट मनुष्य वा दुष्ट दोषों का त्याग, तथा सब पदार्थों को अपने ताप से छिन्न भिन्न करने वाला अग्नि वा सूर्य और उनका धारण करने वाला वायु है, ऐसा ज्ञान और ईश्वर की उपासना तथा विद्वानों का समागम करके और सब विद्याओं को प्राप्त होके सबके लिये सब सुखों की उत्पन्न करने वाली उन्नति सदा करनी चाहिये ॥ १६ ॥

धृष्टिरसीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देन किं किं गृह्यते, तेन किं किं च भवतीत्युपदिश्यते—

अब अग्निशब्द से किस किस का ग्रहण किया जाता, और इससे क्या क्या कार्य होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादꣳ सेधा देवयजं वह । ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युप दधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥१७॥

धृष्टिः । असि । अप । अग्ने । अग्निम् । आमादमित्यामऽअदम् । जहि । निः । क्रव्यादमिति क्रव्यऽअदम् । सेध । आ । देवयजमिति देवऽयजम् । वह ॥ ध्रुवम् । असि । पृथिवीम् । दृꣳह ।

ब्रह्मवनीति॑ ब्रह्म॒ऽव॒नि॑ । त्वा॒ । क्ष॒त्र॒वनीति॑ क्ष॒त्र॒ऽव॒नि॑ । स॒जा॒त॒वनीति॑ स॒जा॒त॒ऽव॒नि॑ । उप॑ । द॒धा॒मि॒ । भ्रातृ॑व्यस्य । व॒धाय॑ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(धृष्टिः) प्रगल्भ इव यजमानः । (असि) भवसि, भवति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (अप) क्रियायोगे । (अग्ने) परमेश्वर ! धनुर्वेदविद्वन् ! वा । (अग्निम्) विद्युदाख्यम् । (आमादम्) आमान-पक्वानत्ति तम् । (जहि) हिंसय । (निष्क्रव्यादम्[1]) क्रव्यं पक्वं मांसमत्ति, तस्मान्निर्गतस्तम् । (सेध) शास्त्राणि शिक्षय । (आ) क्रियायोगे । (देवयजम्) देवान् विदुषो दिव्यगुणान् यजति, संगतान् करोति, येन यज्ञेन स देवयट्, तम् । अत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त [अ० ३ । २ । ७५] इति सूत्रेण कृतो बहुलम् [अ० ३ । २ । ११३ वा०] इति वार्त्तिकेन करणे विच् प्रत्ययः[2] । (वह) प्रापय, प्रापयति वा । अत्र

१. निः क्रव्यादमिति द्वे पदे । ग्रन्थकृता उभे एकीकृत्य व्याख्याते । एकं पदं द्विधाकृत्य, द्वे पदे चैकीकृत्य व्याचक्षते मन्त्रव्याचक्षाणाः । तथा चोक्तं बृहद्देवतायाम्—

पदमेकं समादाय द्विधा कृत्वा निरुक्तवान् ।
पूरुषादः पदं यास्को वृक्षे वृक्ष इति त्वृचि ॥
अनेकं सत्तथा चान्यद् एकमेव निरुक्तवान् ।
अरुणो मासकृन्मन्त्रे मासकृद् विग्रहेण तु ॥
पदव्यवायेऽपि पदे एकीकृत्य निरुक्तवान् ।
गर्भ निधानमित्येते न जामय इति त्वृचि ॥ २ । १११–११३ ॥

अर्थात् यास्केन 'वृक्षे वृक्षे' (ऋ० १० । २७ । २२) इति मन्त्रव्याख्याने 'पूरुषादः' पदं 'पुरुषान् अदनाय' इत्येवं द्विधाकृत्य व्याख्यातम् (निरुक्त २।६)। एवमेव 'अरुणो मासकृद्' (ऋ० १ । १०५ । १८) इति मन्त्रव्याख्याने 'मा, सकृत्' इति द्वे पदे एकीकृत्य 'मासकृत् मासानां चाऽर्धमासानां च कर्ता' इत्येवं व्याख्याते (निरुक्त ५।२१)। इत्थमेव 'न जामये' (ऋ० ३।३१।२) ऋग्व्याख्याने 'गर्भं सनितुर्निधानम्' इत्येवं व्यवहिते 'गर्भं, निधानम्' पदे एकीकृत्य 'गर्भनिधानीम्' इत्येवं व्याख्याते (निरुक्त ३ । ६)। एवं च मन्त्रव्याख्याने द्वयोः पदयोरेकीभावः, एकस्य द्विर्भावश्च न दोषावह इति प्राचीनानां यास्कशौनकादीनां मतम् ।

२. अयमत्र भावः—'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इत्यनेन यो विहितो विच् प्रत्ययः, स कृतो बहुलमितिवार्त्तिकेन करणे कारके द्रष्टव्यः ।

सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः। (ध्रुवम्) निश्चलं सुखम्। (असि) भवति। (पृथिवीम्) विस्तृतां भूमिं, तत्स्थान् प्राणिनश्च। (दृंह) उत्तमगुणैर्वर्धय, वर्धयति वा। (ब्रह्मवनि) ब्रह्माणं[1] विद्वांसं वनति तम्। छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् (अ० ३।२।२७) अनेन ब्रह्मोपपदे वनधातोरिन् प्रत्ययः, सुपां सुलुग् [अ० ७।१।३९] इत्यमो लुक् च। (त्वा) त्वां तं वा। (क्षत्रवनि) क्षत्रं संभाजिनं वनति तम्। अत्राप्यमो लुक्। (सजातवनि) जातं जातं वनति स जातवनिः, समानश्चासौ जातवनिस्तम्। समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु (अ० ६।३।८४) अनेन समानस्य सकारादेशः। (उपदधामि) हृदये वेद्यां, विमानादियानेषु वा धारयामि। (भ्रातृव्यस्य)[2] द्विषतः शत्रोः। (वधाय) नाशाय हननाय॥ अयं मन्त्रः श० १।२।१।३—८ व्याख्यातः॥ १७॥

अन्वयः—हे अग्ने परमेश्वर! त्वं धृष्टिरसि। अतो निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेध। एवं मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षित्वा[3] दुःखमपजहि सुखं चावह। तथा हे परमेश्वर! त्वं ध्रुवमसि। अतः पृथिवीं दृंह। हे जगदीश्वराग्ने! यत ईदृशो भवान् तस्मादहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिं सजातवनिं त्वा त्वामुपदधामीत्येकोऽन्वयः॥

हे यजमान विद्वन्! यतोऽयम[ग्नेऽ]ग्निर्धृष्टिरस्यस्ति तथा चामान्निष्क्रव्याद्देवयजं यज्ञमावहति तस्मात्त्वमिममामादं निष्क्रव्यादं देवयजमग्निमावह। सेध अन्येभ्यस्तमेवं शिक्षय, तदनुष्ठानेन दोषानपजहि। यतोऽयमग्निः

१. 'ब्राह्मणं' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठो लेखकप्रमादजः। यद्वा 'ब्रह्माणं ब्राह्मणं' इत्येवं पठनीयम्।

२. भ्रातृव्यपदमाद्युदात्तमिह संहितायाम्। तच्च 'व्यन् सपत्ने' (अ० ४।१।१४५) इति व्यन्प्रत्ययान्तं नित्त्वादाद्युदात्तं सपत्नार्थे वर्तते। काण्वपाठे त्विह आद्युदात्तं भ्रातृव्यपदमपनुद्य तस्य स्थाने साक्षात् 'द्विषतो वधाय' इत्येवं पठ्यते। तेनानुमीयते यत् काण्वशाखाप्रवचनकाले स्वरज्ञाने शैथिल्यमजायत इति। अन्यथा स्वरेणार्थे निश्चिते क्व संशयावकाशः स्यात्, यदिह सपत्नपर्यायो वा ग्रहीतव्य उत भ्रातुष्पुत्र इति। सत्यप्येवं काण्वपाठे साक्षात् 'द्विषत्' पदस्याभिधानमस्मदनुमानं पोषयति। संस्कृतभाषातः स्वरलोपः कदा कथं च शनैःशनैरभवदिति परिज्ञानायास्मदीयो 'वैदिकस्वरमीमांसा' ग्रन्थोऽवलोकनीयः।

३. शिक्षयित्वा इति सर्वहस्तलेखेषु पठ्यते। शिक्षित्वा इत्यपि साधु। एतस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

सूर्यरूपेण [ध्रुवं] ध्रुवोऽस्यस्ति तस्मादयमाकर्षणेन पृथिवीं दृंह दृंहति धरति तस्मात् [त्वा] तमहं [ब्रह्मवनि] ब्रह्मवनिं [क्षत्रवनि] क्षत्रवनिं [सजातवनि] सजातवनिं भ्रातृव्यस्य वधायोपदधामि इति द्वितीयः ॥ १७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः[1]। सर्वशक्तिमतेश्वरेण[2] यतोऽयमामाद्दाहकस्वभावोऽग्नी रचितस्ततो नायं भस्मादिकं दग्धुं समर्थो भवति। येनामान् पदार्थान् पक्त्वाऽदन्ति, येनोदरस्थमन्नं पच्यते, [स आमात्,] येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति स क्रव्यात् संज्ञोऽग्निः, येनायं दिव्यगुणप्रापको विद्युदाख्यश्च रचितस्तथा येन पृथिवीधारणाकर्षणप्रकाशकः सूर्यो रचितः, यश्च ब्रह्मभिर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैः समानजन्मभिर्मनुष्यैश्च वन्यते संसेव्यते, तथा यः सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु वर्त्तमानः परमेश्वरो भौतिकोऽग्निर्वा, स एव सर्वैरुपास्यो भौतिकश्च क्रियासिध्यर्थं सेवनीय इति ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर! आप (धृष्टिः) प्रगल्भ अर्थात् अत्यन्त निर्भय (असि) हैं, इस कारण (निष्क्रव्यादम्) पके हुए भस्म आदि पदार्थों को छोड़ के (आमादम्) कच्चे पदार्थ जलानें और (देवयजम्) विद्वान् वा श्रेष्ठ गुणों से मिलाप कराने वाले (अग्निम्) भौतिक वा विद्युत् अर्थात् बिजुलीरूप अग्नि को आप (सेध) सिद्ध कीजिये। इस प्रकार हम लोगों के मङ्गल अर्थात् उत्तम उत्तम सुख होने के लिये शास्त्रों की शिक्षा करके दुःखों को (अपजहि) दूर कीजिये, और आनन्द को (आवह) प्राप्त कराइये। तथा हे परमेश्वर! आप (ध्रुवम्) निश्चल सुख देनेवाले (असि) हैं, इस से (पृथिवीम्) विस्तृत भूमि वा उसमें रहनेवाले मनुष्यों को (दृंह) उत्तम गुणों से वृद्धियुक्त कीजिये। हे (अग्ने) जगदीश्वर! जिस कारण आप अत्यन्त प्रशंसनीय हैं, इससे मैं (भ्रातृव्यस्य) दुष्ट वा शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि) ब्राह्मण क्षत्रिय तथा प्राणिमात्र के सुख वा दुःख व्यवहार के देनेवाले (त्वा) आप को (उप दधामि) हृदय में स्थापन करता हूं॥ यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ॥

तथा हे विद्वान् यजमान! जिस कारण यह (अग्ने) भौतिक अग्नि (धृष्टिः) अतितीक्ष्ण (असि) है, तथा निकृष्ट पदार्थों को छोड़ कर उत्तम पदार्थों से

१. इतोऽग्रे 'अत्र प्रथमान्वये परमेश्वरस्य, द्वितीये भौतिकस्य च ग्रहणम्' इति सर्वकोशेषूपलभ्यते। तन्मुद्रणकाले नष्टमपाकृतं वेति देव एव जानाति।
२. सर्वकोशेषु 'सर्वशक्तिमतेश्वरेण' इति शुद्धेऽपि पाठे 'सर्वशक्तिमतेनेश्वरेण' इत्यशुद्ध एव मुद्र्यतेऽद्य यावत्।

विद्वान् वा दिव्य गुणों को प्राप्त कराने वाले यज्ञ को प्राप्त कराता है, इस से तुम (निष्क्रव्यादम्) पके हुए भस्म आदि पदार्थों को छोड़ के (आमादम्) कच्चे पदार्थ जलाने और (देवयजम्) विद्वान् वा दिव्य गुणों के प्राप्त कराने वाले (अग्निम्) प्रत्यक्ष वा बिजुलीरूप अग्नि को (आवह) प्राप्त कराइये तथा उसके जानने की इच्छा करने वाले लोगों को शास्त्रों की उत्तम उत्तम शिक्षाओं के साथ उस का उपदेश (सेध) करो। तथा उस के अनुष्ठान में जो दोष हों उनको (अपजहि) विनाश करो, जिस कारण यह अग्नि सूर्यरूप से (ध्रुवम्) निश्चल (असि) है, इसी कारण यह आकर्षणशक्ति से (पृथिवीम्) विस्तृत भूमि वा उसमें रहने वाले प्राणियों को (दृंह) दृढ़ करता है, इसी से मैं उस (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि) ब्राह्मण, क्षत्रिय वा जीवमात्र के सुख दुःख को अलग अलग कराने वाले भौतिक अग्नि को (भ्रातृव्यस्य) दुष्ट वा शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये हवन करने की वेदी वा विमान आदि यानों में (उप दधामि) स्थापन करता हूं।। यह दूसरा अर्थ हुआ ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है[1]। सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने यह भौतिक अग्नि आम अर्थात् कच्चे पदार्थ जलाने वाला बनाया है, इस कारण भस्मरूप पदार्थों के जलाने को समर्थ नहीं है। जिससे कि मनुष्य कच्चे कच्चे पदार्थों को पका पका कर खाते हैं तथा जिस करके सब प्राणियों का खाया हुआ अन्न आदि द्रव्य पकता है [वह आमात्,] और जिस करके मनुष्य लोग मरे हुए शरीर को जलाते हैं वह क्रव्यात् अग्नि कहाता है, और जिससे दिव्य गुणों को प्राप्त कराने वाली विद्युत् बनी है तथा जिससे पृथिवी का धारण और आकर्षण करने वाला सूर्य बना है, और जिसे वेदविद्या के जानने वाले ब्राह्मण वा धनुर्वेद के जानने वाले क्षत्रिय वा सब प्राणीमात्र सेवन करते हैं, तथा जो सब संसारी पदार्थों में वर्त्तमान परमेश्वर है, वही सब मनुष्यों का उपास्य देव है। तथा जो क्रियाओं की सिद्धि के लिये भौतिक अग्नि है, यह भी यथायोग्य कार्य द्वारा सेवन करने के योग्य है।। १७ ॥

अग्ने ब्रह्मेत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता सर्वस्य। पूर्वस्य ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥ धर्त्रमसीति मध्यस्यार्ची त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥ विश्वाभ्य इत्युत्तरस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

---

१. इस के आगे 'प्रथमान्वय में परमेश्वर का और द्वितीय में भौतिक अग्नि का ग्रहण है' ऐसा ख-कोश में पाठ है। यह कैसे नष्ट हुआ, यह अज्ञात है।

पुनरग्निशब्देनोक्तावर्थावुपदिश्येते—

फिर भी अग्नि शब्द से अगले मन्त्र में पूर्वोक्त दोनों अर्थों का प्रकाश किया है ॥

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युप दधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युप दधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उप दधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

अग्ने । ब्रह्म । गृभ्णीष्व । धरुणम् । असि । अन्तरिक्षम् । दृꣳह । ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । सजातवनीति सजातऽवनि । उप । दधामि । भ्रातृव्यस्य । वधाय ॥ धर्त्रम् । असि । दिवम् । दृꣳह । ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । सजातवनीति सजातऽवनि । उप । दधामि । भ्रातृव्यस्य । वधाय ॥ विश्वाभ्यः । त्वा । आशाभ्यः । उप । दधामि । चितः । स्थ । ऊर्ध्वचित इत्यूर्ध्वऽचितः । भृगूणाम् । आङ्गिरसाम् । तपसा । तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर ! भौतिको वा । (ब्रह्म) वेदम् । (गृभ्णीष्व) ग्राहय, गृह्णाति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । हृग्रहोर्भश्छन्दसि [हस्य । अ० ८।२।३२ वा०] इति हकारस्य भकारः । (धरुणम्) धरति सर्वलोकान् यत्तत्, तेजश्च । (असि) अस्ति [वा] । अत्र पक्षे प्रथमार्थे मध्यमः । (अन्तरिक्षम्) आकाशस्थान् पदार्थान्, अन्तरात्मस्थमक्षयं ज्ञानं वा । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा (निरु० २ । १०) । (दृꣳह) दृढीकुरु, करोति वा । (ब्रह्मवनि) वेदं वनयति तम् । (त्वा) त्वाम् । (क्षत्रवनि) राज्यं वनयति तम् । (सजातवनि) समाना जाता विद्याः, समानं जातं राज्यं वा वनयति येन[1], तम् । (उपदधामि) धारयामि । [(भ्रातृव्यस्य)

१. कल-कोशयोः 'येन' इति नास्ति ।

द्विषतः शत्रोः । (वधाय) नाशाय हननाय वा ।][1] (धर्त्रम्) धरति यत्, येन वा । वायुर्वाव धर्त्रं चतुष्टोमः । स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुते तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रम् । वायुरु सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा, तदेव तद्रूपमुपदधाति, स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति, वायुमुत्तमं, वायुनैव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति (श० ८।२।१।१६) । अनेन प्रमाणेन धर्त्रशब्देन वायुरीश्वरश्च गृह्येते । (असि) अस्ति वा । (दिवम्) ज्ञानप्रकाशं सूर्यलोकं वा । (दृंह) सम्यग्वर्धय, वर्धयति वा । (ब्रह्मवनि) सर्वमनुष्यार्थं ब्रह्मणो वेदस्य विभाजितारम्[2], ब्रह्माण्डस्य मूर्त्तद्रव्यस्य प्रकाशकं वा । (त्वा) त्वां, तं वा । (क्षत्रवनि) राजधर्मप्रकाशस्य विभाजितारं[2], राजगुणानां दृष्टान्तेन प्रकाशयितारं वा । (सजातवनि) समानान् जातान् वेदान् क्षत्रधर्मान् मूर्त्तान् जगत्स्थान् पदार्थान् वा वनयति प्रकाशयति तम् । (विश्वाभ्यः) सर्वाभ्यः । (त्वा) त्वां, तं वा (आशाभ्यः) दिग्भ्यः । आशा इति दिङ्नामसु पठितम् (निघं० १ । ६) । [(उपदधामि) धारयामि । (भ्रातृव्यस्य) द्विषतः शत्रोः (वधाय) नाशाय हननाय वा ।][3] (उपदधामि) उपदधाति वा, सामीप्ये धारयामि, तेन पुष्णामि वा । (चितः) चेतयन्ति संजानन्ति ये ते चितः । अत्र वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्य [अ० ८ । ३ । ३६ वा०] इति वार्त्तिकेन विसर्जनीयलोपः । (स्थ) भवथ, भवन्ति वा । (ऊर्ध्वचितः) ऊर्ध्वानुत्कृष्टगुणान् चेतयन्ति ते मनुष्याः, चितानि कपालानि वा । (भृगूणाम्) भृज्जन्ति यैस्तेषाम् । (अङ्गिरसाम्) प्राणानामङ्गाराणां वा । प्राणो वा अङ्गिराः (श० ६ ।५ । २ । ३) । अङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः (निरु० ३ । १७) । (तपसा) धर्मविद्याऽनुष्ठानेन तापेन, तेजसा वा । (तप्यध्वम्) तपन्तु, तापयत वा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । १ । ६—१३ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने परमेश्वर ! त्वं धरुणमसि कृपयाऽस्मत्प्रयुक्तं ब्रह्म गृभ्णीष्व तथाऽस्माखन्तरिक्षमक्षयं विज्ञानं दृंह वर्धय । अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वोपदधामि । हे सर्वधातर्जगदीश्वर ! त्वं सर्वेषां लोकानां धर्त्रमसि कृपयाऽस्मासु दिवं ज्ञानप्रकाशं दृंह । अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा त्वामुपदधामि । [त्वा] त्वां

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठो लेखकप्रमादेन नष्टः ।

२. विभाजयितारं युक्तमित्याहुः साम्प्रतिकाः । विभाजितारमित्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

३. कोष्ठान्तर्गतः पाठो लेखकेन प्रमादात् त्यक्तः ।

सर्वव्यापकं ज्ञात्वा विश्वाम्य आशाम्य उपदधामि। हे मनुष्या! यूयमथैवं विदित्वा चित [स्थ] ऊर्ध्वचितः कपालानि कृत्वा भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वं यथा तपन्तु तथा तापयतेत्येकः ॥

हे विद्वन्! [अग्ने] येनाग्निना धरुणं ब्रह्मान्तरिक्षं गृह्यते दृह्यते च [त्वा] तं त्वं होमार्थं शिल्पविद्यासिध्यर्थं च गृम्णीष्व दृंह च। तथैवाहमपि भ्रातृव्यस्य वधाय [त्वा] तं ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि। एवं सोऽग्निर्धत्तः[1] सन् सुखमुपदधाति। एवं यो वायुर्धर्त्रं सर्वलोकधारकोऽस्ति दिवं च दृंह दृंहति तमहं यथा भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि। तथैव त्वमप्येतं तस्मै प्रयोजनायोपदृंह। हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो विद्वन्! येन वायुना पृथिवी द्यौः सूर्यलोकश्च धार्यते दृह्यते च, तं त्वं जीवनार्थं शिल्पविद्यायै च धारय दृंह च, ब्रह्मवनि इत्यादि पूर्ववत्। हे मनुष्याः! यथाऽहं वायुविद्यावित् त्वा तमग्निं वायुं च विश्वाम्य आशाम्य उपदधामि, तथैव यूयमप्युपधत्त। यज्ञार्थं शिल्पविद्यार्थमुपरिचित ऊर्ध्वचितः कपालानि कला धारितवन्तः सन्तो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वं तापयत च [इति द्वितीयः]॥ १८॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। ईश्वरेणेदमादिश्यते भवन्तो विद्वदुन्नतये मूर्खत्वविनाशाय सर्वशत्रूणां निवारणेन राज्यवर्धनाय च वेदविद्यां गृह्णीयुः। योऽग्नेर्वृद्धिहेतुः सर्वाधारको वायुरग्निमयः सूर्य ईश्वरश्च स्थ सन्ति, तान् सर्वासु दिक्षु विस्तृतान् व्यापकान् विदित्वा यज्ञसिद्धिं विमानादियानरचनं [च धर्मेण कुर्वन्तु, ताभ्यामग्निवायुभ्यां][2] यानानि[3] चालयित्वा दुःखानि निवार्य शत्रून् विजयन्ताम्॥ १८॥

---

१. 'धत्तः' इति सर्वकोशेषु मुद्रिते च पाठः। अस्मिन्नेव भाष्ये ४। ३१ मन्त्रपदार्थे 'अदधात्-धत्तवान्' इति विवृतम्। एवमेवर्ग्वेदादिभाष्यभूमिकायां वेदनित्यत्व-विचारे 'सपर्यगात्' मन्त्रव्याख्याने 'व्यदधात्-विधत्तवान्' इत्युक्तम्। एवमनेकस्थलेषु समानानां प्रयोगाणामुपलम्भान्निश्चितमेतद् यन्नैतादृशाः प्रमादजाः प्रयोगा इति। एतेषां यथा साधुत्वं भवति, तथा परिशिष्टे वक्ष्यामः।

२. कोष्ठान्तर्गतोऽयं पाठः ककोश उपलभ्यते। खकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् परित्यक्त इति प्रतीयते।

३. 'तानि' इति खगमु-पाठः। अत्रेदमवधेयम्-खकोशप्रतिलिपिकर्त्रा यदा पूर्वकोष्ठान्तर्गतः पाठः परित्यक्तः, तदा पूर्वापरसंबन्धयोजनाय 'यानानि' इति पदं 'तानि' इति रूपेण परिवर्तितं स्यात्।

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (धरुणम्) सब के धारण करने वाले (असि) हैं, इससे मेरी (ब्रह्म) वेदमन्त्रों से की हुई स्तुति को (गृभ्णीष्व) ग्रहण कीजिये । तथा (अन्तरिक्षम्) आत्मा में स्थित जो अक्षय ज्ञान है, उसको (दृंह) बढ़ाइये । मैं (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि) सब मनुष्यों के सुख के निमित्त वेद के[1] तथा (क्षत्रवनि) राजधर्म के प्रकाश करनेहारे (सजातवनि) जो परस्पर समान क्षत्रियों के धर्म और संसारी मूर्तिमान् पदार्थ हैं इन [का] प्राणियों के लिये अलग अलग प्रकाश करनेवाले (त्वा) आपको (उपदधामि) हृदय के बीच में धारण करता हूं। हे सब के धारण करनेवाले परमेश्वर ! जो आप (धर्त्रम्) लोकों के धारण करनेवाले [(असि)] हैं, इससे कृपा करके हम लोगों में (दिवम्) अत्युत्तम ज्ञान को (दृंह) बढ़ाइये । और मैं (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि) उक्त वेद, राज्य वा परस्पर समान विद्या वा राज्यादि व्यवहारों को यथायोग्य विभाग करनेवाले (त्वा) आपको (उपदधामि) वारंवार अपने हृदय में धारण करता हूं । तथा मैं (त्वा) आपको सर्वव्यापक जानकर (विश्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) दिशाओं से सुख होने के निमित्त वारंवार (उपदधामि) अपने मन में धारण करता हूं । हे मनुष्यो ! तुम लोग उक्त व्यवहार को अच्छी प्रकार जानकर (चितः) विज्ञानी (ऊर्ध्वचितः) उत्तम ज्ञानवाले पुरुषों की प्रेरणा से [शिल्पकला के निमित्त] कपालों को अग्नि पर धरके तथा (भृगूणाम्) जिनसे विद्या आदि गुणों को प्राप्त होते हैं, ऐसे (अङ्गिरसाम्) प्राणों के (तपसा) प्रभाव से (तप्यध्वम्) तपो और तपाओ[2] ॥ यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ ॥

अब दूसरा भी कहते हैं—हे विद्वान् धर्मात्मा पुरुष ! जिस (अग्ने) भौतिक अग्नि से (धरुणम्) सब का धारण करनेवाला तेज (ब्रह्म) वेद और (अन्तरिक्षम्) आकाश में रहनेवाले पदार्थ ग्रहण वा वृद्धियुक्त किये जाते हैं, (त्वा) उसको तुम होम वा शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये (गृभ्णीष्व) ग्रहण करो वा (दृंह) विद्यायुक्त क्रियाओं से बढ़ाओ, और मैं भी (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (त्वा) उस (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि) संसारी मूर्तिमान् पदार्थों के प्रकाश करने वा राजगुणों के दृष्टान्तरूप से प्रकाश करानेवाले भौतिक अग्नि को शिल्पविद्या आदि व्यवहारों में (उपदधामि) स्थापन

---

१. इसके आगे 'शाखाशाखान्तर द्वारा विभाग करने वाले ब्राह्मण' पाठ पूर्व मुद्रित में है। यह संस्कृत पाठ से विपरीत तथा सिद्धान्त विपरीत होने से परित्यक्तव्य है ।

२. अर्थात् तप करो और कराओ ।

करता हूं। ऐसे स्थापन किया हुआ अग्नि हमारे अनेक सुखों को धारण करता है। इसी प्रकार सब लोकों का (धर्त्रम्) धारण करनेवाला [जो] वायु (असि) है [वह] (दिवम्) प्रकाशमय सूर्यलोक को (दृंह) दृढ़ करता है। हे मनुष्यो ! जैसे उसको मैं (भ्रातृव्यस्य) अपने शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि) वेद, राज्य वा परस्पर समान उत्तम उत्तम शिल्पविद्याओं को यथायोग्य कार्यों में युक्त करनेवाले उस भौतिक वायु को (उपदधामि) स्थापन करता हूं, वैसे तुम भी उत्तम उत्तम क्रियाओं में युक्त करके विद्या के बल से उसको बढ़ाओ। हे [शिल्प]विद्या चाहनेवाले पुरुष ! जो पवन पृथिवी और सूर्य आदि लोकों को धारण कर रहा है, उसे तुम अपने जीवन आदि सुख वा शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये यथायोग्य कार्यों में लगाकर उनकी विद्या से (दृंह) वृद्धि करो। तथा जैसे हम अपने शत्रुओं के विनाश के लिये अग्नि के उक्त गुणों के समान वायु को शिल्पविद्या आदि व्यवहारों में (उपदधामि) संयुक्त करते हैं, वैसे ही तुम भी अपने अनेक दुःखों के विनाश के लिये उसको यथायोग्य कार्यों में संयुक्त करो। हे मनुष्यो ! जैसे मैं वायुविद्या का जाननेवाला (त्वा) उस अग्नि वा वायु को (विश्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) दिशाओं से सुख होने के लिये यथायोग्य शिल्पव्यवहारों में (उपदधामि) धारण करता हूं, वैसे तुम भी धारण करो। तथा शिल्पविद्या वा होम करने के लिये (चितः, ऊर्ध्वचितः) पदार्थों के भरे हुए पात्र वा सवारियों में स्थापन किये हुए कलायन्त्रों को (भृगूणाम्) जिनसे पदार्थों को पकाते हैं उन [(अङ्गिरसाम्)] अङ्गारों के (तपसा) ताप से (तप्यध्वम्) उक्त पदार्थों को तपाओ [यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ।] ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। ईश्वर का यह उपदेश है कि हे मनुष्यो ! तुम विद्वानों की उन्नति तथा मूर्खपन का नाश वा सब शत्रुओं की निवृत्ति से राज्य बढ़ाने के लिये वेदविद्या को ग्रहण करो तथा वृद्धि का हेतु अग्नि वा सब का धारण करनेवाला वायु, अग्निमय सूर्य और ईश्वर इन्हें सब दिशाओं में व्याप्त जानकर यज्ञसिद्धि वा विमान आदि यानों की रचना धर्म के साथ करो तथा इन से इन को सिद्ध कर के दुःखों को दूर कर के शत्रुओं को जीतो ॥ १८ ॥

शर्मासीत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ यज्ञस्य स्वरूपमङ्गानि चोपदिश्यन्ते—

८

इस के अनन्तर ईश्वर ने यज्ञ का स्वरूप और इसके अङ्ग अगले मन्त्र में उपदेश किये हैं ॥

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवः स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु ॥ १९ ॥

शर्म । असि । अवधूतमित्यवऽधूतम् । रक्षः । अवधूता इत्यवऽधूताः । अरातयः । अदित्याः । त्वक् । असि । प्रति । त्वा । अदितिः । वेत्तु ॥ धिषणा । असि । पर्वती । प्रति । त्वा । अदित्याः । त्वक् । वेत्तु । दिवः । स्कम्भनीः । असि । धिषणा । असि । पार्वतेयी । प्रति । त्वा । पर्वती । वेत्तु ॥ १९ ॥

पदार्थः—(शर्म) सुखहेतुः । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अवधूतम्) विनाशितम् । (रक्षः) दुःखं निवारणीयम् । (अवधूताः) निवारणीया, विचालिता, हताः । अवेति विनिग्रहार्थीयः (निरु० १ । ३) । (अरातयः) अदानस्वभावाः कृपणाः । (अदित्याः) अन्तरिक्षस्य । (त्वक्) त्वग्वत् । (असि) भवति । (प्रति) क्रियार्थे । (त्वा) तं यज्ञम् । (अदितिः) यज्ञस्यानुष्ठाता यजमानः । अदितिरिति पदनामसु पठितम् (निघं० ५ । ५) इति यज्ञस्य ज्ञाता पालकार्थो गृह्यते । (वेत्तु) जानातु । (धिषणा) वाक्, वेदवाणी ग्राह्या । धिषणेति वाङ्नामसु पठितम् (निघं० १ । ११) । धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा । धृषेर्धिष च संज्ञायाम् (उ० २ । ८२) अनेनायं शब्दः सिद्धः । महीधरेण धिषणेदं पदं धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या व्याख्यातम्[1] । (असि)

१. यथा महीधरेण धिषणा पदं व्याख्यातं तथाऽत्राभिप्रेतमभविष्यत्तर्हि पदकारो भगवान् माध्यन्दिनिः 'धिषणेति धिऽषणा' इत्येवमवग्रहं प्रादर्शयिष्यत् । तस्मात् पदपाठेऽनवग्रहीतत्वात् महीधरव्याख्यानं पदपाठविरुद्धमिति स्पष्टम् । किंच एकस्माद् धातोः पदे सिद्धे धातुद्वयकल्पनाया गौरवात्, स्वरदोषाच्चाप्य-युक्तत्वं द्रष्टव्यम् । यथा महीधरव्याख्यानं तथा 'थाथघञ्क्ताच्०' (अ० ६।२। १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं प्राप्नोति, इष्यते चास्य मध्योदात्तत्वम् । तच्चोणादिसूत्रानुसारं सम्यगुपपद्यते ।

भवति। (पर्वती) पर्वणं पर् बहुज्ञानं विद्यतेऽस्यां क्रियायां सा पर्वती। अत्र संपदादित्वात् [द्र० अ० ३ । ३ । १०८ वा०] क्विप्, भूम्नि मतुप्, उगितश्च [अ० ४ । १ । ६] इति ङीप्। (प्रति) वीप्सार्थे। (त्वा) तां ताम्। (अदित्याः) प्रकाशस्य। (त्वक्) त्वचति संवृणोत्यनया सा। (वेत्तु) जानातु। (दिवः) प्रकाशवतः सूर्य्यादिलोकस्य। (स्कम्भनीः) स्कम्भं प्रतिबद्धं नयतीति सा। (असि) भवति। (धिषणा) धारणावती द्यौः धिषणे [इ]ति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् (निघं ३ । ३०)। (असि) अस्ति। (पार्वतेयी) पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी। पर्वत इति मेघनामसु पठितम् (निघं० १ । १०) पर्वतस्येयं घनपङ्क्तिः पार्वती, तस्यापत्यं दुहितेव पार्वतेयी वृष्टिः। स्त्रीभ्यो ढक् (अ० ४।१।१२०) अनेन ढक्। (प्रति) इत्थं भूताख्याने। (त्वा) तामीदृशीम्। (पर्वती) पः प्रशस्तं प्रापणं यस्यां सा, अत्र प्रशंसार्थे मतुप्। (वेत्तु) जानातु॥ अयं मन्त्रः श० १। २। १। १४—१७ व्याख्यातः॥ १९॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! भवन्तो यो यं यज्ञः शर्मासि सुखदोऽदितिर्नाशरहितोऽस्ति येन रक्षोऽवधूतं दुःखमरातयोऽवधूता[1] विनष्टाश्च भवन्ति, योऽदित्या अन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च [त्वक्] त्वग्वदस्यस्ति। त्वा तं [प्रति] वेत्तु विदन्तु, येन विद्याख्येन यज्ञेन पर्वती दिवः स्कम्भनी पार्वतेयी धिषणाऽदित्यास्त्व[क् त्व]ग्वद्विस्तार्यते, त्वा तं प्रतिवेत्तु यथावज्जानन्तु येन सत्संगत्याख्येन पर्वती ब्रह्मज्ञानवती धिषणा प्राप्यते [त्वा] तमपि प्रतिवेत्तु जानन्तु[2]॥ १९॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यो विज्ञानेन सम्यक् सामग्रीं संपाद्य यज्ञोऽनुष्ठीयते। यश्च वृष्टिबुद्धिवर्धकोऽस्ति, सोऽग्निना मनसा च संसाधितः सूर्यप्रकाशं त्वग्वत्सेवते॥ १९॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग जो यज्ञ (शर्म) सुख का देने वाला (असि) है और (अदितिः) नाशरहित है, तथा जिससे (रक्षः) दुःख और दुष्टस्वभावयुक्त मनुष्य (अवधूतम्) विनाश को प्राप्त तथा (अरातयः) दान आदि धर्मों से रहित पुरुष (अवधूताः) नष्ट होते हैं, और जो (अदित्याः)

---

१. अत्र 'शर्म सुखदोऽदितिर्नाशरहितोऽस्यस्ति, येन रक्षो दुःखमवधूतमरातयोऽवधूता' इत्येवं पाठक्रमः साधु स्यात्।
२. अत्रान्वयेऽनेके 'असि' निर्देशास्त्यक्ताः।

अन्तरिक्ष वा पृथिवी के (त्वक्) त्वचा के समान (असि) है, (त्वा) उसे (प्रतिवेत्तु) जानो और जिस विद्यारूप उक्त यज्ञ से (पर्वती) बहुत ज्ञान वाली (दिवः) प्रकाशमान सूर्यादि लोकों की (स्कम्भनीः) रोकने वाली, तथा (पार्वतेयी) मेघ की कन्या अर्थात् पृथिवी के तुल्य (धिषणा) वेदवाणी, (अदित्याः) पृथिवी के (त्वक्) शरीर के तुल्य विस्तार को प्राप्त होती है, (त्वा) उसे (प्रतिवेत्तु) यथावत् जानो। और जिस सत्संगतिरूप यज्ञ से (पर्वती) उत्तम उत्तम ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाली (धिषणा) द्यौः अर्थात् प्रकाशरूपी बुद्धि (असि) प्राप्त होती है, (त्वा) उसे भी (प्रतिवेत्तु) जानो ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को अपने विज्ञान से अच्छी प्रकार पदार्थों को इकट्ठा करके उन से यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, जो कि वृष्टि वा बुद्धि का बढ़ाने वाला है वह अग्नि और मन से शुद्ध किया हुआ [यज्ञ] सूर्य के प्रकाश को त्वचा के समान सेवन करता है ॥ १६ ॥

धान्यमसीत्यस्य ऋषिः स एव। सविता देवता। विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवत स्वरः॥

कस्मै प्रयोजनाय स यज्ञः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते—

किस प्रयोजन के लिये उक्त यज्ञ करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है॥

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रति गृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि ॥ २० ॥

धान्यम्। असि। धिनुहि। देवान्। प्राणाय। त्वा। उदानायेत्युत्ऽआनाय। त्वा। व्यानायेति विऽआनाय। त्वा। दीर्घाम्। अनु। प्रसितिमिति प्रऽसितिम्। आयुषे। धाम्। देवः। वः। सविता। हिरण्यपाणिरिति हिरण्यऽपाणिः। प्रति। गृभ्णातु। अच्छिद्रेण। पाणिना। चक्षुषे। त्वा। महीनाम्। पयः। असि ॥ २० ॥

पदार्थः—(धान्यम्) धातुमर्हं यत् यज्ञात् शुद्धम् । रोगनाशकेन स्वादिष्ठतमेन[1] सुखकारकं व्रीह्यादिक[2]मन्नं तत् । अत्र दधातेर्यन्नुट् च (उ० ५ । ४८) अनेन यत् प्रत्ययो नुडागमश्च । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (धिनुहि) धिनोति प्रीणाति । अत्र लडर्थे लोट् । (देवान्) विदुषो जीवानिन्द्रियाणि च । (प्राणाय) प्रकृष्टमन्यते जीव्यते येन, तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय । (त्वा) तत् । (उदानाय) स्फूर्त्तिहेतव ऊर्ध्वमन्यते चेष्ट्यते येन, तस्मै उत्क्रमणपराक्रमहेतवे । (त्वा) तत् । (व्यानाय) विविधमन्यते व्याप्यते येन, तस्मै सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्याङ्गानां च व्याप्तिहेतवे । (त्वा) तत् । अत्र त्रिषु प्रथमार्थे मध्यमः[3] । (दीर्घाम्) विस्तृताम् । (अनु) पश्चादर्थे । (प्रसितिम्) प्रकृष्टं सिनोति बध्नात्यनया ताम् । (आयुषे) पूर्णायुर्वर्धनेन सुखभोगाय । (धाम्) दधामि । अत्र छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अ० ३।४।६] इति वर्त्तमाने लुङ् अडभावश्च । (देवः) प्रकाशमानः प्रकाशहेतुर्वा । (वः) अस्मान्, एतान् जगत्स्थान् स्थूलान् पदार्थांश्च । (सविता) सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यदातेश्वरः, सूर्यलोको वा । (हिरण्यपाणिः) हिरण्यस्यामृतस्य मोक्षस्य दानाय पाणिर्व्यवहारो यस्य सः । अमृतᳬ हिरण्यम् (श० ७ । ४ । १ । १५) । यद्वा हिरण्यं प्रकाशार्थं ज्योतिः पाणिर्व्यवहारो यस्य सः । (प्रतिगृभ्णातु) प्रतिगृह्णातु प्रतिगृह्णाति वा ।

१. क—हेतौ तृतीया । रोगनाशकेन स्वादिष्ठतमेन च हेतुनेत्यर्थः ।
ख–भाषायामातिशायिकादपर आतिशायिकः प्रत्ययो नेष्यत इति पुरुषोत्तमदेवः (भाषावृत्ति ५ । ३ । ६१) । पुनः प्रकर्षविवक्षायां भवतीति काशिकाकृत् (५ । ३ । ५५) । तथा च प्रयुज्यते—अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा (महाभारत आदि० ७४ । ४१) । युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम् (काशिकायामुद्धृतः) इति च ।

वस्तुतस्तु आतिशायिकादपरः समानः प्रत्ययो न भवति, असमानस्तु भवत्येव, मत्वर्थीयादिवत् । तेन 'शैषिकान् मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः । सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सनन्तान्न सनिष्यते' (महाभाष्य ३ । १ । ७) इत्यत्राऽऽतिशायिकस्याप्युपसंख्यानं कर्तव्यम् ।

२. 'व्रीह्यादिकं' इति खकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तम् ।

३. प्रथममध्यमशब्दौ तिङां प्रथमद्वितीयत्रिकयोर्वाचकौ । इह तत्सहचारोपाधिनः लक्षणया शेषे युष्मदि चोपपदे प्रयुक्तौ । तेनायं भावः—इह मन्त्रे त्रिः प्रयुक्तः 'त्वा' शब्दः तच्छब्दार्थे द्रष्टव्यः । अन्तिमस्त्वन्यार्थः ।

अत्र हृग्रहोः० [अ० ८ । २ । ३२ वा०] इति हस्य भः । पक्षे लडर्थे लोट् च । (अच्छिद्रेण) निरन्तरेण व्यापनेन प्रकाशेन वा । (पाणिना) स्तुतिसमूहेन व्यवहारेण तेजसा । (चक्षुषे) प्रत्यक्षज्ञानाय, नेत्रव्यवहाराय च । (त्वा) तं च[1] । (महीनाम्) महतीनां वाचां पृथिवीनां वा । महीति वाङ्नामसु पठितम् (निघं० १ । ११) पृथिवीनामसु (निघं० १ । १) च । (पयः) अन्नं जलं च येन शुद्धम् । पय इत्युदकनामसु पठितम् (निघं० १ । १२) । (असि) अस्ति ॥[2] अयं मन्त्रः श० १ । २ । १ । १८—२२ । व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—यदिदं यज्ञशोधितं धान्यम[स्य]स्ति यच्च यज्ञशोधितं पयो[ऽस्य]स्ति तत् देवान् धिनुहि धिनोति, तस्माद्यथाऽहं [त्वा] तत् प्राणाय [त्वा] तदुदानाय [त्वा] तद् व्यानाय दीर्घां प्रसितिमायुषे [धाम्] दधामि, तथैव यूयं सर्वे मनुष्यास्तस्मै प्रयोजनायैतन्नित्यं धत्त । यथा यो [वो]ऽस्मान् हिरण्यपाणिर्देवः सविता जगदीश्वरोऽच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे [त्वा] प्रत्यनुगृभ्णातु प्रकृष्टतयानुगतं गृह्णाति, तथैव वयं तम्[3] ।

यथा[4] च हिरण्यपाणिर्देवः सविता सूर्यलोको महीनां चक्षुषेऽच्छिद्रेण, पाणिना पयो गृहीत्वा धान्यं पोषयति तथैव तं वयमपि अच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे प्रतिगृह्णीमः ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः । ये यज्ञेन शोधिता अन्नजलवाय्वादयः पदार्था भवन्ति, ते सर्वेषां शुद्धये, बलपराक्रमाय, दृढाय[5] दीर्घायुषे च समर्था भवन्ति । तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरेतद्यज्ञकर्म नित्यमनुष्ठेयम् । तथा च परमेश्वरेण या महती पूज्या वाक् प्रकाशितास्त्यस्याः प्रत्यक्षकरणायेश्वरानुग्रहापेक्षा स्वपुरुषार्थता च कार्या । यथेश्वरः परोपकारिणां नृणामुपर्यनुग्रहं करोति, तथैवाऽस्माभिरपि सर्वेषां प्राणिनामुपरि नित्यमनुग्रहः कार्यः । यथाऽयमन्तर्यामीश्वरः सूर्यलोकश्चाध्यात्मनि[6] वेदेषु च सत्यं ज्ञानं, मूर्त्तद्रव्याणि च नैरन्तर्येण

---

१. 'व्यवहारेण' इत्यारभ्य 'तं च' इत्यन्तः पाठः स्वकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः । अत एव पूर्वमुद्रिते नोपलभ्यते ।
२. '(असि) अस्ति' अयमपि स्वकोशप्रतिलिपिकारेण प्रमादात् त्यक्तः ।
३. 'गृह्णीमः' इति शेषः ।
४. द्वितीयार्थस्य स्वल्पोंऽशो ग्रन्थकर्त्रालिखितः, शेषः पूर्ववद् ऊहनीयः ।
५. भावार्थे 'दृढाय' इत्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।
६. 'अध्यात्मनि' इत्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

प्रकाशयति, तथैव सर्वैरस्माभिर्मनुष्यैः सर्वेषां सुखायाऽखिला विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य नित्यं प्रकाशनीयाः । ताभिः पृथिवीराज्यसुखं नित्यं कार्यमिति ॥ २० ॥

पदार्थः—जो (धान्यम्) यज्ञ से शुद्ध उत्तम स्वभाववाला, सुख का हेतु, रोग का नाश करनेवाला, तथा चावल आदि अन्न [(असि) है, तथा] (पयः) जल (असि) है, वह (देवान्) विद्वान् वा जीव तथा इन्द्रियों को (धिनुहि) तृप्त करता है, इस कारण हे मनुष्यो ! मैं जिस प्रकार (त्वा) उसे (प्राणाय) अपने जीवन के लिये वा (त्वा) उसे (उदानाय) स्फूर्ति बल और पराक्रम के लिये वा (त्वा) उसे (व्यानाय) सब शुभ गुण, शुभ कर्म वा विद्या के अङ्गों के फैलाने के लिये तथा (दीर्घाम्) बहुत दिनों तक (प्रसितिम्) अत्युत्तम सुखबन्धनयुक्त [यज्ञक्रिया को] (आयुषे) पूर्ण आयु के भोगने के लिये (धाम्) धारण करता हूं, वैसे तुम भी उक्त प्रयोजन के लिये उस को नित्य धारण करो । जैसे (वः) हम लोगों को (हिरण्यपाणिः) जिस का मोक्ष देना ही व्यवहार है, ऐसा सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा ([देवः] सविता) सब ऐश्वर्य का दाता ईश्वर (अच्छिद्रेण) अपनी व्याप्ति वा [(पाणिना)] उत्तम व्यवहार से (महीनाम्) वाणियों के [(चक्षुषे)] प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये [(त्वा) उसे] (प्रत्यनुगृभ्णातु) अपने अनुग्रह से ग्रहण करता है, वैसे ही हम भी उस ईश्वर को (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पाणिना) स्तुतियों से ग्रहण करें ।

[1]और जैसे (हिरण्यपाणिः) पदार्थों का प्रकाश करने वाला ([देवः] सविता) सूर्यलोक (महीनाम्) लोकलोकान्तरों की पृथिवियों में नेत्रव्यवहार के लिये (अच्छिद्रेण) निरन्तर तीव्र प्रकाश से (पयः) जल को (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करके अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करता है, वैसे ही हम लोग भी उसे (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पाणिना) व्यवहार से (महीनाम्) पृथिवी के (चक्षुषे) पदार्थों की दृष्टिगोचरता के लिये स्वीकार करते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है । जो यज्ञ से शुद्ध किये हुए अन्न, जल और पवन आदि पदार्थ हैं, वे सब की शुद्धि, बल, पराक्रम और दृढ दीर्घ आयु के लिये समर्थ होते हैं । इस से सब मनुष्यों को यज्ञकर्म का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये । तथा परमेश्वर की प्रकाशित की हुई जो वेदचतुष्टयी अर्थात् चारों वेदों की वाणी है, उस के प्रत्यक्ष करने के लिये ईश्वर के अनुग्रह की इच्छा

१. यहां से आगे द्वितीय सूर्यपरक अर्थ का कुछ अंश दर्शाया है, शेष भी ऊहा कर लेनी चाहिए ।

तथा अपना पुरुषार्थ करना चाहिये, और जिस प्रकार परोपकारी मनुष्यों पर ईश्वर कृपा करता है, वैसे ही हम लोगों को भी सब प्राणियों पर नित्य कृपा करनी चाहिये। अथवा जैसे अन्तर्यामी ईश्वर आत्मा और वेदों में सत्य ज्ञान तथा सूर्यलोक संसार में मूर्तिमान् पदार्थों का निरन्तर प्रकाश करता है, वैसे ही हम सब लोगों को परस्पर सब के सुख के लिये संपूर्ण विद्या दृष्टिगोचर करके नित्य प्रकाशित करनी चाहिये, और उनसे हमको पृथिवी के चक्रवर्ती राज्य आदि अनेक उत्तम उत्तम सुखों को उत्पन्न निरन्तर करना चाहिये ॥ २० ॥

देवस्य त्वेत्यस्यर्षिः स एव। यज्ञो देवता सर्वस्य। आदौ संवपामीत्यन्तस्य गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः। अन्त्यस्य विराट् निचृत् पङ्क्ति[1]श्छन्दः पञ्चमः स्वरः॥

ईश्वरेण, याभ्य ओषधिभ्योऽन्नादिकं जायते, ताः कथं शुद्धा जायन्त इत्युपदिश्यते—

जिन ओषधियों से अन्न बनता है, वे यज्ञादि करने से कैसे शुद्ध होती हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। सं व॑पामि सम॑प॒ ओष॑धीभिः॒ समोष॑धयो॒ रसे॑न। सꣳ रे॒वती॒र्जग॑तीभिः पृच्यन्ता॒ꣳ सं मधु॑मती॒र्मधु॑मतीभिः पृच्यन्ताम्॥ २१॥

दे॒वस्य॑। त्वा॒। स॒वि॒तुः। प्र॒स॒व इति॑ प्र॒ऽस॒वे। अ॒श्विनोः॑। बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म्। पू॒ष्णः। हस्ता॑भ्याम्॥ सम्।

---

१. विराट् शब्दो द्व्यक्षरन्यूनतां प्रदर्शयति, निचृच्चैकाक्षरन्यूनताम्। न चात्र कथंचित् द्व्यक्षरन्यूनताप्रदर्शनं सम्भवति, पङ्क्तावेकाक्षरस्यैव न्यूनत्वात्, द्व्यक्षरादधिकाक्षरन्यूनत्वे छन्दोऽन्तरप्रसक्तेश्च। तस्मादत्र विराट् पदं चिन्त्यम्। यद्वा 'निचृद् विराट् पङ्क्तिः' इत्येवं पठनीयम्। तस्यामयर्थः— विराडपरनाम्नि पङ्क्तिछन्दसि एकोऽक्षरो न्यूनः। विराट् शब्दः पङ्क्तेरर्थे ऋग्वेद एव श्रूयते—'विराण्मित्रावरुणयोः' (१०।१३०।५)। पङ्क्तिपर्यायत्वमेवाश्रित्य भगवान् पिङ्गलः पङ्क्तिछन्दसः मित्रावरुणौ देवते इत्याह। एतच्छ्रुति विषये विशेष उहोऽस्मदीये 'वैदिकछन्दोमीमांसा' ग्रन्थे (अ० १३) अवलोकनीयः।

वपामि । सम् । आपः । ओषधीभिः । सम् । ओषधयः । रसेन । सम् । रेवतीः । जगतीभिः । पृच्यन्ताम् । सम् । मधुमतीरिति मधुऽमतीः । मधुमतीभिरिति मधुऽमतीभिः । पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(देवस्य) विधातुरीश्वरस्य, द्योतकस्य सूर्यस्य वा । (त्वा) तं त्रिविधं यज्ञम् । (सवितुः) सवति सकलैश्वर्यं जनयति तस्य । (प्रसवे) उत्पादितेऽस्मिन् संसारे । (अश्विनोः) प्रकाशभूम्योः । द्यावापृथिव्यावित्येके (निरु० १२ । १) । (बाहुभ्याम्) तेजोदृढत्वाभ्याम् । (पूष्णः) पुष्टिकर्तुर्वायोः । पूषेति पदनामसु पठितम् (निघं० ५ । ६) अनेन पुष्टिहेतुर्गृह्यते । (हस्ताभ्याम्) प्राणापानाभ्याम् । (सम्) सम्यगर्थे । (वपामि) विस्तारयामि[1] । (सम्) संमेलने । समित्येकीभावं प्राह (निरु० १ । ३) । (आपः) जलानि । आप इत्युदकनामसु पठितम् (निघं० १ । १२) । (ओषधीभिः) यवादिभिः । ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा (निरु० ६ । २७) । (सम्) सम्यगर्थे । (ओषधयः) यवादयः । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः (मनुस्मृतौ अ० १, श्लो० ४६) । (रसेन) सारेणार्द्रेणानन्दकारकेण । (सम्) प्रशंसार्थे । (रेवतीः) रेवत्य आपः । अत्र सुपां सुलुग् [अ० ७ । १ । ३९] इति पूर्वसवर्णादेशः । (जगतीभिः) उत्तमाभिरोषधीभिः । (पृच्यन्ताम्) मेल्यन्ताम्, पृच्यन्ते वा । (सम्) श्रैष्ठ्ये । (मधुमतीः) मधुः प्रशस्तो रसो विद्यते यासु, ता मधुमत्य आपः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप्, सुपां सुलग् [अ० ७ । १ । ३९] इति पूर्वसवर्णादेशश्च । (मधुमतीभिः) मधुर्बहुविधो रसो वर्त्तते यासु ताभिरोषधीभिः । अत्र भूमार्थे मतुप् । (पृच्यन्ताम्) युक्त्या वैद्यकशिल्पशास्त्ररीत्या मेल्यन्ताम् ॥ अयं मन्त्रः श० १।२।२।१—२ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽहं सवितुर्देवस्य परमात्मनः प्रसवे सवितृमण्डलस्य प्रकाशे चाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां यमिमं यज्ञं संवपामि, तथैव त्वा तं यूयमपि संवपत । यथैतस्मिन्प्रसवे प्रकाशे चौषधीभिराप ओषधयो रसेन जगतीभी [रेवती] रेवत्यश्च संपृच्यन्ते, यथा च मधुमतीभि- [र्मधुमती]र्मधुमत्यः संपृच्यन्ते । तथैवौषधीभिरोषधय ओषधयो रसेन

---

१. वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते । महाभाष्य १ । ३ । १ ॥ प्रकिरणं च विस्तारणमेव ।

जगतीभिः सह रेवत्यश्चास्माभिः संपृच्यन्ताम् । एवं मधुमतीभिः सह मधुमत्यो नित्यं संपृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः । विद्वद्भिर्मनुष्यैरीश्वरोत्पादिते सूर्यप्रकाशितेऽस्मिन् जगति बहुविधानां संप्रयोक्तव्यानां द्रव्याणां संप्रयोक्तुमर्हैर्बहुविधैर्द्रव्यैः सह संमेलनेन त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेयः । यथा जलं स्वरसेनौषधीर्वर्धयति, ता उत्तमरसयोगाद्रोगनाशकत्वेन सुखदायिन्यो भवन्ति, यथेश्वरः कारणात्कार्यं यथावद्रचयति, सूर्यः सर्वं जगत्प्रकाश्य सततं रसं भित्त्वा पृथिव्याद्याकर्षति, वायुश्च धारयित्वा पुष्णाति, तथैवाऽस्माभिरपि यथावत्संस्कृतैः संप्रयोजितैर्द्रव्यैर्विद्वत्सङ्ग-विद्योन्नतिहोमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुवृष्टिजलशुद्धयश्च[1] सदैव कार्या इति ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं (सवितुः) सकल ऐश्वर्य के देने वाले (देवस्य) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए प्रत्यक्ष संसार में, वा सूर्यलोक के प्रकाश में (अश्विनोः) सूर्य और भूमि के (बाहुभ्याम्) तेज वा दृढ़ता से (पूष्णः) पुष्टि करनेवाले वायु के (हस्ताभ्याम्) प्राण और अपान से (त्वा) पूर्वोक्त तीन प्रकार के यज्ञ का (संवपामि) विस्तार करता हूं, वैसे ही तुम भी उसको विस्तार से सिद्ध करो । जैसे इस उत्पन्न किये हुए संसार में (ओषधीभिः) यवादि ओषधियों से (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधी (रसेन) आनन्दकारक रस से तथा (जगतीभिः) उत्तम ओषधियों से (रेवतीः) उत्तम जल [(सम्) उत्तम रीति से मिलाये जाते हैं] और जैसे (मधुमतीभिः) अत्यन्त मधुर रसयुक्त ओषधियों से (मधुमतीः) अत्यन्त उत्तम रसरूप जल, ये सब मिल कर [(सम्) भली प्रकार] वृद्धियुक्त होते हैं, वैसे हम सब लोगों को भी ओषधियों से जल और ओषधि उत्तम जल से तथा सब उत्तम ओषधियों से उत्तम रसयुक्त जल [(संपृच्यन्ताम्) उत्तम रीति से मिलाने चाहियें ।] तथा अत्युत्तम मधुर रसयुक्त ओषधियों से प्रशंसनीय रसरूप जल, इन सबों का यथायोग्य परस्पर (संपृच्यन्ताम्) युक्ति से वैद्यक वा शिल्पशास्त्र की रीति से मेल करना चाहिये ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है । विद्वान् मनुष्यों को ईश्वर के उत्पन्न किये हुए सूर्य से प्रकाश को प्राप्त हुए इस संसार में अनेक प्रकार से

१. एतेन ज्ञायते 'वायुवृष्टिजलशुद्धिविमानादियानसिद्धयश्च' इति पाठो युक्ततरः स्यात् ।

संप्रयुक्त करने योग्य पदार्थों को मिलाने के योग्य पदार्थों से मेल कर उक्त तीन प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये। जैसे जल अपने रस से ओषधियों को बढ़ाता है, और वे उत्तम रसयुक्त जल के संयोग से रोग नाश करने से सुखदायक होती हैं, और जैसे ईश्वर कारण से कार्य को यथावत् रचता है, तथा सूर्य सब जगत् को प्रकाशित करके और निरन्तर रस को भेदन करके पृथिवी आदि पदार्थों का आकर्षण करता है, तथा वायु रस को धारण करके पृथिवी आदि पदार्थों को पुष्ट करता है, वैसे हम लोगों को भी यथावत् संस्कारयुक्त संयुक्त किये हुए पदार्थों से विद्वानों का सङ्ग तथा विद्या की उन्नति से वा होम शिल्प[1] कार्यरूपी यज्ञों से वायु और वर्षा जल की शुद्धि सदा करनी चाहिये॥ २१॥

जनयत्यै त्वेत्यस्यर्षिः पूर्वोक्तः। प्रथतामिति पर्यन्तस्य यज्ञो देवता। स्वराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥ अन्त्यस्याग्निसवितारौ देवते। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

स यज्ञः कस्मै प्रयोजनाय संपादनीय इत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ किस प्रयोजन के लिये करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में कहा है॥

जनयत्यै त्वा सं यौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिंसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके॥ २२॥

जनयत्यै। त्वा। सम्। यौमि। इदम्। अग्नेः। इदम्। अग्नीषोमयोः। इषे। त्वा। घर्मः। असि। विश्वायुरिति विश्वऽआयुः। उरुप्रथा इत्युरुऽप्रथाः। उरु। प्रथस्व। उरु। ते। यज्ञपतिरिति यज्ञऽपतिः। प्रथताम्। अग्निः। ते। त्वचम्। मा। हिंसीत्। देवः। त्वा। सविता। श्रपयतु। वर्षिष्ठे। अधि। नाके॥ २२॥

---

१. इस से विदित होता है कि 'यज्ञों से वायु, वर्षा जल की शुद्धि और विमानादि यानों की सिद्धि सदा करनी चाहिये' ऐसा पाठ युक्त होगा।

पदार्थः—(जनयत्यै) सर्वसुखोत्पादिकायै राज्यलक्ष्म्यै । (त्वा) तं त्रिविधं यज्ञम् । (सम्) सम्यक् । (यौमि) मिश्रयामि, अग्नौ प्रक्षिप्य वियोजयामि वा । (इदम्) संस्कृतं हविः । (अग्नेः) अग्नेर्मध्ये । (इदम्) यद्धुतं तत् । (अग्नीषोमयोः) अग्निश्च सोमश्च तयोर्मध्ये । (इषे) अन्नाद्याय । (त्वा) तं वृष्टिशुद्धिहेतुम् । (घर्मः) यज्ञः । घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् (निघं० ३ । १७) । (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः । (विश्वायुः) विश्वं पूर्णमायुर्यस्मात् सः । (उरुप्रथाः) बहुः प्रथः सुखस्य विस्तारो यस्मात् सः । उर्विति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३ । १) । (उरु प्रथस्व) बहु विस्तारय । (उरु) बहु । (ते) तुभ्यम् । (यज्ञपतिः) यज्ञस्य स्वामी पालकः । (प्रथताम्) विस्तारयतु । (अग्निः) भौतिको यज्ञसम्बन्धी शरीरस्थो वा । (ते) तव, तस्य वा । युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम् (अ० ८ । ३ । १०३) । अनेन मूर्द्धन्यादेशः[1] । (त्वचम्) कञ्चिदपि शरीरावयवं सुखहेतुम् । (मा) निषेधार्थे । (हिंसीत्) हिनस्तु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (देवः) सर्वप्रकाशकः परमेश्वरः, सूर्यलोको वा । (त्वा) त्वां, तं वा । (सविता) अन्तःप्रेरको, वृष्टिहेतुर्वा । (अपयतु) अपयति, पाचयति । अत्र लडर्थे लोट् । (वर्षिष्ठे) अतिशयेन वृद्धो वर्षिष्ठस्तस्मिन् विशाले सुखस्वरूपे । (अधि) अधीत्युपरिभावमैश्वर्य्यं वा प्राह (निरु० १ । ३) । (नाके) अकं दुःखं न विद्यते यस्मिन्नसौ नाकस्तस्मिन् ॥ अयं मन्त्र श० १ । २ । २ । ३—१४ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽहं जनयत्यै [त्वा] तं यज्ञं संयौमि तथैव स भवद्भिरपि संयूयताम् । अस्माभिर्यदिदं संस्कृतं हविरग्नेर्मध्ये प्रक्षिप्यते तदिदं विस्तीर्णं भूत्वाऽग्नीषोमयोर्मध्ये स्थित्वेषे भवति । यो विश्वायुरुरुप्रथा घर्मो यज्ञोऽ[स्य]स्ति, यथाऽयं मया उरु प्रथ्यते तथैव प्रतिजन[2]स्त्वं [त्वा] तमेतमुरु प्रथस्व । एवं कृतवते ते तुभ्यमयं यज्ञपतिरग्निः सविता देवो जगदीश्वरश्चोरु सुखं प्रथताम् । ते तव त्वचं मा हिंसीत् नैव हिनस्ति[3] । सः खलु [त्वा] त्वां वर्षिष्ठेऽधिनाके [अपयतु] सुखयुक्तं करोतु ॥ इत्येकः ॥

---

१. संहितायामिति शेषः ।

२. 'प्रतिजनं त्वं' इति अमु. नवीनसंस्करणे । 'प्रतिजनः' इत्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

३. अडाडभावे लेट् प्रयोगः, साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

हे मनुष्य ! यथाऽहं मनुष्यो यो विश्वायुरुरुप्रथा घर्मो यज्ञोऽस्यस्ति त्वा तं जनयत्या इषे संयौमि तत्सिध्यर्थमिदमग्नेर्मध्ये इदमग्नीषोमयोर्मध्ये संस्कृतं हविः संवपामि[1] प्रक्षिपामि, तथा त्वमप्येतमुरुप्रथस्व बहु विस्तारय। यतोऽयमग्निस्ते तव त्वचं मा हिंसीत् न हिंस्यात्। यथा च देवः सविता वर्षिष्ठेऽधिनाके यं यज्ञं श्रपयेत्, तथा भवानपि त्वा तं संयौतु श्रपयतु। ते तव यज्ञपतिश्च [त्वा] तमुरु प्रथताम् इति द्वितीयः ॥ २२ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारो वेद्यः। मनुष्यैरेवंभूतो यज्ञः सदैव कार्यः, यः पूर्णां श्रियं, सकलमायुरन्नादिपदार्थान्, रोगनाशं, सर्वाणि सुखानि च प्रथयति, स केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः। कुतः? नैवैतेन वायुवृष्टिजलौषधिशुद्धिकारकेण विना कस्यापि प्राणिनः सम्यक् सुखानि सिध्यन्तीत्यतः। एवं स जगदीश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञापयति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं (जनयत्यै) सर्व सुख उत्पन्न करनेवाली राज्यलक्ष्मी के लिये (त्वा) उस यज्ञ को (संयौमि) [युक्त करता हूं, अथवा] अग्नि के बीच में पदार्थों को छोड़कर वियुक्त करता हूं, वैसे ही तुम लोगों को भी अग्नि के संयोग से सिद्ध करना चाहिये। जो हम लोगों का (इदम्) यह संस्कार किया हुआ हवि (अग्नेः) अग्नि के बीच में छोड़ा जाता है, (इदम्) वह विस्तार को प्राप्त होकर (अग्नीषोमयोः) अग्नि और सोम के बीच पहुंच कर (इषे) अन्न आदि पदार्थों के उत्पन्न करने के लिये होता है, और जो (विश्वायुः) पूर्ण आयु और (उरुप्रथाः) बहुत सुख का देने वाला (घर्मः) यज्ञ (असि) है, उसका जैसे मैं अनेक प्रकार विस्तार करता हूं. वैसे (त्वा) उसको हे पुरुषो ! तुम भी (उरु प्रथस्व) विस्तृत करो। इस प्रकार विस्तार करने वाले (ते) तुम्हारे लिये (यज्ञपतिः) यज्ञ का स्वामी (अग्निः) यज्ञसंबन्धी अग्नि (सविता) अन्तर्यामी (देवः) जगदीश्वर (उरु प्रथताम्) अनेक प्रकार सुख को बढ़ावे [(त्वचम्) शरीर के किसी भी अवयव को] (मा हिंसीत्) कभी नष्ट न करे, तथा वह परमेश्वर (वर्षिष्ठे) अतिशय करके वृद्धि को प्राप्त हुआ (अधिनाके) जो अत्युत्तम सुख है, उसमें (त्वा) तुम को (श्रपयतु) सुख से युक्त करे ॥ यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ ॥

अब दूसरा कहते हैं—हे मनुष्य ! जैसे मैं जो (विश्वायुः) पूर्ण आयु तथा (उरुप्रथाः) बहुत सुख देने वाला (घर्मः) यज्ञ (असि) है, (त्वा) उस यज्ञ

१. पदमिदं पूर्वमन्त्रादाकृष्य संयुक्तम्।

को (जनयत्यै) राज्यलक्ष्मी तथा (इषे) अन्न आदि पदार्थों के उत्पन्न करने के लिये (संयौमि) संयुक्त करता हूं, तथा उस की सिद्धि के लिये (इदम्) यह (अग्नेः) अग्नि के बीच में और (इदम्) यह (अग्नीषोमयोः) अग्नि और सोम के बीच में संस्कार किया हुआ हवि [(संवपामि)][1] छोड़ता हूं, वैसे तुम भी उस यज्ञ को (उरु प्रथस्व) विस्तार को प्राप्त कराओ, जिस कारण यह (अग्निः) भौतिक अग्नि (ते) तुम्हारे (त्वचम्) शरीर को (मा हिंसीत्) रोगों से नष्ट न करे और जैसे (देवः) जगदीश्वर (सविता) अन्तर्यामी (वर्षिष्ठे) अतिशय करके वृद्धि को प्राप्त हुआ जो (अधिनाके) अत्युत्तम सुख है, उस में (त्वा) उस यज्ञ को अग्नि के बीच में परिपक्व करता है, वैसे तुम भी [(त्वा)] उस यज्ञ को (श्रपयतु) परिपक्व करो और (ते) तुम्हारे (यज्ञपतिः) यज्ञ का स्वामी भी [(त्वा)] उस यज्ञ को (उरु प्रथताम्) विस्तारयुक्त करे ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार जानना चाहिये । मनुष्यों को इस प्रकार का यज्ञ करना चाहिये कि जिससे पूर्ण लक्ष्मी, सकल आयु, अन्न आदि पदार्थ, रोग-नाश, और सब सुखों का विस्तार हो, उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिये । क्योंकि उसके विना वायु और वृष्टि जल तथा ओषधियों की शुद्धि नहीं हो सकती और शुद्धि के विना किसी प्राणी को अच्छी प्रकार सुख नहीं हो सकता; इसलिये ईश्वर ने उक्त यज्ञ करने की आज्ञा सब मनुष्यों को दी है ॥ २२ ॥

मा भेर्मेत्यस्यर्षिः स एव । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
निःशङ्कतया सर्वैः स यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते—

निःशङ्क होकर उक्त यज्ञ सब को करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मा भेर्मा सं विक्था अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥ २३ ॥

मा । भेः । मा । सम् । विक्थाः । अतमेरुः । यज्ञः । अतमेरुः । यजमानस्य । प्रजेति प्रऽजा । भूयात् । त्रिताय । त्वा । द्विताय । त्वा । एकताय । त्वा ॥ २३ ॥

---

१. यह पद पूर्व मन्त्र से ग्रहण किया है ।

पदार्थः—(मा) निषेधार्थे । (भेः) बिभीहि । अत्र लोडर्थे लङ् । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् । (मा) निषेधार्थे । (सम्) एकीभावे । (विक्थाः) चल । ओविजी भयचलनयोरित्यस्माल्लोडर्थे लङ्, लङि मध्यमैकवचने बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति विकरणाभावश्च[1] । (अतमेरुः) न ताम्यति येन यज्ञेन सः । तमुधातोर्बाहुलकादेरुः प्रत्ययः । (यज्ञः) इज्यते यस्मिन् सः । (अतमेरुः) न ताम्यति यः स यज्ञकर्त्ता मनुष्यः । (यजमानस्य) यज्ञस्यानुष्ठातुः । (प्रजा) सुसन्ताना यज्ञसंपादिका । (भूयात्) भवेत् । (त्रिताय) त्रयाणामग्निकर्महविषां भावाय । (त्वा) तम् । (द्विताय) द्वयोर्वायुवृष्टिजलशुद्धयोर्भावाय । (त्वा) तम् । (एकताय) एकस्य सुखस्य भावाय । (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । २ । १५—१८ तथा १ । २ । ३ । १—६ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! त्वमतमेरुः सन् यजमानस्य यज्ञस्यानुष्ठानान्मा भेर्भयं मा कुरु । एतस्मान्मा संविक्था मा विचल । एवं यज्ञं कृतवतस्तेऽतमेरुः प्रजा भूयात् । अहं त्वा तमग्निं यज्ञाय त्रिताय द्वितायैकताय च सुखाय संयौमि[2] ॥ २३ ॥

भावार्थः—ईश्वरः प्रतिमनुष्यमाज्ञापयत्याशीश्च[3] ददाति नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यम्, विचलितव्यं वा। कस्माद् ? युष्माभिरेतैरेव सुप्रजाः शारीरवाचिकमानसानि निश्चलानि सुखानि प्राप्तुं शक्यानि भवन्त्यस्मादिति ॥ २३ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुषो ! तुम (अतमेरुः) श्रद्धालु होकर (यजमानस्य) यजमान के यज्ञ के अनुष्ठान से (मा भेः) भय मत करो और उस से (मा संविक्थाः) मत चलायमान हो । इस प्रकार (यज्ञः) यज्ञ करते हुए तुम को उत्तम से उत्तम (अतमेरुः) ग्लानिरहित श्रद्धावान् (प्रजा) सन्तान (भूयात्) प्राप्त हो, और मैं (त्वा) भौतिक अग्नि को उक्त गुणयुक्त तथा (एकताय) सत्य

---

१. सूत्रेण औत्सर्गिकस्य शपो लुकि तदादेशस्य शविकरणस्याभाव इति भावः ।
२. पदं पूर्वमन्त्रादनुवर्तितम् । अस्मिन्नन्वये 'यज्ञः, त्वा, त्वा,' इति त्रीणिपदानि नोपलभ्यन्ते, न च क्वचिद्यथार्थतया संबध्यन्ते ।
३. 'आशीः, इति दीर्घान्तस्य द्वितीयाबहुवचनस्य रूपम् । 'आशी' इत्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

सुख के लिये (द्वितीय) वायु तथा वृष्टि जल की शुद्धि तथा (त्रिताय) अग्नि कर्म और हवि के होने के लिये (संयौमि) निश्चल करता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः—ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना वा चलायमान कभी न होना चाहिये क्योंकि मनुष्यों को उक्त यज्ञ आदि अच्छे अच्छे कार्यों से ही उत्तम उत्तम सन्तान, शारीरिक, वाचिक और मानस विविध प्रकार के निश्चल सुख प्राप्त हो सकते हैं ॥ २३ ॥

देवस्य त्वेत्यस्यर्षिः स एव । द्यौर्विद्युतौ देवते । स्वराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चम स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्ति, किमर्थश्चानुष्ठेय इत्युपदिश्यते—

फिर भी उक्त यज्ञ कैसा और क्यों उसका अनुष्ठान करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ २४ ॥

देवस्यं । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ॥ आ । ददे । अध्वरकृतमित्यध्वरऽकृतम् । देवेभ्यः । इन्द्रस्य । बाहुः । असि । दक्षिणः । सहस्रभृष्टिरिति सहस्रऽभृष्टिः । शततेजा इति शतऽतेजाः । वायुः । असि । तिग्मऽतेजा इति तिग्मऽतेजाः । द्विषतः । वधः ॥ २४ ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वानन्दप्रदस्य । (त्वा) तम् । (सवितुः) प्रेरकस्येश्वरस्य, सूर्यस्य वा । (प्रसवे) प्रेरणे, ऐश्वर्यहेतौ वा । (अश्विनोः) सूर्याचन्द्रमसोरध्वर्योर्वा । अश्विनावध्वर्यू (श० १।२।४।४)। (बाहुभ्याम्) बलवीर्याभ्याम् (पूष्णः) पुष्टिहेतोर्वायोः । वृषा पूषा (श० २।५।१।११)। (हस्ताभ्याम्) ग्रहणत्यागहेतुभ्यामुदानापानाभ्याम् । (आददे) आसमन्तात् स्वीकरोमि । (अध्वरकृतम्)

अध्वरं करोति येन सामग्रीसमूहेन, तम्। अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३।२।११३ वा०] इति वार्त्तिकेन करणे क्विप्। अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतम् (श० १।२।४।५)। (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा। (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (बाहुः) वीर्यवत्तमकिरणसमूहस्थो यज्ञः। (असि) भवति। दक्षिणः प्राप्तः। दक्ष गतिहिंसनयोरित्यस्मात् द्रुदक्षिभ्या-मिनन् (उ० २।५०)। इतीनन् प्रत्ययः। अनेन गतेरन्तर्गतः प्राप्त्यर्थो गृह्यते[1]। (सहस्रभृष्टिः) सहस्राणि बहूनि भृष्टयः पाका यस्मात् सः सूर्यस्य प्रकाशः। सहस्रमिति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३।१)। (शततेजाः) शतानि बहूनि तेजांसि यस्मिन् स सूर्यः। शतमिति बहुनामसु पठितम् (निघं० ३।१)। (वायुः) गमनागमनशीलः पवनः। (असि) अस्ति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (तिग्मतेजाः) तिग्मानि तीक्ष्णानि तेजांसि भवन्ति यस्मात् सः। युजिरुचितिजां कुश्च (उ० १।१४६)। अनेन तिज निशाने इत्यस्मान्मक् प्रत्ययः कुत्वादेशश्च। तथैव सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) अनेन तिज इत्यस्मादसुन् प्रत्ययः। (द्विषतः) शत्रोः। (वधः) नाशः॥ अयं मन्त्रः श० १।२।४।३—७ व्याख्यातः॥२४॥

अन्वयः—अहं सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां देवेभ्यो-ऽध्वरकृतमाददे[2], यो मयाऽनुष्ठितो यज्ञ इन्द्रस्य सहस्रभृष्टिः शततेजा दक्षिणो बाहुरसि भवति। यस्येन्द्रस्य सूर्यलोकस्य मेघस्य वा तिग्मतेजा वायुर्हेतुरस्त्यस्ति तेन सुखानि द्विषतो वधश्च कार्यः॥ २४॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—मनुष्यैः सम्यक् संपादितोऽयं यज्ञोऽग्निनोर्ध्वं प्रक्षिप्तद्रव्यः सूर्यकिरणस्थो वायुना धृतः सर्वोपकारी भूत्वा सहस्राणि सुखानि प्रापयित्वा[3] दुःखानां नाशकारी भवतीति॥ २४॥

पदार्थः—मैं (सवितुः) अन्तर्यामी प्रेरणा करने (देवस्य) सब आनन्द के देनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) प्रेरणा में (अश्विनोः) सूर्य चन्द्र और

---

१. गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति वैयाकरणानां प्रसिद्धिः। अत उक्तं 'गतेरन्तर्गतः प्राप्त्यर्थो गृह्येत' इति।

२. 'त्वा' मन्त्रपदमिहान्वये नाञ्जसा समवैति। यदि तु 'अध्वरकृतम्' इत्यस्य 'अध्वरेण कृतम्' इत्यर्थो गृह्यते (यथा भाषायाम्) तदा 'अध्वरकृतं त्वा तम् आददे' इत्येवमन्वितं स्यात्।

३. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

अध्वर्युओं के [(बाहुभ्याम्)] बल और वीर्य से तथा (पूष्णः) पुष्टिकारक वायु के (हस्ताभ्याम्) जो कि ग्रहण और त्याग के हेतु उदान और अपान हैं, उन से (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्य सुखों की प्राप्ति के लिये (अध्वरकृतम्) यज्ञ से सुखकारक कर्म को (आददे) अच्छे प्रकार ग्रहण करता हूं । और मेरा किया हुआ जो यज्ञ है, सो (इन्द्रस्य) सूर्य का (सहस्रभृष्टिः) जिसमें अनेक प्रकार के पदार्थों के पचाने का सामर्थ्य वा (शततेजाः) अनेक प्रकार का तेज तथा (दक्षिणः) प्राप्त करनेवाला (बाहुः) किरणसमूह (असि) है, और जिस सूर्य वा मेघमण्डल का (तिग्मतेजाः) तीक्ष्ण तेजवाला (वायुः) वायु हेतु (असि) है, उस से हम को अनेक प्रकार के सुख तथा (द्विषतः) शत्रुओं का (वधः) नाश करना चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा करता है कि मनुष्यों को अच्छी प्रकार सिद्ध किया हुआ यज्ञ जिस में भौतिक अग्नि के संयोग से ऊपर को अच्छे अच्छे पदार्थ छोड़े जाते हैं, वह सूर्य की किरणों में स्थिर होता है, तथा पवन उसको धारण करता है, और वह सब का उपकार करने वाला होकर हजारों सुखों को प्राप्त कराके दुःखों का विनाश करनेवाला होता है ॥ २४ ॥

पृथिवीत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुन स यज्ञः क गत्वा किंकारी भवतीत्युपदिश्यते—

फिर उक्त यज्ञ कहां जाके क्या करनेवाला होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

पृथिवि । देवयजनीति देवऽयजनि । ओषध्याः । ते । मूलम् । मा । हिꣳसिषम् । व्रजम् । गच्छ । गोष्ठानम् । गोस्थानमिति गोऽस्थानम् । वर्षतु । ते । द्यौः । बधान । देव । सवितरिति

सवितः । प॒र॒मस्या॑म्[1] । पृ॒थि॒व्याम् । श॒तेन॑ । पाशैः॑ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । च॒ । व॒यम् । द्वि॒ष्मः । तम् । अतः॑ । मा । मौक् ॥२५॥

पदार्थः—(पृथिवि) विस्तृताया भूमेः । (देवयजनि) देवा यजन्ति यस्यां, तस्याः[2] । (ओषध्याः) यवादेः । (ते) अस्याः । अत्र सर्वत्र विभक्तेर्विपरिणामः क्रियते । (मूलम्) वृद्धिहेतुकम् । (मा) निषेधार्थे । (हिंसिषम्) उच्छिन्द्याम् । अत्र लिङर्थे लुङ् । (व्रजम्) व्रजन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्त्यापो यस्मात्, यस्मिन् वा, तं व्रजं मेघम् । व्रज इति मेघनामसु पठितम् (निघं० १ । १०) । (गच्छ) गच्छतु । अत्र व्यत्ययः । (गोष्ठानम्) गवां सूर्यरश्मीनां पशूनां वा स्थानम् । गाव इति रश्मिनामसु पठितम् (निघं १ । ५) । (वर्षतु) स्पष्टार्थः । (ते) तस्य । अत्र संबन्धार्थे षष्ठी । (द्यौः) सूर्यप्रकाशः । (बधान) बन्धय । (देव) सूर्यादिप्रकाशकेश्वर ! (सवितः) राज्यैश्वर्यप्रदः ! (परमस्याम्) उत्कृष्टायाम्[3] । (पृथिव्याम्) बहुसुखप्रदायाम् । (शतेन) बहुभिः । (पाशैः) बन्धनसाधनैः । पश बन्धन इत्यस्य रूपम् । (यः) अधर्मात्मा दस्युः शत्रुश्च । (अस्मान्) सर्वोपकारकान् धार्मिकान् । (द्वेष्टि) विरुध्यति[4] । (यम्) दुष्टं शत्रुम् । (च) समुच्चये । (वयम्) धार्मिकाः शूराः । (द्विष्मः) विरुद्ध्यामः[4] । (तम्) पूर्वोक्तम् । (अतः) बन्धात्

---

१. अस्य मन्त्रस्योत्तरस्य च पदपाठे 'प॒र॒म् । अ॒स्याम्' इति पाठः पूर्वमुद्रिते वर्तते । स चापपाठः । अत्र पदार्थान्तर्गतस्य 'परमस्याम्' पदस्य टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. 'यस्यां सा (ते) अस्याः' इति पूर्वमुद्रितपाठः । मन्त्रे 'देवयजनि' पदादुत्तरं 'ते' पदं नैव श्रूयते । अतोऽयमपपाठ इति सुस्पष्टम् । अन्वये 'देवयजनि' पदस्य 'देवयज्ञाधिकरणायाः' इत्येवं निर्देशात् पदार्थे 'देवयजनि' पदस्य विशेष्यस्य 'पृथिवि' पदस्य 'विस्तृताया भूमेः' इत्यर्थं दर्शनाच्चास्माभिरित्थं शोधितम् ।

३. अत्र '(परम्) शत्रुम् (अस्याम्) प्रत्यक्षायाम्' इति पूर्वमुद्रिते पाठ उपलभ्यते । स चापपाठः । तस्य संशोधनं स्वयं ग्रन्थकृता कृतः, परन्त्वद्यावधि तथैवापपाठो मुद्र्यते । ग्रन्थकारकृतं संशोधनपत्रं हस्तलिखितं अजमेरस्थ-वैदिक-पुस्तकालये एतद्ग्रन्थहस्तलेखैः सहव सुरक्षितं वर्तते । तदनुसारं पाठोऽयं शोधितः । एवमुत्तरमन्त्रेऽपि ज्ञेयम् ।

४. विरुध्यति, विरुध्यामः, अनयोः साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

कदाचित्[1] । (मा) निषेधार्थे । (मौक्) मोचय । मुच्लृ मोक्षणे इत्यस्माल्लोडर्थे लुङ्य्डभावे च्लेः सिजादेशे बहुलं छन्दसि [अ० ७।३।६७] इतीडभावः, वदव्रज [अ० ७ । २ । ३] इति वृद्धिः, संयोगान्तस्य लोपः [अ० ८ । २ । २३] इति सिज्लुक् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । ४ । १६ व्याख्यातः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे देव सवितः परमात्मन् ! ते तव कृपयाऽहं देवयजनि देवयज्ञाधिकरण्यास्तेऽस्याः पृथिवि भूमेर् [ओषध्याश्च] मूलं वृद्धिहेतुं मा हिंसिषं, मया पृथिव्यां योऽयं यज्ञोऽनुष्ठीयते स व्रजं मेघं गच्छ, गच्छतु गत्वा गोष्ठानं वर्षतु द्यौर्वर्षतु । हे वीर ! त्वं परमस्यां[2] योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं शत्रुं शतेन पाशैर्बधान बन्धय । तमतो बन्धनात् कदाचिन्मा मौक् मा मोचय ॥ २५ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति विद्वद्भिर्मनुष्यैः पृथिव्यां राज्यस्य त्रिविधस्य यज्ञस्यौषधीनां च हिंसनं कदाचिन्नैव कार्यम् । योऽग्नौ हुतद्रव्यस्य सुगन्ध्यादि[3]गुणविशिष्टो धूमो मेघमण्डलं गत्वा सूर्यवायुभ्यां छिन्नस्याकर्षितस्य[4] धारितस्य जलसमूहस्य शुद्धिकरो भूत्वाऽस्यां पृथिव्यां वायुजलौषधिशुद्धिद्वारा महत्सुखं संपादयति । तस्मात् स यज्ञः केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः । ये दुष्टा मनुष्यास्तानस्यां पृथिव्यामनेकैः पाशैर्बध्वा, दुष्टकर्मभ्यो निवर्त्य, कदाचित्ते न मोचनीयाः । अन्यच्च परस्परं द्वेषं विहायान्योऽन्यस्य सुखोन्नतये सदैव प्रयतितव्यमिति ॥ २५ ॥

पदार्थः—हे (देव) सूर्यादि जगत् के प्रकाश करने तथा (सवितः) राज्य और ऐश्वर्य के देने वाले परमेश्वर ! (ते) आपकी कृपा से मैं (देवयजनि) विद्वानों के यज्ञ करने की जगह (ते) यह जो (पृथिवि) भूमि है, उसके [और (ओषध्याः) जो यवादि ओषधि हैं उनके] (मूलम्) वृद्धि करनेवाले मूल को (मा हिꣳसिषम्) नाश न करूं, और मैं (पृथिव्याम्) अनेक प्रकार सुखदायक भूमि में जिस यज्ञ का अनुष्ठान करता हूं, वह (व्रजम्) जलवृष्टिकारक मेघ को

१. पदार्थे 'कदाचित्' पदस्याध्याहारोऽनावश्यकः ।
२. 'त्वमस्यां······द्विष्मस्तं परं शत्रुं, इति पूर्वमुद्रिते पाठः । स च पदार्थान्तर्गत-पाठसंशोधनानुसारं संशोधितः ।
३. गुणवचनस्य सुगन्धिशब्दस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।
४. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

(गच्छ) प्राप्त हो, वहां जाकर (गोष्ठानम्) सूर्य की किरणों के गुणों से (वर्षतु) वर्षाता है और (द्योः) सूर्य के प्रकाश को वर्षाता है। हे वीर पुरुषो ! आप (परमस्याम्)[1] इस उत्कृष्ट पृथिवी में (यः) जो कोई अधर्मात्मा डाकू (अस्मान्) सब के उपकार करनेवाले धर्मात्मा सज्जन हम लोगों से (द्वेष्टि) विरोध करता है (च) और (यम्) जिस दुष्ट शत्रु से (वयम्) धार्मिक शूर हम लोग (द्विष्मः) विरोध करें, (तम्) उस दुष्ट शत्रु को (शतेन) अनेक (पाशैः) बन्धनों से (बधान) बांधो, और उसको (अतः) इस बन्धन से कभी (मा मौक्) मत छोड़ो ॥ २५ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् मनुष्यों को पृथिवी का राज्य तथा उसी पृथिवी में तीन प्रकार के यज्ञ और ओषधियां इनका नाश कभी न करना चाहिये। जो यज्ञ अग्नि में हवन किये हुए पदार्थों का [सुगन्धयुक्त] धूम मेघमण्डल को जाकर शुद्धि के द्वारा अत्यन्त सुख उत्पन्न करनेवाला होता है, इससे यह यज्ञ किसी पुरुष को कभी छोड़ने योग्य नहीं है, तथा जो दुष्ट मनुष्य हैं उनको इस पृथिवी पर अनेक बन्धनों से बांधे और उनको कभी न छोड़े, जिससे कि वे दुष्ट कर्मों से निवृत्त हों। और सब मनुष्यों को चाहिये कि परस्पर ईर्ष्या द्वेष से अलग होकर एक दूसरे की सब प्रकार सुख की उन्नति के लिये सदा यत्न करें ॥ २५ ॥

अपाररुमित्यस्य सर्वस्य ऋषिः स एव। सविता देवता। पूर्वार्द्धे स्वराड्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। उत्तरार्धे भुरिग्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। [उभयत्र] पञ्चमः स्वरः ॥

पुनरेतेन यज्ञेन किं किं सिध्यतीत्युपदिश्यते—

फिर इस यज्ञ से क्या क्या कार्य सिद्ध होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां

---

१. पूर्वमुद्रित ग्रन्थ में यहां 'अस्याम्' पद था और आगे '(तम्) उस दुष्ट (परम्) शत्रु को' पाठ था। हमने ग्रन्थकार के हस्तलिखित संशोधनपत्र के अनुसार संस्कृत पदार्थ में शोधन किया है। उसी के आधार पर यहां भाषा को भी शोधा है।

पृथिव्याᳬ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २६ ॥

अप । अररुम् । पृथिव्यै । देवयजनादिति देवऽयजनात् । वध्यासम् । व्रजम् । गच्छ । गोष्ठानम् । गोस्थानमिति गोऽस्थानम् । वर्षतु । ते । द्यौः । बधान । देव । सवितरिति सवितः । परमस्याम् । पृथिव्याम् । शतेन । पाशैः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । तम् । अतः । मा । मौक् ॥ अररो इत्यररो । दिवम् । मा । पप्तः । द्रप्सः । ते । द्याम् । मा । स्कन् । व्रजम् । गच्छ । गोष्ठानम् । गोस्थानमिति गोऽस्थानम् । वर्षतु । ते । द्यौः । बधान । देव । सवितरिति सवितः । परमस्याम् । पृथिव्याम् । शतेन । पाशैः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । तम् । अतः । मा । मौक् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(अप) धात्वर्थे । (अररुम्) असुरराक्षसस्वभावशत्रुम् । अर्त्तेररुः (उ० ४ । ७६) अनेन ऋधातोररुः प्रत्ययः । (पृथिव्यै) पृथिव्याम् । अत्र सुपां सुलुग् [अ० ७ । १ । ३९] इति सप्तमीस्थाने चतुर्थी । (देवयजनात्) देवा यजन्ति यस्मिन्, तस्मात् । (वध्यासम्) हन्याम् । (व्रजम्) व्रजन्ति जानन्ति जना येन, तं सत्सङ्गम् । (गच्छ) प्राप्नुहि, गच्छतु वा । (गोष्ठानम्) गौर्वाणी तिष्ठति यस्मिन्नध्ययनाध्यापने, तं व्यवहारम् । गौरिति वाङ्नामसु पठितम् (निघं० १ । ११) । (वर्षतु) शब्दविद्याया वृष्टिं करोतु । (ते) तव । (द्यौः) विद्याप्रकाशः । दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् (निरु० १३ । २५)[1] (बधान) बन्धय ।

१. निरुक्तस्य परिशिष्टरूपौ त्रयोदशचतुर्दशावध्यायौ । तत्रानेके ग्रन्थकृतश्चतुर्दशमध्यायं त्रयोदशाध्यायेऽन्तर्भावयन्ति (द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग २, वेदों के भाष्यकार) । एतमेव च पक्षं भगवान् भाष्यकारोऽयत्र स्वीचकार । इत्थमेव चर्वेदादिभाष्यभूमिकायां पुनर्जन्मप्रकरणे चतुर्दशाध्यायस्य 'आहारा विविधा भुक्ताः' इत्यादि पाठं त्रयोदशाध्याये परिगणितवान् ।

(देव) सर्वानन्दप्रदेश्वरव्यवहारहेतुर्वा । (सवितः) सर्वेषु जीवेष्वन्तर्यामितया सत्यप्रेरक ! व्यवहारप्रेरणाहेतुर्वा । (परमस्याम्)[1] उत्कृष्टायामाधारभूतायाम् । (पृथिव्याम्) बहुपदार्थप्रदायाम् । (शतेन) बहुभिः । (पाशैः) बन्धनैः । (यः) मूर्खः । (अस्मान्) विद्यारतप्रचारकान् । (द्वेष्टि) अपप्रीणाति । (यम्) विद्याविरोधिनम् । (च) पुनरर्थे । (वयम्) विद्वांसः । (द्विष्मः) अपप्रीणीमः । (तम्) पूर्वोक्तं विद्याशत्रुम् । (अतः) अस्माद् बन्धनादुपदेशाद्वा । (मा) निषेधार्थे (मौक्) त्यज । (अररो) दुष्टमनुष्य ! (दिवम्) प्रकाशम् । (मा) निषेधार्थे । (पप्तः) पततु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (द्रप्सः) हर्षकारी रसः । दृप हर्षणमोहनयोरित्यस्मादौणादिकः सः प्रत्ययः, अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (अ० ६ । १ । ५९) । अनेनामागमः । (ते) तव, तस्याः पृथिव्या वा । (द्याम्) आनन्दम् । दिवुधातोर्बाहुलकाड्डोप्रत्ययष्टिलोपे प्राप्ते[2] वकारलोपश्च । (मा) निषेधार्थे । (स्कन्) निस्सारयतु । अत्र लोडर्थे लङ् । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् । (व्रजम्) व्रजन्ति विद्वांसो यस्मिन् सन्मार्गे, तम् । (गच्छ) गच्छतु, गमय वा । (गोष्ठानम्) गौः पृथिवी तिष्ठति यस्मिन्, तदन्तरिक्षम् । (वर्षतु) सिञ्चतु । (ते) तव । (द्यौः) कान्तिः द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् (श० १४ । ३ । २ । ८) । (बधान) बध्नाति वा, पक्षे व्यत्ययः । (देव) विजयप्रद ! विजयहेतुर्वा । (सवितः) सर्वोत्पादक ! व्यवहारोत्पत्तिहेतुर्वा । (परमस्याम्[1]) [उत्कृष्टायां] सर्वबीजारोपणार्थायाम् । (पृथिव्याम्) बहुप्रजायुक्तायाम् । (शतेन) बहुभिः । (पाशैः) सामदान[3]दण्डभेदादिकर्मभिः (यः) न्यायविरोधी ।

---

१. एतद्विषये पूर्वमन्त्रस्था टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. गमेर्डोः (उ० २ । ६७) इत्यादिना विहितो डो-प्रत्ययः । 'डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात्' इति नियमात् टिलोपः प्राप्नोति । अत एव भोजराड् द्युधातोर्डोप्रत्ययमाह (सरस्वतीकण्ठाभरण २ । १ । ५०) ।

३. संस्कृतराजनीतिग्रन्थेषु सर्वत्र 'सामदानदण्डनीति' शब्दाः पठ्यन्ते, न क्वचित् 'सामदाम' इति । ग्रन्थकृता स्वयमृग्वेदभाष्ये १ । ११ । ४ मन्त्रस्य भावार्थे 'शत्रुबलं छित्त्वा सामदानादिभिः........' इत्यादिवाक्ये 'दान' शब्द एव पठितः । तस्मात् पूर्वमुद्रिते 'सामदाम' इति पाठे दानशब्दस्यैव सामपदसादृश्यमूलकः 'दाम' इति परिणामः ।

(अस्मान्) न्यायाधीशान्। (द्वेष्टि) कोपयति। (यम्) अन्यायकारिणम्। (च) पुनरर्थे। (वयम्) सर्वहितसंपादिनः। (द्विष्मः) कोपयामः। (तम्) अधर्मप्रियम्। (अतः) शिक्षणात्। (मा) निषेधे। (मौक्) त्यजतु॥ अयं मन्त्रः श० १।२।४।१७—२१ व्याख्यातः॥ २३॥

अन्वयः—हे देव सवितर्भवत्कृपया वयं परस्परं विद्यामेवोपदिशामः। यथायं सविता देवः सूर्यलोकोऽस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बन्धनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान् पदार्थान् बध्नाति, तथैव त्वमपि दुष्टान् बद्ध्वा शुभगुणान् प्रकाशय। हे विद्वांसो यथाहं [पृथिव्यै] पृथिव्यां देवयजनादररुमपवध्यासं तथैव तं यूयमप्यपाघ्नत। यथाऽहं व्रजं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथाहं गोष्ठानं वर्षामि तथैव भवानपि वर्षतु। यथा मम द्यौर्विद्याप्रकाशः सर्वान् प्राप्नोति तथैव ते तत्रापि प्राप्नोतु। यथाऽहं योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्नित्यं बध्नामि कदाचित्तं न त्यजामि तथैव हे वीर! तं त्वमिमं बधान तं चातः कदाचिन्मा मौक्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो बन्धनात्कोऽपि मा मुञ्चतु॥ एवं च तं प्रति सर्वे उपदिशन्तु। हे अररो! त्वं दिवं मा पप्तस्तथा ते तव द्रप्सो द्यां माऽस्कन्। हे सन्मार्गजिज्ञासो! यथाऽहं व्रजं सन्मार्गं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथेयं द्यौर्गोष्ठानं वर्षति तथैवेश्वरो विद्वान् वा ते तव कामान् वर्षतु। यथायं [देव सवितः] सविता देवः सूर्यलोकः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बन्धनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान् पदार्थान् बध्नाति। तथैव त्वमपि च पुनर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बधान। यथाऽहं तं द्वेष्टारं शत्रुं शतेन पाशैर्बद्ध्वा न कदाचिन्मुञ्चामि तथैव त्वमप्येनं सदा बधान [तं चातः] कदाचिन्मा मौक्॥ २६॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। ईश्वर आज्ञापयति—हे मनुष्याः! युष्माभिर्विद्वत्कार्यानुष्ठाने विघ्नकारिणो दुष्टाः प्राणिनः सदाऽपहन्तव्याः। सत्समागमेन विद्यावृद्धिर्नित्यं कार्य्या। यथाऽनेकोपायैः श्रेष्ठानां हानिर्दुष्टानां च वृद्धिर्न स्यात् तथैवानुष्ठेयम्। सदा श्रेष्ठाः सत्कार्या दुष्टास्ताडनीया बन्धनीयाश्च। परस्परं प्रीत्या विद्याशरीरबलं संपाद्य, क्रियया कलायन्त्रैरनेकानि यानानि रचयित्वा सर्वेभ्यः सुखं देयं, निरन्तरमीश्वरस्याज्ञापालनं [कर्तव्यं], स एवोपासनीयश्चेति॥ २६॥

पदार्थः—हे (देव) सर्वानन्द के देने वाले जगदीश्वर ! (सवितः) सब प्राणियों में अन्तर्यामी सत्य-प्रकाश करनेहारे आपकी कृपा से हम लोग परस्पर उपदेश करें कि जैसे यह सब का प्रकाश करने वाला सूर्यलोक इस पृथिवी में अनेक बन्धन के हेतु किरणों से खैंचकर पृथिवी आदि सब पदार्थों को बांधता है, वैसे तुम भी दुष्टों को बांधकर अच्छे अच्छे गुणों का प्रकाश करो ! हे विद्वानो ! जैसे मैं (पृथिव्यै) पृथिवी में (देवयजनात्) विद्वान् लोग जिस संग्राम से अच्छे अच्छे पदार्थ वा उत्तम उत्तम विद्वानों की संगति को प्राप्त होते हैं, उस से (अररुम्) दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुजन को (अपवध्यासम्) मारता हू, वैसे ही तुम लोग भी उसको मारो । तथा जैसे मैं (व्रजम्) उत्तम उत्तम गुण जताने वाले सज्जनों के सङ्ग को प्राप्त होता हूं, वैसे तुम भी उसको (गच्छ) प्राप्त हो । जैसे मैं (गोष्ठानम्) पठन पाठन व्यवहार की बताने वाली मेघ की गर्जना के समतुल्य वेदवाणी को अच्छे अच्छे शब्दरूपी बूंदों से वर्षाता हूँ, वैसे तुम भी (वर्षतु) वर्षाओ । जैसे मेरी विद्या की (द्यौः) शोभा सब को दृष्टिगोचर है, वैसे (ते) तुम्हारी भी विद्या सुशोभित हो । जैसे मैं (यः) जो मूर्ख (अस्मान्) विद्या का प्रचार करने वाले हम लोगों से (द्वेष्टि) विरोध करता है, (च) और (यम्) जिस विद्याविरोधीजन को (वयम्) हम विद्वान् लोग (द्विष्मः) दुष्ट समझते हैं, (तम्) उस विद्या के शत्रु को (परमस्याम्) इस उत्कृष्ट, सब पदार्थों की धारण करने और विविध सुख देने वाली (पृथिव्याम्) पृथिवी में (शतेन) बहुत से (पाशैः) बन्धनों से नित्य बांधता हूं, कभी उससे उसको नहीं त्यागता, वैसे हे वीर लोगो ! तुम भी उसको (बधान) बांधो, कभी उसको (अतः) उस बन्धन से (मा मौक्) मत छोड़ो और जो दुष्ट जन हम लोगों से विरोध करे तथा जिस दुष्ट से हम लोग विरोध करें उसको उस बन्धन से कोई मनुष्य न छोड़े । इस प्रकार सब लोग उसको उपदेश करते रहें कि हे (अररो) दुष्टपुरुष ! तू (दिवम्) प्रकाश उन्नति को (मा पप्तः) मत प्राप्त हो, तथा (ते) तेरा (द्रप्सः) आनन्द देने वाला विद्यारूपी रस (द्याम्) आनन्द को (मा स्कन्) मत प्राप्त करे । हे श्रेष्ठों के मार्ग चाहने वाले मनुष्यो ! जैसे मैं (व्रजम्) विद्वानों के प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ मार्ग को प्राप्त होता हूं, वैसे तुम भी (गच्छ) उसको प्राप्त हो । जैसे यह (द्यौः) सूर्य का प्रकाश (गोष्ठानम्) पृथिवी के स्थान अन्तरिक्ष को सींचता है, वैसे ही ईश्वर वा विद्वान् पुरुष (ते) तुम्हारी कामनाओं को (वर्षतु) वर्षावें अर्थात् क्रम से पूरी करें । जैसे यह (देव) व्यवहार का हेतु (सवितः) सूर्यलोक (परमस्याम्) इस उत्कृष्ट बीज बोने योग्य (पृथिव्याम्) बहुत प्रजायुक्त पृथिवी में (शतेन) अनेक (पाशैः) बन्धन के हेतु किरणों से

आकर्षण के साथ पृथिवी आदि सब पदार्थों को [(बधान)] बांधता है, वैसे तुम भी दुष्टों को बांधो और (यः) जो न्यायविरोधी (अस्मान्) न्यायधीश हम लोगों से (द्वेष्टि) कोप करता है, (च) और (यम्) अन्यायकारी जन पर (वयम्) संपूर्ण हितसम्पादन करने वाले हम लोग (द्विष्मः) कोप करते हैं, (तम्) उस शत्रु को (परमस्याम् पृथिव्याम्) उत्कृष्ट गुण वाली पृथिवी में (शतेन) अनेक (पाशैः) साम दाम दण्ड और भेद आदि उद्योगों से बांधता हूं और जैसे मैं उसको उस दण्ड से बांधकर कभी नहीं छोड़ता, वैसे ही तुम भी बांधो अर्थात् बन्धनरूप दण्ड सदा दो। [(अतः) उस बन्धन से] कभी उसको (मा मौक्) मत छोड़ो ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोगों को विद्या के सिद्ध करनेवाले कार्यों के नियमों में विघ्नकारी दुष्ट जीवों को सदा मारना चाहिये, और सज्जनों के समागम से विद्या की वृद्धि नित्य करनी चाहिये। जिस प्रकार अनेक उद्योगों से श्रेष्ठों को हानि दुष्टों की वृद्धि न हो, सो नियम करना चाहिये, और सदा श्रेष्ठ सज्जनों का सत्कार तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिये उनका बन्धन करना चाहिये। परस्पर प्रीति के साथ विद्या और शरीर का बल संपादन करके क्रिया तथा कलायन्त्रों से अनेक यान बनाकर सब को सुख देना, ईश्वर की आज्ञा का पालन, तथा ईश्वर की उपासना करनी चाहिये ॥ २६ ॥

गायत्रेणेत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

केन स यज्ञो ग्राह्योऽनुष्ठातव्यश्चेत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ का ग्रहण वा अनुष्ठान किससे करना चाहिये सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है ॥

गायत्रेण त्वा छन्दसा परि गृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परि गृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परि गृह्णामि। सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च ॥ २७ ॥

गायत्रेण। त्वा। छन्दसा। परि। गृह्णामि। त्रैष्टुभेन। त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन। त्वा। छन्दसा। परि। गृह्णामि।

जागतेन । त्वा । छन्दसा । परि । गृह्णामि ॥ सुक्ष्मा । च । असि । शिवा । च । असि । स्योना । च । असि । सुषदा । सुसदेति सुऽसदा । च । असि । ऊर्जस्वती । च । असि । पयस्वती च ॥ २७ ॥

पदार्थः—(गायत्रेण) गायत्र्येव गायत्रं, तेन । छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थ उपसंख्यानम् (अ० ४ । २ । ५५ [वा०]) अनेन गायत्रशब्दे अण्, त्रैष्टुभादिषु अञ्[1] च । (त्वा) परमात्मानं, तमिमं यज्ञं वा । (छन्दसा) आह्लादकारिणा । चन्देरादेश्च छः (उ० ४ । २२६) अनेनासुन् प्रत्ययः । (परि) सर्वतो भावे । परीति सर्वतो भावं प्राह (निरु० १ । ३)। (गृह्णामि) संपादयामि । (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभं, तेन । (त्वा) त्वां सर्वानन्दमयं, तं पदार्थसमूहं वा । (छन्दसा) स्वातन्त्र्यानन्दप्रदेन । (परि) अभितः । (गृह्णामि) संपादयामि । (जागतेन) जगत्येव जागतं, तेन । (त्वा) त्वां सुखस्वरूपं, तमग्निं वा । (छन्दसा) अत्यानन्दप्रकाशेन । (परि) समन्तात् । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (सुक्ष्मा) शोभना चासौ क्ष्मेयं पृथिवी च, सा । क्ष्मेति पृथिवीनामसु पठितम् (निघं० १ । १)। (च) समुच्चयार्थे । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (शिवा) मङ्गलप्रदा । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (स्योना) सुखप्रदा । स्योनमिति सुखनामसु पठितम् (निघं० ३ । ६)। (च) समुच्चये । (असि) भवति । (सुषदा) सुष्ठु सीदन्ति यस्यां सा । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (ऊर्जस्वती) अन्नवती । ऊर्गित्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २ । ७)। ऊर्ग्बहुविधमन्नं यस्यां सेति, भूम्नि मतुप्, ज्योत्स्नातमिस्रा० (अ० ५ । २ । ११४) इति निपातितः[2] । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (पयस्वती) पयः प्रशस्तो रसो विद्यतेऽस्यां सा । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । पयस्वती रसवती (श० १ । २ । ५ । ११)। (च) समुच्चये ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । ५ । १—११ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

---

१. उत्सादिषु (गण ४ । १ । ८६) त्रिष्टुब्जगतीशब्दयोः पाठात् अञ् । गायत्री शब्दात्तु औत्सर्गिकोऽण् ।

२. मतुप् तु प्राप्त एव सामान्यसूत्रेण, असुगागमोऽनेन निपात्यते छन्दसि ।

अन्वयः—येन यज्ञेन चोत्तमैः पदार्थैः सह सुक्ष्मासि भवति। येन च कल्याणकारिभिर्गुणैर्मनुष्यैश्चेयं शिवासि भवति येन चानुत्तमैः सुखैः सहेयं स्योनासि भवति। येन चोत्तमाभिः सुखकारिकाभिः स्थितिगतिभिः सहेयं सुषदासि भवति। येन चौत्तमैर्यवादिभिरन्नैः सहेयमूर्जस्वत्यसि भवति। येन चौत्तमैर्मधुरादिरसवद्भिः फलैर्युक्तेयं पृथिवी पयस्वती च जायते। अहं यज्ञविद्याविन्मनुष्यो गायत्रेण छन्दसा त्वा तं यज्ञं परिगृह्णाति। अहं त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा तमिमं पदार्थसमूहं परिगृह्णामि। अहं जागतेन छन्दसा त्वा तमिममग्निं परिगृह्णामि ॥ २७ ॥

भावार्थः—वेदप्रकाशकेश्वरोऽस्मान्, प्रत्यभिवदति—युष्माभिर्न चान्तरेण वेदमन्त्राणां पठनं तदर्थज्ञानं यज्ञानुष्ठानं सुखफलं प्राप्तुं, सर्वशुभगुणाढ्याः सुखकारिणोऽन्नजलवाय्वादयः पदार्थाः शुद्धाश्च कर्तुं शक्यन्ते। तस्मादेतस्य त्रिविधस्य यज्ञस्य सिद्धिं प्रयत्नेन निष्पाद्य सुखे स्थातव्यम्। ये चाऽस्यां वायुजलौषधिदूषका दुर्गन्धादयो दोषा, दुष्टाश्च मनुष्याः सन्ति, ते सर्वदा निवारणीयाः ॥ २७ ॥

पदार्थः—जिस यज्ञ से उत्तम पदार्थों के साथ (सुक्ष्मा) यह पृथिवी शोभायमान (असि) होती है, (च) तथा जिससे सुखकारक गुण (च) अथवा मनुष्यों के साथ यह (शिवा) मङ्गल की देनेवाली (असि) होती है, (च) तथा जिस कर के उत्तम से उत्तम सुखों के साथ यह पृथिवी (स्योना) सुख उत्पन्न करनेवाली (असि) होती है, (च) और जिससे उत्तम उत्तम सुख करनेवाले और चलने के साथ यह (सुषदा) सुख से स्थिति करने योग्य (असि) होती है, [च] तथा जिन उत्तम यव आदि अन्नों के साथ यह (ऊर्जस्वती) अन्नवाली (असि) होती है, (च) और जिन उत्तम मधुर आदि रस वाले फलों करके यह पृथिवी (पयस्वती) प्रशंसा करने योग्य रस वाली (असि) होती है। (त्वा) उस यज्ञ को मैं यज्ञविद्या का जानने वाला मनुष्य (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) जो कि चित्त को प्रफुल्लित करनेवाला है, उससे (परिगृह्णामि) सब प्रकार से सिद्ध करता हूं, और मैं (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुभ् (छन्दसा) जो कि स्वतन्त्रतारूप से आनन्द का देनेवाला है, उससे (त्वा) पदार्थसमूह को (परिगृह्णामि) सब प्रकार से इकट्ठा करता हूं, तथा मैं (जागतेन) जगती जो कि (छन्दसा) अत्यन्त आनन्द का प्रकाश करनेवाला है, उससे (त्वा) उस भौतिक अग्नि को (परिगृह्णामि) अच्छी प्रकार स्वीकार करता हूं ॥ २७ ॥

भावार्थः—वेद का प्रकाश करनेवाला ईश्वर हम लोगों के प्रति कहता है कि हे मनुष्यो! तुम लोगों से वेदमन्त्रों के विना पढ़े और उन के अर्थों के विना

जाने यज्ञ का अनुष्ठान वा सुखरूप फल को प्राप्त होना और सब शुभ गुणयुक्त सुखकारी अन्न जल और वायु आदि पदार्थ हैं, उनको शुद्ध करना नहीं हो सकता। इससे इस तीन प्रकार के यज्ञ की सिद्धि यत्नपूर्वक संपादन कर के सदा सुख ही में रहना चाहिये, और जो इस पृथिवी में वायु जल तथा ओषधियों को दूषित करनेवाले दुर्गन्ध अपगुण तथा दुष्ट मनुष्य हैं, वे सर्वदा निवारण करने चाहियें ॥ २७ ॥

पुरा क्रूरस्येत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। विराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

ते दोषाः कथं निवारणीयास्तत्र मनुष्यैः पुनः किं करणीयमित्युपदिश्यते—

वे दोष कैसे निवारण करने, और उस विषय में मनुष्यों को फिर क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि॥ २८॥

पुरा। क्रूरस्य। विसृप इति विऽसृपः। विरप्शिन्निति विऽरप्शिन्। उदादायेत्युत्ऽआदाय। पृथिवीम्। जीवदानुमिति जीवऽदानुम्। याम्। ऐरयन्। चन्द्रमसि। स्वधाभिः। ताम्। ऊँ इत्यूँ। धीरासः। अनुदिश्येत्यनुऽदिश्य। यजन्ते॥ प्रोक्षणीरिति प्रऽउक्षणीः। आ। सादय। द्विषतः। वधः। असि॥ २८॥

पदार्थः—(पुरा) पुरस्तात्। (क्रूरस्य) कृन्तन्त्यङ्गानि यस्मिन्, तस्य युद्धस्य। कृतेश्छः क्रू च (उ० २। २१) अनेन कृन्तते रक् प्रत्ययः, क्रू इत्यादेशश्च। (विसृपः) योद्धृभिर्विविधं यत्सृप्यते, तस्य। सृपितृदोः कसुन् (अ० ३। ४। १७)। अनेन भावलक्षणे सृपिधातोः कसुन्। (विरप्शिन्) महागुणविशिष्टेश्वर! वा महैश्वर्यमिच्छुक मनुष्य! विरप्शीति महन्नामसु पठितम् (निघं० ३। ३)। (उदादाय) ऊर्ध्वं समन्ताद्

गृहीत्वा । (पृथिवीम्) विस्तृतप्रजायुक्ताम् । (जीवदानुम्) या जीवेभ्यो जीवनार्थं वस्तु ददाति, ताम् । (याम्) पृथिवीम् । (ऐरयन्) राज्याय प्राप्नुवन्ति । अत्र लडर्थे लङ् । (चन्द्रमसि) चन्द्रलोकसमीप आह्लादे वा । (स्वधाभिः) अन्नैः सह वर्त्तमानाम् । स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २ । ७) । (ताम्) एतल्लक्षणाम् । (उ) वितर्के । (धीरासः) मेधाविनः । धीर इति मेधाविनामसु पठितम् (निघं० ३ । १५) । (अनुदिश्य) प्राप्तुं शोधयितुमनुलक्ष्य । (यजन्ते) पूजयन्ति संगतिं कुर्वते । (प्रोक्षणीः) प्रकृष्टतया सिञ्चन्ति याभिः क्रियाभिः पात्रैर्वा ताः । (आ) समन्तात् । (सादय) स्थापय । (द्विषतः) शत्रोः । (वधः) हननम् । (असि) भवेत् । अत्रापि पुरुषव्यत्ययो लिङर्थे लट् च ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । ५ । १६—२६ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे विरप्शिन् जगदीश्वर ! भवानेव[1] यां स्वधाभिर्युक्तां जीवदानुं पृथिवीमुदादाय चन्द्रमसि स्थापितवान् अस्ति तस्माद्धीरासस्तामिमां पृथिवीं प्राप्य भवन्तमनुदिश्य नित्यं[2] यजन्ते । यथा चन्द्रमस्यानन्देन[3] वर्तमाना धीरासः यां जीवदानुं पृथिवीमुद्दिश्य सेनां शस्त्राण्युदादाय विरूपः क्रूरस्य मध्ये शत्रून् जित्वा राज्यमैरयन् प्राप्नुवन्ति । यथा चैवं कृत्वा धीरासः पुरा प्रोक्षणीश्चासादितवन्तस्तथैव हे विरप्शिन् ! त्वमपि उ इति वितर्के तां प्राप्येश्वरं यज प्रोक्षणीश्चासादय, यथा च द्विषतो वधोऽसि भवेत् तथा कृत्वाऽऽनन्दे नित्यं प्रवर्त्तस्व ॥ २८ ॥

भावार्थः—येनेश्वरेणान्तरिक्षे पृथिव्यस्तत्समीपे चन्द्रास्तत्समीपे पृथिव्योऽन्योन्यं समीपस्थानि नक्षत्राणि, सर्वेषां मध्ये सूर्यलोका एतेषु विविधाः प्रजाश्च रचयित्वा स्थापिताः, सर्वैस्तत्रस्थैर्मनुष्यैः स एवोपासितुं योग्योऽस्ति । न यावन्मनुष्या बलक्रियाभ्यां युक्ता भूत्वा शत्रून् विजयन्ते, नैव तावत् स्थिरं राज्यसुखं प्राप्नुवन्ति । [कुतः ?] नैव युद्धबलाभ्यां विना शत्रवो बिभ्यति । नैव च विद्यान्यायविनयैर्विना यथावत् प्रजाः पालयितुं शक्नुवन्ति । तस्मात् सर्वैर्जितेन्द्रियैर्भूत्वैतत्समासाद्य सर्वेषां सुखं कर्तुमनुलक्ष्य नित्यं प्रयतितव्यम् ॥ २८ ॥

---

१. 'भवतैव यां·····'स्थापिता तस्मात्' इति पूर्वमुद्रितः पाठः ।
२. 'नित्यं·····पृथिवीमुद्दिश्य' इति पाठः प्रतिलिपिकर्त्रा गकोशे प्रमादात् त्यक्तः ।
३. 'चन्द्रमस्यानन्दे' इति सप्तम्यन्तः पाठो युक्तः । चन्द्रमसि शब्दस्याह्लादार्थनिर्देशाद् भाषायां तथैवोपलम्भाच्च ।

पदार्थः—हे (विरप्शिन्) महाशय महागुणवान् जगदीश्वर ! आपने (याम्) जिस (स्वधाभिः) अन्न आदि पदार्थों से युक्त और (जीवदानुम्) प्राणियों को जीवन देनेवाले पदार्थ तथा (पृथिवीम्) बहुत सी प्रजायुक्त पृथिवी को (उदादाय) ऊपर उठाकर (चन्द्रमसि) चन्द्रलोक के समीप स्थापन की है, इस कारण [(ताम्)] उस पृथिवी को (धीरासः) धीर बुद्धिवाले पुरुष प्राप्त होकर आपके [(अनुदिश्य)] अनुकूल चल कर [(यजन्ते)] यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करते हैं। जैसे[1] (चन्द्रमसि) आनन्द में वर्त्तमान होकर (धीरासः) बुद्धिमान् पुरुष (याम्) जिस (जीवदानुम्) जीवों की हितकारक (पृथिवीम्) पृथिवी के आश्रित होकर सेना और शस्त्रों को (उदादाय) क्रम से लेकर (विरूपः) जो कि युद्ध करनेवाले पुरुषों के प्रभाव दिखाने योग्य और (क्रूरस्य) शत्रुओं के अङ्ग विदीर्ण करनेवाले संग्राम के बीच में शत्रुओं को जीत कर राज्य को [(ऐरयन्)] प्राप्त होते हैं। तथा जैसे इस उक्त प्रकार से धीर पुरुष (पुरा) पहिले समय में प्राप्त हुए जिन क्रियाओं से (प्रोक्षणीः) अच्छी प्रकार पदार्थों को सींच के उनको संपादन करते हैं, वैसे ही हे (विरप्शिन्) महान् ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुष ! तू भी उसको प्राप्त होके ईश्वर का पूजन तथा पदार्थसिद्धि करने वाली उत्तम उत्तम क्रियाओं का [(आसादय)] संपादन कर, [और] जैसे (द्विषतः) शत्रुओं का (वधः) नाश (असि) हो, वैसे कामों को करके नित्य आनन्द में वर्त्तमान रह ॥ २८ ॥

भावार्थः—जिस ईश्वर ने क्रम से अन्तरिक्ष में पृथिवी, पृथिवियों के समीप चन्द्रलोक, चन्द्रलोकों के समीप पृथिवी, एक दूसरे के समीप तारालोक और सब के बीच में अनेक सूर्यलोक तथा इन सब में नाना प्रकार की प्रजा रचकर स्थापन की है, वही परमेश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य है। जबतक मनुष्य बल और क्रियाओं से युक्त होकर शत्रुओं को नहीं जीतते, तब तक राज्यसुख को नहीं प्राप्त हो सकते, क्योंकि विना युद्ध और बल के शत्रु जन कभी नहीं डरते। तथा विद्वान् लोग विद्या, न्याय और विनय के विना यथावत् प्रजा के पालन करने को समर्थ नहीं हो सकते, इस कारण सब को जितेन्द्रिय होकर उक्त पदार्थों का संपादन करके सब के सुख के लिये उत्तम उत्तम प्रयत्न करना चाहिये ॥ २८ ॥

---

१. यहां अर्थ भेद से मन्त्रगत कुछ पद पुनः पढ़े हैं।

प्रत्युष्टमित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता सर्वस्य । पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे [च] त्रिष्टुप्[1] छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स संग्रामः किं कृत्वा जेतव्यो यज्ञश्चानुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते—

फिर उक्त संग्राम कैसे जीतना, और यज्ञ का अनुष्ठान कैसे करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः । अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि । प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः । अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ॥ २९ ॥

प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम् । रक्षः । प्रत्युष्टा इति प्रतिऽउष्टाः । अरातयः । निष्टप्तम् । निस्तप्तमिति निःऽतप्तम् । रक्षः । निष्टप्ताः । निस्तप्ता इति निःऽतप्ताः । अरातयः । अनिशित इत्यनिऽशितः । असि । सपत्नक्षिदिति सपत्नऽक्षित् । वाजिनम् । त्वा । वाजेध्याया इति वाजऽइध्यायै । सम् । मार्ज्मि ॥ प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम् । रक्षः । प्रत्युष्टा इति प्रतिऽउष्टाः । अरातयः । निष्टप्तम् । निस्तप्तमिति निःऽतप्तम् । रक्षः । निष्टप्ताः । निस्तप्ता इति निःऽतप्ताः । अरातयः अनिशितेत्यनिऽशिता । असि । सपत्नक्षिदिति सपत्नऽक्षित् । वाजिनीम् । त्वा । वाजेध्याया इति वाजऽइध्यायै । सम् । मार्ज्मि ॥ २९ ॥

पदार्थः—(प्रत्युष्टम्) प्रतिदग्धव्यम् । (रक्षः) विघ्नकारी प्राणी । (प्रत्युष्टाः) प्रतिदग्धव्याः । (अरातयः) सत्यविरोधिनोऽरयः । (निष्टप्तम्) यन्नितरां तप्यते, तत् । (रक्षः) बन्धनेन रक्षयितव्यम् । (निष्टप्ताः) नितरां तप्यन्ते, ये ते । (अरातयः) विद्याविघ्नकारिणः ।

---

१. पूर्वं मुद्रिते 'पूर्वार्द्धे भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः । उत्तरार्धे त्रिष्टुप्' इति पाठः ।

(अनिशितः) न विद्यते नितरां शिता तीव्रा क्रिया यस्मिन्, स संग्रामो यज्ञपात्रं वा । (असि) भवति । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (सपत्नक्षित्) सपत्नान् शत्रून् क्षयति येन, सः । अत्र कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ वा०) इति वार्त्तिकेन करणकारके क्विप्, क्षि क्षये इत्यस्य रूपम् । एतदुवटमहीधराभ्यां क्षिणु हिंसायामित्यस्य भ्रान्त्या व्याख्यातम्[1] । (वाजिनम्) अन्नवन्तं वेगवन्तं वा । वाज इत्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २।७) । (त्वा) तम् । (वाजेध्यायै) वाजेनान्नेन युद्धेन वा इध्या दीपनीया सेना यज्ञपात्रं वा यया क्रियया, तस्यै । (संमार्ज्मि) सम्यक् शोधयामि । (प्रत्युष्टम्) नित्यं प्रजापालनाय तापनीयः । (रक्षः) परसुखासहो मनुष्यः । (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्षं ज्वालनीयाः । (अरातयः) परसुखासोढारः । (निष्टप्तम्) निःसारणीयः । ([2]रक्षः) द्यूतजारकर्मशीलः । (निष्टप्ताः) निस्सारणीयाः । (अरातयः) अन्येभ्यो दुःखप्रदाः । (अनिशिता) अतिविस्तीर्णा सेना, कार्या वेदिर्वा । (असि) अस्ति । अत्रापि व्यत्ययः । (सपत्नक्षित्) सपत्नान् क्षयति यया, सा । (वाजिनीम्) बलवेगवतीम् । (त्वा) त्वाम् । (वाजेध्यायै) वाजेन बहुसाधनसमूहेन संग्रामेण सेनया यज्ञेन वा प्रकाशनीयायै सत्यनीत्यै । (संमार्ज्मि) सम्यक् शिक्षया शोधयामि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ३ । १ । ४—११ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अहं येनाशितेन[3] सपत्नक्षिता संग्रामेण प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो भवन्ति तं वाजिनं युद्धाङ्गानि वाजेध्यायै संमार्ज्मि । अहं यया सपत्नक्षिताऽनिशितया सेनया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो भवन्ति तां वाजिनीं सेनां शिक्षया वाजेध्यायै संमार्ज्मि ॥

---

१. क्षिणोतेः क्विपि नकारलोपस्यासंभवात्, क्षि क्षये इत्यस्मादञ्जसा सिद्धेश्च । गमः क्वौ (अ० ६ । ४ । ४०) इत्यत्र 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' इति वार्तिक-व्याख्यानेऽस्यानिर्देशान्नैतेन प्रयोगसिद्धिः सम्भवति । यत्तु 'सपत्नान् क्षिणुयात्' इति शतपथवचनम् (१ । ३ । १ । ६), तदर्थनिदर्शनपरम्, न धातुनिदर्शनपरम् ।

२. '(रक्षः)......निस्सारणीयाः' इति पाठो गकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा दृष्टिदोषात् परित्यक्तः ।

३. पदार्थे 'अनिशितः सपत्नक्षित्' उभे अपि पदे प्रथमार्थे व्याख्याते, इह तृतीयान्ते पठ्येते । अपि चात्रान्वयेऽनेकानि पदानि त्यक्तानि ।

अहं येनाशितेन सपत्नक्षिता यज्ञेन प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो भवन्ति तं वाजिनं यज्ञं वाजेध्यायै संमार्ज्मि[1] एवं यया सपत्नक्षिता अनिशितया क्रियया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो भवन्ति तां वाजिनीं वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि । तथैव भवन्तोऽप्येतां सम्मार्जन्तु ॥ २९ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—सर्वैर्मनुष्यैर्विद्याशुभगुणदीप्त्या दुष्टशत्रुनिवारणाय नित्यं पुरुषार्थः कर्त्तव्यः । सुशिक्षया शस्त्रास्त्र-सत्पुरुषाढ्यसेनया श्रेष्ठानां रक्षणं, दुष्टानां ताडनं च नित्यं कर्त्तव्यम् । यतोऽशुद्धिक्षयात् सर्वत्र पवित्रता प्रवर्त्तेत ॥ २९ ॥

पदार्थः—[2]मैं जिस अतिविस्तृत शत्रुओं के नाश करने वाले संग्राम से (प्रत्युष्टं रक्षः) विघ्नकारी प्राणी और (प्रत्युष्टा अरातयः) जिससे सत्यविरोधी अच्छी प्रकार दाहरूप दण्ड को प्राप्त होते हैं, वा (निष्टप्तं रक्षः) जिस बन्धन से बांधने योग्य (निष्टप्ता अरातयः) विद्या के विघ्न करने वाले निरन्तर संताप को प्राप्त होते हैं (त्वा) उस (वाजिनम्) वेग आदि गुणवाले संग्राम को (वाजेध्यायै) जो कि अन्न आदि पदार्थों से बलवान् करने के योग्य सेना है, उसके लिये युद्ध के साधनों को (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूं अर्थात् उनके दोषों का विनाश करता हूं, और मैं जिस (सपत्नक्षित्) शत्रु का नाश करने वाले और (अनिशिता) अति विस्तारयुक्त सेना से (प्रत्युष्टं रक्षः) परसुख को न सहनेवाला मनुष्य वा (प्रत्युष्टा अरातयः) उक्त अपगुणवाले अनेक मनुष्य (निष्टप्तं रक्षः) जुआ खेलने और परस्त्रीगमन करने तथा (निष्टप्ता अरातयः) औरों को सब प्रकार से दुःख देनेवाले मनुष्य अच्छी प्रकार निकाले जाते हैं (त्वा) उस (वाजिनीम्) बल और वेग आदि गुणवाली सेना को (वाजेध्यायै) बहुत साधनों से प्रकाशित करने के लिये (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार उत्तम उत्तम शिक्षाओं से शुद्ध करता हूं ॥

मैं जिस (अनिशितः) बड़ी क्रियाओं से सिद्ध होने योग्य वा (सपत्नक्षित्) दोषों वा शत्रुओं के विनाश करनेहारे यज्ञ वा युद्ध [3]से (प्रत्युष्टं रक्षः) विघ्नकारी

१. 'एवं यया·········सम्मार्जन्तु' अयं पाठः खकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः प्रतीयते, ककोशउपलम्भात् ।

२. यहां अनेक मन्त्र पदों का निर्देश नहीं किया है । तथा मन्त्रगत 'अनिशितः, सपत्नक्षित्' इन पदों का अर्थ संस्कृत पदार्थ में प्रथमा में दर्शाया है, परन्तु संस्कृत अन्वय में ये तृतीयान्तरूप से पठित हैं । उसी के अनुसार भाषार्थ में भी तृतीयान्त के अर्थ ही लिखे हैं ।

३. 'से (प्रत्युष्टं रक्षः)······(वाजिनम्) यज्ञ' इतना पाठ प्रथम संस्करण के अनन्तर संशोधक-प्रमाद से छूट गया है ।

प्राणी और (प्रत्युष्टा अरातयः) जिसमें सत्यविरोधी अच्छी प्रकार दाहरूप दण्ड को प्राप्त होते हैं, वा (निष्टप्तं रक्षः) जिस बन्धन से बांधने योग्य (निष्टप्ता अरातयः) विद्या के विघ्न करनेवाले निरन्तर सन्ताप को प्राप्त होते हैं (त्वा) उस (वाजिनम्) यज्ञ को (वाजेध्यायै) अन्न आदि पदार्थों के प्रकाशित होने के लिये (संमार्ज्मि) शुद्धता से सिद्ध करता हूं। [[1]इस प्रकार जिस (सपत्नक्षित्) शत्रुओं का नाश करनेवाली (अनिशिता) अति विस्तार युक्त क्रिया से (प्रत्युष्टं रक्षः) विघ्नकारी प्राणी और (प्रत्युष्टा अरातयः) दुर्गुण तथा नीच मनुष्य नष्ट होते हैं (निष्टप्तं रक्षः) काम क्रोध आदि राक्षसीभाव दूर होते हैं (निष्टप्ता अरातयः) जिसमें दुःख तथा दुर्गन्ध आदि दोष नष्ट (असि) होते हैं, (त्वा) उस (वाजिनीम्) सत्क्रिया को (वाजेध्यायै) अन्न आदि पदार्थों से प्रकाशित होने योग्य सत्यनीति के लिए (सम्मार्ज्मि) भली प्रकार सिद्ध करता हूं। इसी प्रकार आप भी इस यज्ञ तथा सत्क्रिया को पवित्रता पूर्वक सिद्ध करो] ॥ २९ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्यों को विद्या और शुभ गुणों के प्रकाश और दुष्ट शत्रुओं की निवृत्ति के लिये नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये, तथा सदैव श्रेष्ठ शिक्षा शस्त्र अस्त्र और सत्पुरुषयुक्त उत्तम सेना से श्रेष्ठों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करना चाहिये, जिस करके अशुद्धि आदि दोषों के विनाश होने से सर्वत्र शुद्ध गुण प्रवृत्त होवें ॥ २९ ॥

अदित्या इत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स यज्ञः कीदृशः, किं फलो भवतीत्युपदिश्यते—

फिर उक्त यज्ञ किस प्रकार का और कौन फल का देनेवाला होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावं पश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने मे भव यजुषेयजुषे ॥ ३० ॥

अदित्यै। रास्ना। असि। विष्णोः। वेष्पः। असि। ऊर्जे। त्वा। अदब्धेन। त्वा। चक्षुषा। अव। पश्यामि॥ अग्नेः।

[1] यह कोष्ठान्तर्गतपाठ संस्कृत में कहस्तलेखानुसार दिए गए पाठ का अनुवाद-रूप है।

जिह्वा । असि । सुहूरिति सुऽहूः । देवेभ्यः । धाम्नेधाम्न इति धाम्नेऽधाम्ने । मे । भव । यजुषेयजुष इति यजुषेऽयजुषे ॥ ३० ॥

पदार्थः—(अदित्यै) पृथिव्या अन्तरिक्षस्य वा । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम् (निघं० १ । १), पदनामसु च (निघं० ४ । १) अनेन[1] गमनागमनव्यवहारप्राप्तिहेतुरवकाशोऽन्तरिक्षं गृह्यते । (रास्ना) रसहेतुभूता क्रिया । रास्नासास्नास्थूणावीणाः (उ० ३।१५)। अनेन रसधातोर्निपातनान्नः प्रत्ययः । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (विष्णोः) व्यापकेश्वरस्य, यज्ञस्य वा । यज्ञो वै विष्णुः (श० १ । १ । २ । १३) । (वेष्पः) वेवेष्टि व्याप्नोति पृथिवीमन्तरिक्षं वा, स यज्ञोत्थो वाष्पो ज्ञानसमूहो वा । पानीविषिभ्यः पः (उ० ३ । २३) अनेन विषेः पः प्रत्ययः । (असि) अस्ति वा । (ऊर्जे) अन्नाय रसाय पराक्रमाय च । (त्वा) त्वां, तं वा । (अदब्धेन) सुखयुक्तेन । (त्वा) त्वां, तं वा । (चक्षुषा) विज्ञानेन प्रत्यक्षप्रमाणेन नेत्रेण । (अव) क्रियार्थे । अवेति विनिग्रहार्थीयः (निरु० १ । ३) । (पश्यामि) संप्रेक्षे । (अग्नेः) भौतिकस्य । (जिह्वा) जिहीते विजानाति रसमनया सा । शेवायह्वजिह्वा० (उ० १ । १५४) अनेनायं निपातितः । (असि) अस्ति वा । (सुहूः) सुष्ठु हूयते यो या वा सा । कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ वा०) इति कर्मणि ह्वेञ् इत्यस्य क्विबन्तः प्रयोगः । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा । (धाम्नेधाम्ने[2]) दधति वस्तूनि सुखानि च यस्मिन् तस्मै, प्रत्यधिकरणप्राप्तये । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति (निरु० ६ । २८) । अत्र वीप्सायां द्वित्वम् । (भव) भवति वा । (यजुषेयजुषे) यजन्ति येन तस्मै, प्रतियजुर्वेदमन्त्रम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ३ । १ । १२—१६ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यस्त्वम् [अदित्यै] अदित्या रास्नासि [विष्णोः] विष्णुरसि सर्वस्य वेष्पोऽस्यग्नेर्जिह्वासि देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने यजुषेयजुषे सुहूरसि । एवंभूतं [त्वा] त्वामहमदब्धेन चक्षुषा ऊर्जेऽदित्यै देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने यजुषेयजुषे त्वावपश्यामि । स च त्वमस्माभिः सर्वत्र कृपया [मे] विदितः पूजितश्च भव इत्येकः ॥

१. 'अनेन' अर्थात् पदनामसु पाठेन ।

२. पदकारा द्विर्वचनमेकपदवत् स्वीकुर्वन्ति । पाणिनीयास्तु न तथा प्रतिपद्यन्ते ।

यतोऽयं यज्ञोऽ[दित्यै अ]दित्या रास्ना[स्य]स्ति विष्णोर्वेष्पोऽ[स्य]स्त्यग्नेर्जिह्वा[स्य]स्ति देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने यजुषेयजुषे सुहू[र्मे भव] भवति तस्मात्तमहमदब्धेन चक्षुषोर्जेऽवपश्यामि तथाऽदित्यै देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने यजुषेयजुषे हितायाऽवपश्यामि ॥ ३० ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। सर्वैर्मनुष्यैरयं जगदीश्वरः प्रतिवस्तुषु[1] स्थितः, प्रतिमन्त्रं प्रतिपादितः, पूज्यश्च भवतीति मन्तव्यम्। तथा चायं यज्ञः प्रतिमन्त्रेण[2] सम्यगनुष्ठितः सर्वप्राणिभ्यः प्रतिवस्तुषु[1] पराक्रमबलप्राप्तये भवतीति ॥ ३० ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! जो आप (अदित्यै) पृथिवी के (रास्ना) रस आदि पदार्थों के उत्पन्न करनेवाले (असि) हैं, (विष्णोः) व्यापक (वेष्पः) पृथिवी आदि सब पदार्थों में प्रवर्त्तमान भी (असि) हैं, तथा (अग्नेः) भौतिक अग्नि के (जिह्वा) जीभरूप (असि) हैं, वा (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (धाम्ने धाम्ने) जिन में कि वे विद्वान् सुखरूप पदार्थों को प्राप्त होते हैं, जो तीनों धाम अर्थात् स्थान नाम और जन्म हैं उन धामों की प्राप्ति के तथा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र मन्त्र का आशय प्रकाशित होने के लिये (सुहूः) जो श्रेष्ठता से स्तुति करने के योग्य है, इस प्रकार के (त्वा) आप को मैं (अदब्धेन) प्रेमसुखयुक्त (चक्षुषा) विज्ञान से (ऊर्जे) पराक्रम (अदित्यै) पृथिवी तथा (देवेभ्यः) श्रेष्ठ गुणों वा (धाम्ने धाम्ने) स्थान नाम और जन्म आदि पदार्थों की प्राप्ति तथा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र मन्त्र के आशय जनाने के लिये [(त्वा) आपको] (अवपश्यामि) ज्ञानरूपी नेत्रों से देखता हूं। आप भी कृपा कर के मुझको विदित और मेरे पूजन को प्राप्त (भव) हूजिये।। यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ ॥

अब दूसरा कहते हैं—जिस कारण यह यज्ञ (अदित्यै) अन्तरिक्ष के संबन्धी (रास्ना) रसादि पदार्थों की क्रिया का कारण (असि) है, (विष्णोः) यज्ञसंबन्धी कार्यों का (वेष्पः) व्यापक (असि) है, (अग्नेः) भौतिक अग्नि का (जिह्वा) जिह्वारूप (असि) है, तथा (देवेभ्यः) दिव्य गुण (धाम्ने धाम्ने) कीर्ति स्थान और जन्म इनकी प्राप्ति वा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र मन्त्र का आशय जानने के लिये (सुहूः) अच्छी प्रकार प्रशंसा करने योग्य

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
२. तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् (अ० २। ४। ८४) इति सूत्रेणामोऽभावे साधुत्वं द्रष्टव्यम्।

[(मे) मेरे लिए (भव)] होता है, इस कारण (त्वा) उस यज्ञ को मैं (अदब्धेन) सुखपूर्वक (चक्षुषा) प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ नेत्रों से (अवपश्यामि) देखता हूं तथा (त्वा) उसे (अदित्यै) पृथिवी आदि पदार्थ (देवेभ्यः) उत्तम उत्तम गुण (धाम्ने धाम्ने) स्थान स्थान तथा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र मन्त्र से हित होने के लिये (अवपश्यामि) क्रिया की कुशलता से देखता हूं ॥३०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। सब मनुष्यों को जैसे यह जगदीश्वर वस्तु वस्तु में स्थित तथा वेद के मन्त्र मन्त्र में प्रतिपादित और सेवा करने योग्य है, वैसे ही यह यज्ञ वेद के प्रतिमन्त्र से अच्छी प्रकार सिद्ध, प्रतिपादित, विद्वानों से सेवित किया हुआ सब प्राणियों के लिये पदार्थ पदार्थ में पराक्रम और बल के पहुंचाने के योग्य होता है ॥ ३० ॥

सवितुस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता सर्वस्य। पूर्वार्द्धे जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥ तेजोऽसीत्यस्याऽनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

स: यज्ञः कथं पवित्रीकरोतीत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ कैसे पवित्र करता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है॥

सवितुस्त्वा। प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥३१॥

सवितुः। त्वा। प्रसव इति प्रऽसवे। उत्। पुनामि। अच्छिद्रेण। पवित्रेण। सूर्यस्य। रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः। सवितुः। वः। प्रसव इति प्रऽसवे। उत्। पुनामि। अच्छिद्रेण। पवित्रेण। सूर्यस्य। रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः॥ तेजः। असि। शुक्रम्। असि। अमृतम्। असि। धाम। नाम। असि। प्रियम्। देवानाम्। अनाधृष्टम्। देवयजनमिति देवऽयजनम्। असि॥३१॥

पदार्थः—(सवितुः) परमेश्वरस्य सूर्यलोकस्य वा। (त्वा) त्वां जगदीश्वरं, तं यज्ञं वा। (प्रसवे) प्रकृष्टतयोत्पद्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिँस्तस्मिन् संसारे। (उत्) उत्कृष्टार्थे। उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह (निरु० १। ३)। (पुनामि) पवित्री करोमि। (अच्छिद्रेण) न विद्यते छिद्रं छेदनं यस्मिन्, तेन। (पवित्रेण) शुद्धेन चराचरात्मनः परमेश्वरस्य प्रकाशमयस्य सूर्यलोकस्य वा। सरति जानाति प्रकाशयति चराचरं जगदिति। राजसूयसूर्य० (अ० ३। १। ११४) अनेन निपातितः। (रश्मिभिः) प्रकाशकैर्गुणैः किरणैर्वा। (सवितुः) उक्तार्थस्य। (वः) युष्मानेताँश्च। (प्रसवे) उक्तार्थे। [(उत्) उत्कृष्टार्थे। (पुनामि) पवित्री-करोमि।] (अच्छिद्रेण) निरन्तरेण। (पवित्रेण) शुद्धिकारकेण। (सूर्यस्य) यः सुवत्यैश्वर्यं ददाति, ऐश्वर्यहेतून् प्रेरयति सः परमेश्वरः प्राणो वा, तस्य। (रश्मिभिः) अन्तःप्रकाशकैर्गुणैः। (तेजः) स्वप्रकाशः, प्रकाशहेतुर्वा। (असि) अस्ति वा। अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः। (शुक्रम्) शुद्धं, शुद्धिहेतुर्वा। (असि) अस्ति वा। (अमृतम्) अमृतात्मकं मोक्षसुखं प्रकाशनं वा। (असि) अस्ति वा। (धाम) धीयन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् तत्। (नाम) नमस्करणीयो जलहेतुर्वा। नाम इत्युदकनामसु पठितम् (निघं० १। १२)। (असि) अस्ति वा। (प्रियम्) प्रीतिकारकम्। (देवानाम्) विदुषां दिव्यगुणानां वा। (अनाधृष्टम्) यन्न समन्ताद्धृष्यत इत्यनाधृष्टम्। (देवयजनम्) देवैर्यदिज्यते, येन वा देवानां यजनं, देवयजनं तत्। (असि) अस्ति वा॥ अयं मन्त्रः श० १। ३। १। २२—२८, १। ३। २। १—१८ व्याख्यातः॥ ३१॥

अन्वयः—यो यज्ञः [सवितुः प्रसवे]ऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः सह सर्वान् पदार्थान् पुनाति [त्वा] त्वां यजमानं वाहऽहमुत्पुनामि। एवं च सवितुः प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्वो युष्मानेताँश्च पदार्थान् यज्ञेनोत्पुनामि। हे ब्रह्मन्! यस्त्वं तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धामासि नामासि देवानां प्रियमस्यनाधृष्टमसि देवयजनमसि तस्मात्त्वामेवाहमाश्रयामीत्येकः॥

यतोऽयं यज्ञस्तेजोऽ[स्य]स्ति शुक्रम[स्य]स्त्यमृतम[स्य]स्ति धामास्ति नामा[स्य]स्ति देवानां प्रियमनाधृष्टं देवयजनम[स्य]स्ति, तेनानेन यज्ञेनाहं सवितुर्जगदीश्वरस्य प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्वो युष्मानेतान् सर्वान् पदार्थांश्चोत्पुनामि[1]॥ इति द्वितीयः॥ ३१॥

१. द्वितीयान्वये पूर्वार्धो न योजितः।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। ईश्वरो यज्ञविद्याफलं ज्ञापयति—युष्माभिर्यथावदनुष्ठितो यज्ञः सूर्यस्य रश्मिभिर्विहरति, स स्वकीयेन पवित्रेणाच्छिद्रेण गुणेन सर्वान् पदार्थान् पवित्रयति। स च तद्द्वारा सूर्यस्य रश्मिभिस्तेजस्विनः शुद्धानमृतरसान् सुखहेतुकान् प्रसन्नताजनकान् दृढान् यज्ञहेतून् पदार्थान् करोति। यतस्तद्भोजनाच्छादनद्वारा वयं शरीरपुष्टिबुद्धिबलादीन् शुद्धगुणाँश्च संपाद्य नित्यं सुखयाम इति ॥ ३१ ॥

ईश्वरेणास्मिन्नध्याये मनुष्यान् प्रति शुद्धकर्मानुष्ठातुं, दोषान् शत्रूंश्च निवारयितुं, यज्ञक्रियाफलं ज्ञातुं, सम्यक् पुरुषार्थं कर्त्तुं, विद्यां विस्तारयितुं, धर्मेण प्रजाः पालयितुं, धर्मानुष्ठाने निर्भयतया स्थातुं, सर्वैः सह मित्रतामाचरितुं, वेदाध्ययनाध्यापनाभ्यां सर्वा विद्या ग्रहीतुं, ग्राहयितुं, शुद्धये परोपकाराय च प्रयतितुमाज्ञा दत्तास्ति, सेयं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावदनुष्ठातव्येति ॥

पदार्थः—जो यज्ञ [(सवितुः) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में] (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पवित्रेण) पवित्र तथा (सूर्यस्य) प्रकाशमय सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ मिल के सब पदार्थों को शुद्ध करता है, (त्वा) उस यज्ञ वा यज्ञकर्त्ता को मैं (उत्पुनामि) उत्कृष्टता के साथ पवित्र करता हूं। इसी प्रकार (सवितुः) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पवित्रेण) शुद्धिकारक (सूर्यस्य) ऐश्वर्य्य हेतुओं के प्रेरक प्राण के (रश्मिभिः) अन्तराशय के प्रकाश करनेवाले गुण हैं, उनसे (वः) तुम लोगों को तथा प्रत्यक्ष पदार्थों को यज्ञ करके (उत्पुनामि) पवित्र करता हूं। हे ब्रह्मन् ! जिस कारण आप (तेजोऽसि) स्वयं प्रकाशवान् (शुक्रमसि) शुद्ध (अमृतमसि) नाशरहित (धाम) सब पदार्थों का आधार (नामासि) वन्दना करने योग्य (देवानाम्) विद्वानों के (प्रियम्) प्रीतिकारक तथा (अनाधृष्टम्) किसी की भयता में न आने योग्य वा (देवयजनमसि) विद्वानों के पूजा करने योग्य हैं, इससे मैं आपका ही आश्रय करता हूं॥ यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ॥

जिस कारण यह यज्ञ (तेजोऽसि) प्रकाश और (शुक्रमसि) शुद्धि का हेतु (अमृतमसि) मोक्ष सुख का देने तथा (धाम) सब अन्न आदि पदार्थों की पुष्टि करने वा (नामासि) जल का हेतु (देवानाम्) श्रेष्ठ गुणों की (प्रियम्) प्रीति कराने तथा (अनाधृष्टम्) किसी को खण्डन करने के योग्य नहीं अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट और (देवयजनम्) विद्वान् जनों को परमेश्वर का पूजन करानेवाला

(असि) है, इस कारण इस यज्ञ से मैं (सवितुः) जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पवित्रेण) अति शुद्ध यज्ञ वा (सूर्यस्य) ऐश्वर्य उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर के गुण अथवा ऐश्वर्य के उत्पन्न करानेवाले सूर्य की (रश्मिभिः) विज्ञानादि प्रकाश वा किरणों से (वः) तुम लोगों वा प्रत्यक्ष पदार्थों को (उत्पुनामि) पवित्र करता हूं ॥ यह दूसरा अर्थ हुआ ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। परमेश्वर यज्ञ-विद्या के फल को जनाता है कि जो तुम लोगों से अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ है, वह सूर्य की किरणों के साथ रहकर अपने निरन्तर शुद्ध गुण से सब पदार्थों को पवित्र करता है, तथा वह उस के द्वारा सब पदार्थों को सूर्य की किरणों से तेजवान्, शुद्ध, उत्तम रसवाले, सुखकारक, प्रसन्नता का हेतु, दृढ़ और यज्ञ करानेवाले पदार्थों को उत्पन्न करके उनके भोजन वस्त्र से शरीर की पुष्टि, बुद्धि और बल आदि शुद्ध गुणों को संपादन करके सब जीवों को सुख देता है ॥ ३१ ॥

ईश्वर ने इस अध्याय में मनुष्यों को शुद्ध कर्म के अनुष्ठान, दोष और शत्रुओं की निवृत्ति, यज्ञक्रिया के फल को जानने, अच्छी प्रकार पुरुषार्थ करने, विद्या के विस्तार करने, धर्म के अनुकूल प्रजा पालने, धर्म के अनुष्ठान में निर्भयता से स्थिर होने, सब के साथ मित्रता से वर्तने, वेदों से सब विद्याओं का ग्रहण करने और कराने को, शुद्धि तथा परोपकार के लिये प्रयत्न करने को आज्ञा दी है, सो यह सब मनुष्यों को अनुष्ठान करने के योग्य है ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना सुविरचिते संस्कृतार्यभाषाविभूषिते यजुर्वेदभाष्ये प्रथमोऽध्यायः संपूर्णः ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

१३

❀ अथ द्वितीयाध्यायारम्भः ❀



ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥ य० ३०। ३॥

ईश्वरेणैतत्[1] सर्वमाद्येऽध्याये विधायेदानीं द्वितीयेऽध्याये प्राणिनां सुखायोक्तार्थस्य सिद्धिं कर्त्तुं विशिष्टा विद्याः प्रकाश्यन्ते॥

कृष्णोऽसीत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। यज्ञो देवता।
निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥
तत्रादौ वेद्यादिरचनमुपदिश्यते॥

अब दूसरे अध्याय में परमेश्वर ने उन विद्याओं की सिद्धि करने के लिये विशेष विद्याओं का प्रकाश किया है कि जो जो प्रथम अध्याय में प्राणियों के सुख के लिये प्रकाशित की हैं। उनमें से वेदि आदि पदार्थों के बनाने को हस्तक्रियाओं के सहित विद्याओं के प्रकार प्रकाशित किये हैं। उन में से प्रथम मन्त्र में यज्ञ सिद्ध करने के लिये साधन अर्थात् उनकी सिद्धि के निमित्त कहे हैं।

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ १॥

कृष्णः। असि। आखरेष्ठः। आखरेस्थ इत्याखरेऽस्थः। अग्नये। त्वा। जुष्टम्। प्र। उक्षामि। वेदिः। असि। बर्हिषे। त्वा। जुष्टाम्। प्र। उक्षामि। बर्हिः। असि। स्रुग्भ्य इति स्रुक्ऽभ्यः। त्वा। जुष्टम्। प्र। उक्षामि॥ १॥

पदार्थः—(कृष्णः) अग्निना छिन्नो वायुनाऽकर्षितो[2] यज्ञः। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (आखरेष्ठः) समन्तात् खनति

---

१. यत् किंचित् प्रथमाध्यायान्ते परिगणितं तद् एतच्छब्देनात्र परामृश्यते।
२, अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

यं, तस्मिन् तिष्ठतीति सः। खनोडडरेकेकवकाः (अ० ३। ३। १२५) अनेन वार्तिकेनाऽऽखरः सिध्यति। (अग्नये) हवनार्थाय। (त्वा) तद्धविः। (जुष्टम्) प्रीत्या संशोधितम्। (प्रोक्षामि) शोधितेन घृतादिनाऽऽर्द्रीकरोमि। (वेदिः) विन्दति सुखान्यनया सा। (असि) भवति। (बर्हिषे) अन्तरिक्षगमनाय। बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् (निघं० १। ३)। (त्वा) तां वेदिम्। (जुष्टाम्) प्रीत्या संपादिताम्। (प्रोक्षामि) प्रकृष्टतया घृतादिना सिञ्चामि। (बर्हिः) शुद्धमुदकम्। बर्हिरित्युदकनामसु पठितम् (निघं० १। १२)। (असि) भवति। (स्रुग्भ्यः) स्रावयन्ति गमयन्ति हविर्येभ्यस्तेभ्यः। अत्र स्रुगतावित्यस्मात् चिक् च (उ० २। ६१) अनेन चिक् प्रत्ययः। (त्वा) तत्। (जुष्टम्) पुष्ट्यादिगुणयुक्तं प्रीतिकरं जलं पवनं वा। (प्रोक्षामि) शोधयामि॥ अयं मन्त्रः श० १। ३। ३। १—३ व्याख्यातः॥ १॥

अन्वयः—यतोऽयं यज्ञ आखरेष्ठः कृष्णो[ऽसि] भवति तस्मात् त्वा तमहमग्नये जुष्टं प्रोक्षामि। यत इयं वेदिरन्तरिक्षस्थासि भवति तस्मादहं त्वा तामिमां बर्हिषे जुष्टां प्रोक्षामि। यत इदं बर्हिरुदकमन्तरिक्षस्थं सच्छुद्धिकारि [असि] भवति तस्मात् त्वा तच्छोधितं जुष्टं हविः स्रुग्भ्योऽहं प्रोक्षामि॥ १॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—सर्वैर्मनुष्यैर्वेदिं रचयित्वा, पात्रादिसामग्रीं गृहीत्वा, सम्यक् शोधित्वा,[1] तद्धविरग्नौ हुत्वा कृतो यज्ञः शुद्धेन वृष्टिजलेन सर्वा ओषधीः पोषयति। तेन सर्वे प्राणिनो नित्यं सुखयितव्या इति॥ १॥

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ (आखरेष्ठः) वेदी की रचना से खुदे हुए स्थान में स्थिर होकर (कृष्णः) भौतिक अग्नि से छिन्न अर्थात् सूक्ष्मरूप और पवन के गुणों से आकर्षण को प्राप्त (असि) होता है, इससे मैं (अग्नये) भौतिक अग्नि के बीच में हवन करने के लिये (जुष्टम्) प्रीति के साथ शुद्ध किये हुए (त्वा) उस यज्ञ अर्थात् होम की सामग्री को (प्रोक्षामि) घी आदि पदार्थों से सींचकर शुद्ध करता हूं, और जिस कारण यह [(वेदिः)] वेदी अन्तरिक्ष में स्थित [(असि)] होती है, इससे मैं (बर्हिषे) होम किये हुए पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुंचाने के लिये (जुष्टाम्) प्रीति से संपादन की हुई (त्वा) उस वेदि को (प्रोक्षामि) अच्छे प्रकार घी आदि पदार्थों से सींचता हूं। तथा जिस

१. 'शोधयित्वा' सर्वकोशेषु पाठः। 'शोधित्वा' इत्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

कारण यह (बर्हिः) जल अन्तरिक्ष में स्थिर होकर पदार्थों की शुद्धि करने वाला [(असि)] होता है, इससे (त्वा) उसकी शुद्धि के लिये जो कि शुद्ध किया हुआ (जुष्टम्) पुष्टि आदि गुणों को उत्पन्न करनेहारा हवि है, उसको मैं (स्रुग्भ्यः) स्रुवा आदि साधनों से अग्नि में डालने के लिये (प्रोक्षामि) शुद्ध करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को वेदी बनाकर और पात्र आदि होम की सामग्री लेके, उस हवि को अच्छी प्रकार शुद्ध कर तथा अग्नि में होम करके किया हुआ यज्ञ वर्षा के शुद्ध जल से सब ओषधियों को पुष्ट करता है। उस यज्ञ के अनुष्ठान से सब प्राणियों को नित्य सुख देना मनुष्यों का परम धर्म है ॥ १ ॥

अदित्या इत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। स्वराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

एवं कृतो यज्ञः किंहेतुको भवतीत्युपदिश्यते—

इस प्रकार किया हुआ यज्ञ क्या सिद्ध करनेवाला होता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

अदि॑त्यै॒ व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑ स्तु॒पो॒ऽस्यूर्ण॑म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वास॒स्थां दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भू॒ताना॒ं पत॑ये॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

अदि॑त्यै। व्युद॑न॒मिति॑ वि॒ऽउन्द॑नम्। अ॒सि। विष्णोः॑। स्तु॒पः। अ॒सि। ऊर्ण॑म्रद॒समित्यूर्ण॑ऽम्रदसम्। त्वा॒। स्तृ॒णा॒मि। स्वा॒स॒स्था॒मिति॑ सु॒ऽआ॒स॒स्थाम्। दे॒वेभ्यः॑। भुव॒पत॒य इति॑ भुव॑ऽपतये। स्वाहा॑। भुव॑नपत॒य इति॑ भुव॑नऽपतये। स्वाहा॑। भू॒ताना॑म्। पत॑ये। स्वाहा॑ ॥ २ ॥

पदार्थः—(अदित्यै) पृथिव्याः। अत्र 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि'[1] (अ० २। ३। ६२) इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। (व्युन्दनम्) विविधा-

---

१. चतुर्थ्यर्थे षष्ठीविधायकमिदम्, परन्तु बहुलग्रहणात् षष्ठ्यर्थे चतुर्थीमपि विदधाति 'क्वचिदन्यदेव' इति वचनात्। अत एवाभियुक्ता आहुः—'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके' इति (द्र० परिभाषासंग्रह पृ० ४६, पूना सं०)।

नामोषध्यादीनामुन्दनं क्लेदनं येन तत्। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (विष्णोः) यज्ञस्य। (स्तुपः) शिखा। यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुपः (श० १।३।३।५)। (असि) अस्ति। (ऊर्णम्रदसम्) ऊर्णानि धान्याच्छादनानि तुषाणि म्रदयति येन, तं पाषाणमयम्। (त्वा) तम्। (स्तृणामि) आच्छादयामि। (स्वासस्थाम्) सुष्ठु आसाः प्रक्षिप्तास्तिष्ठन्ति यस्यां सा वेदिस्ताम्। अत्र घञर्थे कविधानम् (अ० ३।३।५८) इति वार्त्तिकेन कः प्रत्ययः। (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा। (भुवपतये) भवन्त्युत्पद्यन्ते भूतानि यस्मिन् संसारे, तस्य पतिस्तस्मै जगदीश्वराय, आहवनीयाख्याग्नये वा। अत्र बाहुलकाद् भूधातोरौणादिकः कः प्रत्ययः। (स्वाहा) सत्यभाषणयुक्ता वाक्। स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम् (निघं० १।११)। स्वाहाशब्दस्यार्थं निरुक्तकार एवं समाचष्टे—स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (निरु० ८।२०)। यत् शोभनं वचनं सत्यकथनं स्वपदार्थान् प्रति ममत्ववचो मन्त्रोच्चारणेन हवनं चेति स्वाहाशब्दार्था विज्ञेयाः। (भुवनपतये) भुवनानां सर्वेषां लोकानां पतिः। पालक ईश्वरः, पालनहेतुर्भौतिको वा, तस्मै। (स्वाहा) उक्तार्थः। (भूतानां पतये) भूतान्युत्पन्नानि यावन्ति वस्तूनि सन्ति, तेषां यः पतिः स्वामीश्वर ऐश्वर्यहेतुर्भौतिको वा, तस्मै। (स्वाहा) उक्तार्थः। अयं मन्त्रः श० १।३।३।४—२० व्याख्यातः॥ २॥

अन्वयः—यतोऽयं विष्णुर्यज्ञोऽ[दित्या अ]दित्या [व्युन्दनं] व्युन्दनकार्यसि भवति, तस्मात्तमहमनुतिष्ठामि। अस्य विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपः प्रस्तर उलूखलाख्यः साधकोऽस्यति, तस्मात् [त्वा] तमहमूर्णम्रदसं स्तृणामि। वेदिर्देवेभ्यो हिता[1] भवति, तस्मात् तामहं स्वासस्थां रचयामि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—यतोऽयं भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिरीश्वरः प्रसन्नो भवति, भौतिको वा सुखसाधको भवति, तस्मै भुवपतये स्वाहा विधेया भुवनपतये स्वाहा वाच्या भूतानां च पतये स्वाहा प्रयोज्या भवतीत्यस्मै प्रयोजनाय॥ २॥

भावार्थः—ईश्वरः सर्वमनुष्येभ्य[2] इदमुपदिशति—युष्माभिर्वेद्यादीनि यज्ञसाधनानि संपाद्य, सर्वप्राणिनां सुखाय परमेश्वरप्रीतये च

१. 'हितासि' इति पूर्वमुद्रितपाठः। कोशे 'असि' पदं नास्ति। न च मान्त्रिकमसि पदमवशिष्यते, यस्य योजनमपेक्षितं स्यात्।

२. द्वितीया स्थाने चतुर्थ्याः साधुत्वं परिशिष्टे वक्ष्यामः।

सम्यक् क्रियायज्ञः कार्यः। सदैव सत्यमेव वाच्यम्। यथाऽहं न्यायेन सर्वं विश्वं पालयामि, तथैव युष्माभिरपि पक्षपातं विहाय सर्वेषां पालनेन सुखं संपादनीयमिति ॥ २ ॥

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ (अदित्यै) पृथिवी के (व्युन्दनम्) विविध प्रकार के ओषधि आदि पदार्थों का सींचने वाला (असि) होता है, इससे मैं उसका अनुष्ठान करता हूं। और (विष्णोः) इस यज्ञ की सिद्धि कराने हारा (स्तुपः) शिखारूप (ऊर्णम्रदसम्) उलूखल (असि) है, इस से मैं (त्वा) उस अन्न के छिलके दूर करने वाले पत्थर रूप उलूखल को (स्तृणामि) पदार्थों से ढांपता हूं, तथा वेदी (देवेभ्यः) विद्वान् और दिव्य सुखों के हित कराने के लिये होती है, इस से उसको मैं ऐसी बनाता हूं कि (स्वासस्थाम्) जिस में होम किये हुए पदार्थ अच्छी प्रकार स्थिर हों और जिस से संसार का पति, भुवन अर्थात् लोकलोकान्तरों का पति, संसारी पदार्थों का स्वामी परमेश्वर प्रसन्न होता है, तथा भौतिक अग्नि सुखों का सिद्ध कराने वाला होता है। इस कारण (भुवपतये स्वाहा), (भुवनपतये स्वाहा), (भूतानां पतये स्वाहा) उक्त परमेश्वर की प्रसन्नता और आज्ञापालन के लिये सत्यभाषण अर्थात् अपने पदार्थों को 'मेरे हैं' यह कहना, वा श्रेष्ठवाक्य आदि उत्तम वाणीयुक्त वेद है उसके मन्त्रों के साथ स्वाहा शब्द का अनेक प्रकार उच्चारण करके यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों का विधान किया जाता है, इस प्रयोजन के लिये भी वेदी को रचता हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—परमेश्वर सब मनुष्यों के लिये उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! तुमको वेदी आदि यज्ञ के साधनों का संपादन करके सब प्राणियों के सुख तथा परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये अच्छी प्रकार क्रियायुक्त यज्ञ करना और सदा सत्य ही बोलना चाहिये। और जैसे मैं न्याय से सब विश्व का पालन करता हूं, वैसे ही तुम लोगों को भी पक्षपात छोड़कर सब प्राणियों के पालन से सुख संपादन करना चाहिये ॥ २ ॥

गन्धर्वस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता सर्वस्य। आद्यस्य भुरिगार्ची त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥ मध्यभागस्य [भुरिग्] आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः। अन्त्यस्य पङ्क्तिश्छन्दः। उभयत्र पञ्चमः स्वरः ॥

स यज्ञोऽग्न्यादिभिर्धार्यत इत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ अग्नि आदि पदार्थों से धारण किया जाता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परि दधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परि धत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित ॥ ३ ॥

गन्धर्वः। त्वा। विश्वावसुः। विश्ववसुरिति विश्वऽवसुः। परि। दधातु। विश्वस्य। अरिष्ट्यै। यजमानस्य। परिधिरिति परिऽधिः। असि। अग्निः। इडः। ईडितः ॥ इन्द्रस्य। बाहुः। असि। दक्षिणः। विश्वस्य। अरिष्ट्यै। यजमानस्य। परिधिरिति परिऽधिः। असि। अग्निः। इडः। ईडितः ॥ मित्रावरुणौ। त्वा। उत्तरतः। परि। धत्ताम्। ध्रुवेण। धर्मणा। विश्वस्य। अरिष्ट्यै। यजमानस्य। परिधिरिति परिऽधिः। असि। अग्निः। इडः। ईडितः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(गन्धर्वः) यो गां पृथिवीं वाणीं वा धरति धारयति वा स गन्धर्वः सूर्यलोकः। (त्वा) तम्। (विश्वावसुः) विश्वं वासयति यः सः। (परि) सर्वतोभावे। (दधातु) दधाति वा। अत्र लडर्थे लोट्। (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः। (अरिष्ट्यै) दुःखनिवारणेन सुखाय। (यजमानस्य) यज्ञानुष्ठातुः। (परिधिः) परितः सर्वतः सर्वाणि वस्तूनि धीयन्ते येन सः। (असि) भवति। अत्र चतुर्षु प्रयोगेषु पुरुषव्यत्ययः। (अग्निः) (इडः) स्तोतुमर्हः। अत्र वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वादेशः। (ईडितः) स्तुतः। (इन्द्रस्य) सूर्यस्य। (बाहुः) बलं, बलकारी वा। (असि) अस्ति। (दक्षिणः) वृष्टेः प्रापकः। दक्षधातोर्गत्यर्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते। (विश्वस्य) सर्वप्राणिसमूहस्य। (अरिष्ट्यै) सुखाय। (यजमानस्य) शिल्पविद्यां चिकीर्षोः। (परिधिः) विद्यापरिधानम्। (असि) भवति। (अग्निः) विद्युत। (इडः) दाहप्रकाशादिगुणाधिक्येन स्तोतुमर्हः। (ईडितः) अध्येषितः।

(मित्रावरुणौ) विश्वस्य प्राणापानौ। प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः (श० ८।२।४।६)[1]। (त्वा) तम्। (उत्तरतः) उत्तरकाले। (परिधत्ताम्) सर्वतो धारयतो वा। अत्र लडर्थे लोट्। (ध्रुवेण) निश्चलेन। (धर्मणा) स्वाभाविकधारणशक्त्या। (विश्वस्य) चराचरस्य। (अरिष्ट्यै) सुखहेतवे। (यजमानस्य) सर्वमित्रस्य। (परिधिः) सर्वे[2]विद्यावधिः। (असि) भवति[3]। (अग्निः) प्रत्यक्षो भौतिकः। (इडः) विद्याप्राप्तये स्तोतुमर्हः। (ईडितः) विद्यामीप्सुभिः सम्यगध्येषितः[4]। अयं मन्त्रः श० १।३।४।१—५ व्याख्यातः॥३॥

अन्वयः—विद्वद्भिर्योऽयं गन्धर्वो विश्वावसु [ः परिधि]रिडोऽग्निरीडितोऽस्यस्ति स विश्वस्य यजमानस्य चारिष्ट्यै यज्ञं परिदधाति, तस्मात् [त्वा] तं विद्यासिद्ध्यर्थं मनुष्यो यथावत् परिदधातु। विदुषा यो वायुरिन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः परिधिरिड ईडितोऽग्निश्चास्यस्ति स सम्यक् प्रयोजितो यजमानस्य विश्वस्यारिष्ट्यै [असि] भवति। यौ ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ स्तस्तौ, ध्रुवेण धर्मणोत्तरतो विश्वस्य यजमानस्यारिष्ट्यै [त्वा] तं यज्ञं परिधत्तां सर्वतो धारयतः। यो विद्वद्भिरिडः परिधिरीडितोऽग्निर्विद्युद्[स्य]स्ति। सोऽपीमं यज्ञं सर्वतः परिदधात्येतान् मनुष्यो यथागुणं सम्यग्दधातु॥३॥

भावार्थः—ईश्वरेण यः सूर्यविद्युत्प्रत्यक्षरूपेण त्रिविधोऽग्निर्निर्मितः स मनुष्यैर्विद्यया सम्यग्योजितः सन् बहूनि कार्याणि साधयतीति॥३॥

पदार्थः—विद्वान् लोगों ने जिस (गन्धर्वः) पृथिवी वा वाणी के धारण करने वाले (विश्वावसुः) विश्व को वसाने वाले [(परिधिः) सब ओर से सब वस्तुओं को धारण करने वाले] (इडः) स्तुति करने योग्य (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि की (ईडितः) स्तुति (असि) की है, जो (विश्वस्य) संसार के वा विशेष करके (यजमानस्य) यज्ञ करने वाले विद्वान् के (अरिष्ट्यै) दुःखनिवारण से सुख के लिये इस यज्ञ को धारण करता है, इससे विद्वान् [(त्वा)] उसको

१, '(मित्रावरुणौ)………२।४।६)' अयं पाठः खकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः।
२. 'सर्वे' पदं ककोशे विद्यते।
३. '(असि) भवति' अयं खकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः।
४. 'अध्येषितव्यः' इति खगकोशयोः पूर्वमुद्रिते च पाठः। 'अध्येषितः' कपाठः। स च सम्यक्।

विद्या की सिद्धि के लिये [यथावत्] (परिदधातु) धारण करे, और विद्वानों से जो वायु (इन्द्रस्य) सूर्य का (बाहुः) बल और (दक्षिणः) वर्षा की प्राप्ति कराने अथवा (परिधिः) शिल्पविद्या का धारण कराने वाला, तथा (इडः) दाह प्रकाश आदि गुण वाला होने से स्तुति के योग्य (ईडितः) खोजा हुआ और (अग्निः) प्रत्यक्ष अग्नि (असि) है। वे वायु वा अग्नि अच्छी प्रकार शिल्पविद्या में युक्त किये हुए (यजमानस्य) शिल्पविद्या के चाहने वाले वा (विश्वस्य) सब प्राणियों के (अरिष्ट्यै) सुख के लिये (असि) होते हैं। और जो ब्रह्माण्ड में रहने और गमन वा आगमन स्वभाव वाले (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु हैं, वे (ध्रुवेण) निश्चल (धर्मणा) अपनी धारण शक्ति से (उत्तरतः) पूर्वोक्त वायु और अग्नि से उत्तर अर्थात् उपरान्त समय में (विश्वस्य) चराचर जगत् वा (यजमानस्य) सब से मित्रभाव में वर्त्तने वाले सज्जन पुरुष के (अरिष्ट्यै) सुख के हेतु (त्वा) उस पूर्वोक्त यज्ञ को (परिधत्ताम्) सब प्रकार से धारण करते हैं, तथा जो विद्वानों से (इडः) विद्या की प्राप्ति के लिये प्रशंसा करने के योग्य और (परिधिः) सब शिल्पविद्या की सिद्धि को घेरने से अवधि तथा (ईडितः) विद्या की इच्छा करने वालों से प्रशंसा को प्राप्त (अग्निः) बिजुलीरूप अग्नि (असि) है, वह भी इस यज्ञ को सब प्रकार से धारण करता है। इन के गुणों को मनुष्य यथावत् जान के उपयोग करे ॥ ३ ॥

भावार्थः—ईश्वर ने जो सूर्य विद्युत् और प्रत्यक्ष रूप से तीन प्रकार का अग्नि रचा है, वह विद्वानों से शिल्पविद्या के द्वारा यन्त्रादिकों में अच्छी प्रकार युक्त किया हुआ अनेक कार्यों को सिद्ध करनेवाला होता है ॥ ३ ॥

वीतिहोत्रमित्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः।
षड्जः स्वरः।

अथाग्निशब्देनोभावार्थावुपदिश्येते—

अब अग्नि शब्द से अगले मन्त्र में उक्त दो अर्थों का प्रकाश किया है ॥

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ४ ॥

वीतिहोत्रमिति वीतिऽहोत्रम्। त्वा। कवे। द्युमन्तमिति द्युऽमन्तम्। सम्। इधीमहि ॥ अग्ने। बृहन्तम्। अध्वरे ॥ ४ ॥

पदार्थः—(वीतिहोत्रम्) वीतयो विज्ञापिता होत्राख्या यज्ञा येनेश्वरेण, यद्वा वीतयः प्राप्तिहेतवो होत्राख्या यज्ञक्रिया भवन्ति यस्मात्, तं परमेश्वरं, भौतिकं वा। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु इत्यस्य रूपम्। (त्वा) त्वां, तं वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। (कवे) सर्वज्ञ क्रान्तप्रज्ञ, कविं क्रान्तदर्शनं भौतिकं वा। (द्युमन्तम्) द्यौर्बहुप्रकाशो विद्यते यस्मिँस्तम्। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। (सम्) सम्यगर्थे। (इधीमहि) प्रकाशयेमहि। अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति श्नमो लुक्[1]। (अग्ने) ज्ञानस्वरूपेश्वर! प्राप्तिहेतुं भौतिकं वा। (बृहन्तम्) सर्वेभ्यो महान्तं सुखवर्धकमीश्वरं, बृहतां कार्याणां साधकं भौतिकं वा। (अध्वरे) मित्रभावेऽहिंसनीये यज्ञे वा॥ अयं मन्त्रः श० १।३।४।६ [व्याख्यातः]॥४॥

अन्वयः—हे कवे अग्ने जगदीश्वर! वयमध्वरे बृहन्तं द्युमन्तं वीतिहोत्रं त्वा समिधीमहीत्येकः॥

वयमध्वरे वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं कवे कविं त्वा तमग्ने भौतिकमग्निं समिधीमहीति द्वितीयः॥४॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। यावन्ति क्रियासाधनानि क्रियया साध्यानि च वस्तूनि सन्ति, तानि सर्वाणीश्वरेणैव रचयित्वा ध्रियन्ते, मनुष्यैस्तेषां सकाशात् गुणज्ञानक्रियाभ्यां बहव उपकाराः संग्राह्याः॥४॥

पदार्थः—हे (कवे) सर्वज्ञ तथा हरएक पदार्थ में अनुक्रम से विज्ञान वाले (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! हम लोग (अध्वरे) मित्रभाव के रहने में (बृहन्तम्) सब के लिये बड़े से बड़े अपार सुख के बढ़ाने और (द्युमन्तम्) अत्यन्त प्रकाशवाले वा (वीतिहोत्रम्) अग्निहोत्र आदि यज्ञों को विदित कराने वाले (त्वा) आप को (समिधीमहि) अच्छी प्रकार प्रकाशित करें॥ यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ॥

हम लोग (अध्वरे) अहिंसनीय अर्थात् जो कभी परित्याग करने योग्य नहीं, उस उत्तम यज्ञ में जिस में कि (वीतिहोत्रम्) पदार्थों की प्राप्ति कराने के हेतु अग्निहोत्र आदि क्रिया सिद्ध होती हैं, और (द्युमन्तम्) अत्यन्त प्रचण्ड ज्वालायुक्त (बृहन्तम्) बड़े बड़े कार्यों को सिद्ध कराने तथा (कवे) पदार्थों में अनुक्रम से दृष्टिगोचर होने वाले (त्वा) उस (अग्ने) भौतिक अग्नि को (समिधीमहि) अच्छी प्रकार प्रज्वलित करें॥ यह दूसरा अर्थ हुआ॥४॥

१. अत्र 'शमीष्व' (यजुः १।१५) पदस्था टिप्पणी द्रष्टव्या।

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। संसार में जितने क्रियाओं के साधन वा क्रियाओं से सिद्ध होने वाले पदार्थ हैं उन सभों को ईश्वर ही ने रच कर अच्छी प्रकार धारण किये हैं, मनुष्यों को उचित है कि उनकी सहायता, गुण ज्ञान और उत्तम उत्तम क्रियाओं की अनुकूलता से अनेक प्रकार उपकार लेने चाहियें ॥ ४ ॥

समिदसीत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता। निचृद्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तस्य यज्ञस्य साधकान्युपदिश्यन्ते—

फिर उक्त यज्ञ के साधनों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

समिद॑सि सूर्य॑स्त्वा पुरस्ता॑त् पातु कस्या॑श्चिद॒भि-श॑स्त्यै। स॒वि॒तुर्बा॒हू स्थ॒ ऊर्ण॑म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वास॒स्थं दे॒वेभ्य॒ आ त्वा॒ वस॑वो रु॒द्रा आ॑दि॒त्याः स॑दन्तु ॥ ५ ॥

स॒मिदिति॑ स॒म्ऽइत्। अ॒सि। सूर्यः॑। त्वा॒। पु॒रस्ता॑त्। पा॒तु। कस्याः॑। चि॒त्। अ॒भिश॑स्त्या॒ इत्य॒भिऽश॑स्त्यै। स॒वि॒तुः। बा॒हू इति॑ बा॒हू। स्थः। ऊर्ण॑म्रदस॒मित्यूर्ण॑ऽम्रदसम्। त्वा॒। स्तृ॒णा॒मि। स्वा॒स॒स्थमिति॑ सुऽआ॒स॒स्थम्। दे॒वेभ्यः॑। आ। त्वा॒। वस॑वः। रु॒द्राः। आ॒दि॒त्याः। स॒द॒न्तु ॥ ५ ॥

पदार्थः—(समित्) सम्यगिध्यतेऽनयाऽनेन वा सा समिद् अग्निप्रदीपकं काष्ठादिकं, वसन्तऋतुर्वा। (असि) भवति। अत्र व्यत्ययः। (सूर्यः) सुवत्यैश्वर्यहेतुर्भवति सोऽयं सूर्यलोकः। (त्वा) तम्। (पुरस्तात्) पूर्वस्मादिति पुरस्तात्। (पातु) रक्षति। अत्र लडर्थे लोट्। (कस्याः) कस्यै सर्वस्यै। अत्र चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (अ० २। ३। ६२) इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। (चित्) चिदित्युपमार्थे (निरु० १। ४)। (अभिशस्त्यै) आभिमुख्यायै स्तुतये। शंसु स्तुताविल्यस्य क्तिन्-प्रत्ययान्तः प्रयोगः। (सवितुः) सूर्यलोकस्य (बाहू) बलवीर्याख्यौ। (स्थः) स्तः। अत्र व्यत्ययः। (ऊर्णम्रदसम्) ऊर्णानि सुखाच्छादनानि म्रदयति येन, तं यज्ञम्। (त्वा) तम्। (स्तृणामि)

सामग्र्याऽऽच्छादयामि। (स्वासस्थम्) शोभने आसे उपवेशने तिष्ठतीति, तम्। (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यः। (आ) समन्तात् क्रियायोगे। (त्वा) तम्। (वसवः) अग्न्यादयोऽष्टौ। (रुद्राः) प्राणापानव्यानोदानसमान-नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्या दश प्राणाः, एकादशो जीवश्चेत्येकादश रुद्राः (आदित्याः) द्वादश मासाः। कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः, एतेषु हीद९ सर्वं वसु हितम्, एते हीद९ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिद९ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति। कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरा-दुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति। कतम आदित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः, एतेहीद९ सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिद९ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति (श० १४। ६। ९। ४—६)। (सदन्तु) अवस्थापयन्ति। षद्लृ इत्यस्य स्थाने वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १। ४। ९ भाष्य] इति सीदादेशाभावो लडर्थे लोट् च॥ अयं मन्त्रः श० १। ३। १। ७—१२ व्याख्यातः॥ ५॥

अन्वयः—चित् यथा कश्चिन्मर्त्यः सुखार्थं क्रियासिद्धानि द्रव्याणि रक्षित्वा[१]ऽऽनन्दयते। तथैव योऽयं यज्ञः समिदसि भवति [त्वा] तं सूर्यः कस्या अभिशस्त्यै पुरस्तात् पातु पाति यौ सवितुर्बाहू स्थः स्तो यो ह्याभ्यां नित्यं विस्तार्य्यते [त्वा] तमूर्णम्रदसं स्वासस्थं यज्ञं वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्वव-स्थापयन्ति प्रापयन्ति [त्वा] तं यज्ञमहमपि सुखाय देवेभ्य आस्तृणामि॥५॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। ईश्वरः सर्वेभ्य इदमुपदिशति—मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्याख्येभ्यो यद्यदुपकर्तुं शक्यं, तत्तत् सर्वस्याभिरक्षणाय नित्यमनुष्ठेयम्। योऽग्नौ द्रव्याणां प्रक्षेपः क्रियते स सूर्यं वायुं वा प्राप्नोति, तावेव तत्पृथग्भूतं द्रव्यं रक्षित्वा[१] पुनः पृथिवीं प्रति विमुञ्चतः। येन पृथिव्यां दिव्या ओषध्यादयः पदार्था जायन्ते येन च प्राणिनां नित्यं सुखं भवति तस्मादेतत् सदैवानुष्ठेयमिति॥ ५॥

पदार्थः—(चित्) जैसे कोई मनुष्य सुख के लिये क्रिया से सिद्ध किये पदार्थों की रक्षा करके आनन्द को प्राप्त होता है, वैसे ही यह यज्ञ (समित्) [अग्नि के प्रज्वालक काष्ठ आदि, अथवा] वसन्त ऋतु के समय के समान अच्छी प्रकार प्रकाशित (असि) होता है, (त्वा) उसको (सूर्यः) ऐश्वर्य का हेतु सूर्यलोक (कस्याः) सब पदार्थों की (अभिशस्त्यै) प्रकटता करने के लिये

१. 'रक्षयित्वा' इति खग-कोशयोः पाठः।

(पुरस्तात्) पहिले ही से उनकी (पातु) रक्षा करने वाला होता है, तथा जो कि (सवितुः) सूर्यलोक के (बाहू) बल और वीर्य (स्थः) हैं, जो यह यज्ञ इनसे विस्तार को प्राप्त होता है (त्वा) उस (ऊर्णम्रदसम्) सुख के विघ्नों के नाश करने और (स्वासस्थम्) श्रेष्ठ अन्तरिक्षरूपी आसन में स्थित होने वाले यज्ञ को (वसवः) अग्नि आदि आठ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, प्रकाश, चन्द्रमा और तारागण, ये वसु, (रुद्राः) प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा, ये रुद्र, (आदित्याः) बारह महीने (सदन्तु) प्राप्त करते हैं। (त्वा) उसी अत्यन्त सुख बढ़ाने और अन्तरिक्ष में स्थिर होनेवाले यज्ञ को मैं भी सुख की प्राप्ति वा (देवेभ्यः) दिव्य गुणों को सिद्ध करने के लिये (आस्तृणामि) अच्छी प्रकार सामग्री से आच्छादित करके सिद्ध करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। ईश्वर सब मनुष्यों के लिये उपदेश करता है कि मनुष्यों को वसु, रुद्र और आदित्य संज्ञक पदार्थों से जो जो काम सिद्ध हो सकते हैं, सो सो सब प्राणियों के पालन के निमित्त नित्य सेवन करने योग्य हैं। तथा अग्नि के बीच जिन जिन पदार्थों का प्रक्षेप अर्थात् हवन किया जाता है सो सो सूर्य और वायु को प्राप्त होता है। वे ही उन अलग हुए पदार्थों की रक्षा करके फिर उन्हें पृथिवी में छोड़ देते हैं[1], जिस से कि पृथिवी में दिव्य ओषधि आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनसे जीवों को नित्य सुख होता है, इस कारण सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान सदैव करना चाहिये ॥ ५ ॥

घृताच्यसीत्यस्य ऋषिः स एव। विष्णुर्देवता सर्वस्य। षट्षष्टित-
मात्तरपर्यन्तं ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। अग्रे निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः।
सर्वस्य धैवतः स्वरः ॥

स किं किं प्रियं सुखं साधयतीत्युपदिश्यते—

फिर उक्त यज्ञ से क्या क्या प्रिय सुख सिद्ध होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आ सीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आ सीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं

---

१. अर्थात् वापस पृथिवी पर पहुंचा देते हैं।

प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आ सीद प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आ सीद। ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥६॥

घृताची। असि। जुहूः। नाम्ना। सा। इदम्। प्रियेण। धाम्ना। प्रियम्। सदः। आ। सीद। घृताची। असि। उपभृदित्युपऽभृत्। नाम्ना। सा। इदम्। प्रियेण। धाम्ना। प्रियम्। सदः। आ। सीद। घृताची। असि। ध्रुवा। नाम्ना। सा। इदम्। प्रियेण। धाम्ना। प्रियम्। सदः। आ। सीद। प्रियेण। धाम्ना। प्रियम्। सदः। आ। सीद॥ ध्रुवा। असदन्। ऋतस्य। योनौ। ता। विष्णो इति विष्णो। पाहि। पाहि। यज्ञम्। पाहि। यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम्। पाहि। माम्। यज्ञन्यमिति यज्ञऽन्यम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(घृताची) घृतमाज्यमञ्चति प्राप्नोत्यनयाऽऽदानक्रियया सा। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (जुहूः) जुहोति ददाति हविरादत्ते सुखं चानया सा। हु दानादनयोरित्यस्मात् हुवः श्लुवच्च (उ० २। ५६)। अनेन क्विप् प्रत्ययो दीर्घादेशश्च। (नाम्ना) प्रसिद्धेन। (सा) पूर्वोक्ता। (इदम्) प्रत्यक्षम्। (प्रियेण) सुखैस्तर्पकेण कमनीयेन। (धाम्ना) स्थानेन। (प्रियम्) प्रीणाति सुखयति यत्तत्। (सदः) सीदन्ति प्राप्नुवन्ति सुखानि यस्मिन् तद् गृहम्। (आ) समन्तात्। (सीद) सादयति। अत्रोभयत्र लडर्थे लोडन्तर्गतो ण्यर्थो व्यत्ययश्च। (घृताची) या होमक्रिया घृतमुदकमञ्चति प्रापयति सा। घृतमित्युदकनामसु पठितम् (निघं० १। १२)। (असि) अस्ति। (उपभृत्) योपगतं बिभर्त्यनया हस्तक्रियया सा। (नाम्ना) प्रख्यातेन। (सा) पूर्वोक्ता। (इदम्) ओषध्यादिकम्। (प्रियेण) प्रीतिहेतुना। (धाम्ना) स्थलेन। (प्रियम्) प्रीयते सुखयत्यारोग्येण यत्तत्। (सदः) सीदन्ति घ्नन्ति दुःखानि येन तदौषधसेवनं पथ्याचरणं च। अत्र सदिर्विशरणार्थः। (आ) समन्तात्। (सीद) प्रापयति। (घृताची) घृतमायुर्निमित्तमञ्चति प्राप्नोत्यनया सुनियमाचरणक्रियया सा। (असि) भवति। (ध्रुवा) ध्रुवन्ति प्राप्नुवन्ति स्थिराणि सुखान्यनया विद्यया सा। ध्रु

गतिस्थैर्ययोरित्यस्य कप्रत्ययान्तः प्रयोगः। कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ वा०] इति करणकारके। (नाम्ना) प्रसिद्धेन। (सा) उक्तार्था। (इदम्) जीवनम्। (प्रियेण) प्रीतिकरेण। (धाम्ना) स्थित्यर्थेन। (प्रियम्) आनन्दकरम्। (सदः) वस्तु। (आ) अभितः। (सीद) सीदति गमयति। अत्रोभयत्र लडर्थे लोड् व्यत्ययश्च। (प्रियेण) प्रीतिसाधकेन। (धाम्ना) हृदयेन। (प्रियम्) प्रीतिकरम्। (सदः) सीदति जानाति येन तत् ज्ञानम्। (आ) सर्वतः। (सीद) सीदति प्राप्नोति। (ध्रुवा) ध्रुवाणि निश्चलानि वस्तूनि। अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ७०] इति लोपः। (असदन्) भवेयुः। अत्र लिङर्थे लङ्, वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १ । ४ । ६ भाष्य] इति सीदादेशो न। (ऋतस्य) शुद्धस्य सत्यस्य। (योनौ) यज्ञे। यज्ञो वा ऋतस्य योनिः (श० १ । ३ । ४ । १६)। (ता) तानि। अत्रापि शेर्लोपः। (विष्णो) व्यापकेश्वर ! (पाहि) रक्ष। (पाहि) पालय। (यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधम्। (पाहि) पालय। (यज्ञपतिम्) यज्ञस्य पालकं यजमानम्। (पाहि) रक्ष। (माम्) होतारमध्वर्युमुद्गातारं ब्रह्माणं वा। (यज्ञन्यम्) यज्ञं नयति प्रापयतीति यज्ञनीस्तम्। अत्र अमि पूर्वः (अ० ६ । १ । १०६) इत्यत्र वा छन्दसि [अ० ६ । १ । १०६] इत्यनुवर्तनात्पूर्वरूपादेशो न भवति। अयं मन्त्रः श० १ । ३ । ४ । १३—१६ व्याख्यातः॥ ६॥

अन्वयः—या जुहूर्नाम्ना घृताच्यसि भवति सा यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्ना सह वर्त्तमानमिदं प्रियं सद आसीद आसादयति। योपभृन्नाम्ना घृताच्यस्यस्ति सा यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद समन्तात् प्रापयति। या ध्रुवा नाम्ना घृताच्यसि भवति सा सम्यक् स्थापिता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद आगमयति। यथा क्रियया प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद समन्तात् प्राप्नोति, सा सर्वैर्नित्यं साध्या। हे विष्णो ! यथेमानि ऋतस्य योनौ ध्रुवा ध्रुवाणि वस्तून्यसदन् भवेयुस्तथैव [ता] एतानि निरन्तरं पाहि तथा कृपया यज्ञं पाहि। यज्ञन्यं यज्ञपतिं पाहि यज्ञन्यं मां च पाहि॥ ६॥

भावार्थः—यो यज्ञः पूर्वोक्ते मन्त्रे वसुरुद्रादित्यैः सिध्यति [इत्युक्तः] स वायुजलशुद्धिद्वारा सर्वाणि, स्थानानि, सर्वाणि वस्तूनि च प्रियाणि, निश्चलसुखसाधकानि, ज्ञानवर्धकानि च करोति, तेषां

वृद्धये रक्षणाय च सर्वैर्मनुष्यैर्व्यापकेश्वरस्य प्रार्थना, सम्यक् पुरुषार्थश्च सदा कर्त्तव्य इति ॥ ६ ॥

पदार्थः—जो (जुहूः [नाम्ना]) हवि अग्नि में डालने के लिये सुख की उत्पन्न करनेवाली [प्रसिद्ध] स्रुक् (घृताची) घृतयुक्त (असि) होती है, (सा) वह यज्ञ में युक्त की हुई (प्रियेण) सुखों से तृप्त करने वाले शोभायमान (धाम्ना) स्थान के साथ वर्त्तमान होके (इदम्) यह (प्रियम्) जिस में तृप्त करने वाले (सदः) उत्तम उत्तम सुखों को प्राप्त होते हैं, उन को (आसीद) सिद्ध करती है। जो (नाम्ना) प्रसिद्धि से (उपभृत्) समीप प्राप्त हुए पदार्थों को धारण करने तथा (घृताची) जल को प्राप्त कराने वाली हस्तक्रिया (असि) है (सा) वह यज्ञ में युक्त की हुई (प्रियेण) प्रीति के हेतु (धाम्ना) स्थल से (इदम्) यह ओषधि आदि पदार्थों का समूह (प्रियम्) जो कि आरोग्यपूर्वक सुखदायक और (सदः) दुःखों का नाश करने वाला है उस को (आसीद) अच्छी प्रकार प्राप्त करती है तथा जो [(नाम्ना) प्रसिद्धि से] (ध्रुवा) स्थिर सुखों वा (घृताची) आयु के निमित्त की देनेवाली विद्या (असि) होती है (सा) वह अच्छी प्रकार उत्तम कार्यों में युक्त की हुई (प्रियेण) प्रीति उत्पन्न करने वाले [(धाम्ना)] स्थिरता के निमित्त से (इदम्) इस (प्रियम्) आनन्द कराने वाले जीवन वा (सदः) वस्तुओं को (आसीद) प्राप्त करती है। जिस क्रिया करके (प्रियेण) प्रसन्नता के करने हारे (धाम्ना) हृदय से (प्रियम्) प्रसन्नता करने वाला (सदः) ज्ञान (आसीद) अच्छी प्रकार प्राप्त होता है वह विज्ञानरीति सब को नित्य सिद्ध करनी चाहिये। हे (विष्णो) व्यापकेश्वर ! जैसे जो जो (ऋतस्य योनौ) शुद्ध यज्ञ में (ध्रुवा) स्थिर वस्तु (असदन्) हो सके, वैसे ही [(ता)] उनकी निरन्तर (पाहि) रक्षा कीजिये, तथा कृपा कर के [(यज्ञम्)] यज्ञ की (पाहि) रक्षा कीजिये, (यज्ञन्यम्) यज्ञ प्राप्त करने (यज्ञपतिम्) यज्ञ को पालन करने हारे यजमान की (पाहि) रक्षा कीजिए, और यज्ञ को प्रकाशित करने वाले (माम्) मुझे भी (पाहि) पालिये ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो यज्ञ पूर्वोक्त मन्त्र में वसु, रुद्र और आदित्य से सिद्ध होने वाला कहा है, वह वायु और जल की शुद्धि के द्वारा सब स्थान और सब वस्तुओं को, प्रीति कराने हारे उत्तम सुख को बढ़ाने वाले कर देता है। सब मनुष्यों को उनकी वृद्धि वा रक्षा के लिये व्यापक ईश्वर की प्रार्थना और सदा अच्छी प्रकार पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ६ ॥

अग्ने वाजजिदित्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। [1]बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनः स यज्ञः कीदृश इत्युपदिश्यते—

फिर वह यज्ञ कैसा है सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

अग्ने॑ वाजजि॒द् वाजं॑ त्वा सं॒रि॒ष्यन्तं॑ वाज॒जित॒ꣳ सम्मा॑र्ज्मि। नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम्॥ ७॥

अग्ने॑। वा॒जा॒जि॒दिति॑ वाजऽजित्। वाज॑म्। त्वा॒। सा॒रि॒ष्यन्त॑म्। वा॒ज॒जित॒मिति॑ वाज॒ऽजित॑म्। सम्। मा॒र्ज्मि॥ नमः॑। दे॒वेभ्यः॑। स्व॒धा। पि॒तृभ्य॒ इति॑ पि॒तृऽभ्यः॑। सु॒यमे॒ इति सु॒ऽयमे॑। मे॒। भू॒या॒स्त॒म्॥ ७॥

पदार्थः—(अग्ने) अग्निर्भौतिकः। (वाजजित्) वाजमन्नं जयति येन, सः। वाज इत्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २। ७) अत्रोभयत्र कृतो बहुलम् (अ० ३। ३। ११३ वा०) इति करणे क्विप्। (वाजम्) वेगवन्तम्। (त्वा) तम्। (सरिष्यन्तम्) सर्वान् पदार्थानन्तरिक्षं गमयिष्यन्तम्। (वाजजितम्) वाजं युद्धं जयति येन, तम्। (सम्) सम्यगर्थे। (मार्ज्मि) मार्ष्टि वा, अत्र पक्षे पुरुषव्यत्ययः। (नमः) अमृतात्मकं जलम्। नम इत्युदकनामसु पठितम्[2] (निघं० १। १२)। (देवेभ्यः) दिव्यसुखकारकेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो वस्वादिभ्यः। (स्वधा) अमृतात्मकमन्नम्। स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् (नि० २।७)। स्वं स्वकीयं सुखं दधात्यनया सा। (पितृभ्यः) पालनहेतुभ्य ऋतुभ्यः। ऋतवो वै पितरः (श० २।५। २। ३२)। (सु) शोभनेऽर्थे। (यमे) यच्छन्ति बलपराक्रमौ याभ्यां ते। (मे) मम। (भूयास्तम्) भूयास्ताम्। अत्र व्यत्ययः॥ अयं मन्त्र श० १। ४। ४। १४—१५ व्याख्यातः॥ ७॥

अन्वयः—यतोऽयम[ग्ने]ग्निर्वाजजिद् भूत्वा सर्वान् पदार्थान् संमार्ष्टि तस्मात् [त्वा] तमहं वाजं सरिष्यन्तं वाजजितं संमार्ज्मि येन यज्ञे[3] प्रयुक्ते-

१. मन्त्रे षट्त्रिंशदक्षराणि सन्त्यतो 'बृहती छन्दः, मध्यमः स्वरः' इत्येव युक्तः पाठः। पूर्वमुद्रिते 'भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः, पञ्चमः स्वरः, इत्यपपाठः।

२. 'नमः' इति पदमुदकनामसु निघण्टौ (१। १२) नोपलभ्यते।

३. 'यज्ञेन' पूर्वमुद्रितोऽपपाठः। ककोशे 'यज्ञे' इत्येव पठ्यते।

नाग्निना देवेभ्यो नमः पितृभ्यः स्वधा सुयमे भवतस्तेनैते मे मम सुयमे भूयास्तं भूयास्ताम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—मनुष्यैर्यः पूर्वमन्त्रोक्तोऽग्निः [स] यज्ञस्य मुख्यसाधनः कर्त्तव्यः । कुतः ? अग्नेरूर्ध्वगमनशीलेन[1] सर्वपदार्थच्छेदकत्वात् [च]। यानास्त्रेषु सम्यक् प्रयुक्तः[2] शीघ्रगमन-विजयहेतुः सन्नृतुभिर्दिव्यान् पदार्थान् संपाद्य, शुद्धे सुखप्रापके अन्नजले करोतीति विज्ञातव्यम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—जिस से यह (अग्ने) अग्नि (वाजजित्) [वाज] अर्थात् जो उत्कृष्ट अन्न को प्राप्त करानेवाला होके सब पदार्थों को शुद्ध करता है, इससे मैं (त्वा) उस (वाजम्) वेगवाले (सरिष्यन्तम्) सब पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुंचाने और (वाजजितम् [वाज] अर्थात् युद्ध को जितानेवाले भौतिक अग्नि को (सम्मार्ज्मि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूं। यज्ञ में युक्त किये हुए जिस अग्नि से (देवेभ्यः) सुखकारक पूर्वोक्त वसु आदि से सुख के लिये (नमः) अत्यन्त मधुर श्रेष्ठ जल तथा (पितृभ्यः) पालन के हेतु जो वसन्त आदि ऋतु हैं, उनसे जो आरोग्य के लिये (स्वधा) अमृतात्मक अन्न किये जाते हैं, वे (सुयमे) बल वा पराक्रम के देनेवाले [हैं, वे अन्न तथा जल] उस यज्ञ से (मे) मेरे लिये [बल वा पराक्रम देने वाले] (भूयास्तम्) होवें ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि प्रथम मन्त्र में कहे हुए यज्ञ का मुख्य साधन अग्नि होता है। क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष में भी उसकी लपट देखने में आती है वैसे अग्नि का ऊपर ही को चलने का स्वभाव है, तथा सब पदार्थों के छिन्न भिन्न करने का भी उसका स्वभाव है। और [वह] यान वा अस्त्रशस्त्रों में अच्छी प्रकार युक्त किया हुआ शीघ्रगमन वा विजय का हेतु होकर वसन्त आदि ऋतुओं से उत्तम उत्तम पदार्थों का संपादन करके अन्न और जल को शुद्ध वा सुख देनेवाले कर देता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ७ ॥

अस्कन्नमद्येत्यस्य ऋषिः स एव। विष्णुर्देवता। विराट् [ब्राह्मी] पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृशो भूत्वा किं करोतीत्युपदिश्यते—

---

१. 'शीलत्वात्' इति क पाठः। उपरितने पाठे हेतौ तृतीयाऽग्रे च पञ्चमी। कथमेकस्मिन् वाक्ये द्विविधविभक्त्योः प्रयोग इति परिशिष्टे वक्ष्यामः।

२. 'प्रयुक्तेन' पूर्वमुद्रितेऽपपाठः।

फिर भी उक्त यज्ञ कैसा होकर क्या करता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है ॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳ सं भ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वाव क्रमिषं वसुमतीमग्ने ते छायामुप स्थेषं विष्णो स्थानमसीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात् ॥ ८ ॥

अस्कन्नम् । अद्य । देवेभ्यः । आज्यम् । सम् । भ्रियासम् । अङ्घ्रिणा । विष्णो इति विष्णो । मा । त्वा । अव । क्रमिषम् । वसुमतीमिति वसुऽमतीम् । अग्ने । ते । छायाम् । उप । स्थेषम् । विष्णोः । स्थानम् । असि । इतः । इन्द्रः । वीर्यम् । अकृणोत् । ऊर्ध्वः । अध्वरः । आ । अस्थात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अस्कन्नम्) अविक्षुब्धम् । (अद्य) अस्मिन्नहनि । (देवेभ्यः) दिव्यसुखानां प्राप्तये । (आज्यम्) घृतादिकम् । (सम्) क्रियायोगे । (भ्रियासम्) धारयेयम्[1] । (अङ्घ्रिणा) गमनसाधनेनाग्निना । (विष्णो) व्यापकेश्वर ! (मा) निषेधार्थे । (त्वा) तं वा । (अव) अवेति विनिग्रहार्थीयः (निरु० १ । ३) । (क्रमिषम्) उल्लङ्घयेयम् । अत्र लिङर्थे लुङ् । (वसुमतीम्) वसूनि बहूनि वस्तूनि भवन्ति यस्यां, ताम् । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । (अग्ने) परमेश्वर ! भौतिको वा । (ते) तव, तस्य वा । (छायाम्) आश्रयम् । (उप) क्रियार्थे । (स्थेषम्) उपपत्सीय । अत्र लिङ्याशिष्यङ् [अ० ३ । १ । ८६] इत्यङि कृते छन्दस्युभयथा [अ० ३ । ४ । ११७] इति सार्वधातुकत्वादियादेश आर्द्धधातुकत्वात्सकारलोपो न भवति । (विष्णोः) यज्ञस्य । (स्थानम्) स्थित्यर्थम् । (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः । (इतः) स्थानात् । (इन्द्रः) सूर्यो वायुर्वा । (वीर्यम्) वीरस्य कर्म पराक्रमं वा । (अकृणोत्) करोति । अत्र लडर्थे लङ् । (ऊर्ध्व) आकाशस्थः सन् । (अध्वरः) यज्ञः । (आ) समन्तात् (अस्थात्) तिष्ठति । अत्र लडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ४ । ५ । १—३ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

१. इतोऽग्रे '(सम्) क्रियायोगे' इति पूर्वमुद्रितेऽधिकः पाठः । स च मन्त्रे द्वितीयस्य समः पदस्याभावादयुक्तः ।

अन्वयः—अहं देवेभ्यो यदस्कन्नमविक्षुब्धमाज्यमङ्घ्रिणा संभ्रियासं [विष्णो] अद्य त्वा तदहं मावक्रमिषं मोल्लङ्घयेयम्। हे अग्ने जगदीश्वर! ते तव वसुमतीं छायामहमुपस्थेषमुपपत्सीय। योयमग्निर्विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमस्यस्ति तस्यापि वसुमतीं छायामुपस्थाय यज्ञं साधयामि। य ऊर्ध्वोऽध्वरोऽग्नौ हुतः [आऽस्थात्] समन्तात् तिष्ठति तमित इन्द्रो धृत्वा वीर्यमकृणोत् करोति ॥ ८ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—येन पूर्वोक्तेन यज्ञेनान्नजले शुद्धे पुष्कले भवतस्तदेतस्य सिध्यर्थं मनुष्यैः पुष्कलाः संभाराः सदा चेतव्याः। नैव मम व्यापकस्याज्ञामुल्लङ्घ्य वर्तितव्यम्। किन्तु बहुसुखप्रापकं मदाश्रयं गृहीत्वाऽग्नौ यो यज्ञः क्रियते, यमिन्द्रः स्वकीयैः किरणैश्छित्त्वा वायुना सहोर्ध्वमाकृष्योर्ध्वं मेघमण्डले स्थापयति, पुनस्तस्माद् भूमिं प्रति निपातयति, येन भूमौ महद्वीर्यं जायते स सदाऽनुष्ठातव्य इति ॥ ८ ॥

पदार्थः—मैं (देवेभ्यः) उत्तम सुखों की प्राप्ति के लिये जो (अस्कन्नम्) निश्चलसुखदायक (आज्यम्) घृत आदि उत्तम उत्तम पदार्थ हैं, उसको (अङ्घ्रिणा) पदार्थ पहुंचाने वाले अग्नि से (अद्य) आज (संभ्रियासम्) धारण करूं और (विष्णो) व्यापकेश्वर![1] (त्वा) उसका मैं (मावक्रमिषम्) कभी उल्लङ्घन न करूं। तथा हे (अग्ने) जगदीश्वर! (ते) आप के (वसुमतीम्) पदार्थ देनेवाले (छायाम्) आश्रय को (उपस्थेषम्) प्राप्त होऊं। जो यह अग्नि (विष्णोः) यज्ञ के (स्थानम्) ठहरने का स्थान (असि) है, उस के भी उत्तम पदार्थ देनेवाले आश्रय को मैं प्राप्त होकर यज्ञ को सिद्ध करता हूं, तथा जो (ऊर्ध्वः) आकाश और जो (अध्वरः) यज्ञ अग्नि में ठहरनेवाला (आ) सब प्रकार से (अस्थात्) ठहरता है, उसको (इन्द्रः) सूर्य और वायु धारण करके (वीर्यम्) कर्म अथवा पराक्रम को (अकृणोत्) करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि जिस पूर्वोक्त यज्ञ से जल और वायु शुद्ध होकर बहुत सा अन्न उत्पन्न करनेवाले होते हैं, उसको सिद्ध करने के लिये मनुष्यों को बहुतसी सामग्री जोड़नी चाहिये। मुझ सर्वत्र व्यापक की आज्ञा कभी उल्लङ्घन नहीं करनी चाहिये। किन्तु जो असंख्यात सुखों का देनेवाला मेरा आश्रय है, उसको सदा ग्रहण करके अग्नि में जो हवन किया जाता है, तथा जिस को सूर्य अपनी किरणों से खेंच कर वायु के योग से ऊपर मेघमण्डल में स्थापन

१. '(विष्णो) व्यापकेश्वरः' अयं पाठः सर्वकोशेषूपलभ्यमानोऽपि पूर्वमुद्रिते प्रमादात् त्यक्तः।

करता है, और फिर वह उस को वहां से मेघ द्वारा गिरा देता है, और जिससे पृथिवी पर बड़ा सुख उत्पन्न होता है, उस यज्ञ का अनुष्ठान सब मनुष्यों को सदा करना योग्य है ॥ ८ ॥

अग्ने वेरित्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्तेन किं भवतीत्युपदिश्यते—

फिर उस यज्ञ से क्या लाभ होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत् स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः॥ ९॥

अग्ने। वेः। होत्रम्। वेः। दूत्यम्। अवताम्। त्वाम्। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। अव। त्वम्। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। स्विष्टकृदिति स्विष्टऽकृत्। देवेभ्यः। इन्द्रः। आज्येन। हविषा। भूत्। स्वाहा। सम्। ज्योतिषा। ज्योतिः॥९॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर! भौतिको वा। (वेः) विद्धि, वेदयति प्रापयति वा। अत्रोभयत्र लडर्थे लङ्। वी गति० इत्यस्य प्रयोगोऽडभावश्च। (होत्रम्) जुह्वति यस्मिन् तद्यज्ञकर्म। (वेः) विद्धि, वेदयति प्रापयति वा। (दूत्यम्) दूतस्य कर्म तत्। दूतस्य भागकर्मणी (अ० ४। ४। १२१) अनेन यत्प्रत्ययः। (अवताम्) रक्षतः। (त्वाम्) तत्। (द्यावापृथिवी) द्यौश्च पृथिवी च ते। दिवो द्यावा (अ० ६। ३। २९) अनेन द्वन्द्वे समासे दिवः स्थाने द्यावादेशः। (अव) रक्ष, रक्षति वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। (त्वम्) स वा। (द्यावापृथिवी) अस्मत्प्राप्ते न्यायप्रकाशपृथिवीराज्ये। द्यावापृथिवी इति पदनामसु पठितम् (निघं० ५। ३) इत्य[नेना]त्र प्राप्त्यर्थौ गृह्यते। (स्विष्टकृत्) यः शोभनमिष्टं करोति सः। (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो, दिव्यसुखेभ्यो वा। (इन्द्रः) भौतिकः सूर्यो वायुर्वा। इन्द्रेण वायुना (ऋ० १। १४। १०) अनेनेन्द्रशब्देन वायुरपि गृह्यते। (आज्येन) यज्ञेऽग्नौ च प्रक्षेपितुं[1]

---

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्। प्रक्षेप्तुमिति त्वन्ये।

योग्येन घृतादिना । (हविषा) संस्कृतेन होतव्येन पदार्थेन । (भूत्) भवति । अत्र लडर्थे लुङ्, अडभावश्च । (स्वाहा) वेदवाणीदं कर्माह । (सम्) सम्यगर्थे । (ज्योतिषा) तेजस्विना लोकसमूहेन सह । (ज्योतिः) प्रकाशवान् । द्युतेरिसिन्नादेश्च[1] जः (.उ० २ । १०५) इति द्युत-धातोरिसिन् प्रत्यय आदेर्जकारादेशश्च ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ४ । ५ । ४—९ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे [अग्ने] परमेश्वर ! ये द्यावापृथिवी [त्वा तं] यज्ञमवतां रक्षतस्ते त्वं वेः रक्ष । यथायमग्निर्होत्रं दूत्यं च कर्म प्राप्तो द्यावापृथिवी रक्षति, तथा हे भगवन् ! देवेभ्यः स्विष्टकृत् त्वमस्मान् वेः सदा पालय । यथायमाज्येन हविषा ज्योतिषा सह ज्योतिः स्विष्टकृदिन्द्रो द्यावापृथिव्यो रक्षको भूद्भवति तथा त्वं विज्ञानज्योतिः प्रदानेनास्मान् समवेति स्वाहा ॥ ९ ॥

भावार्थः—ईश्वरो मनुष्येभ्यो[2] वेदेषूपदिष्टवानस्ति—मनुष्यैर्यद्य-दग्निपृथिवीसूर्यवाय्वादिभ्यः पदार्थेभ्यः होत्रं दूत्यं च कर्म निमित्तं विदित्वाऽनुष्ठीयते, तत्तदिष्टकारि भवति । अष्टममन्त्रेण यज्ञसाधनं यदुक्तं तत्फलं नवमेन प्रकाशितमिति ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर ! जो (द्यावापृथिवी) प्रकाशमय सूर्यलोक और पृथिवी [(त्वा) उस] यज्ञ की (अवताम्) रक्षा करते हैं, उनकी (त्वम्) आप (वेः) रक्षा करो । तथा जैसे यह भौतिक अग्नि (होत्रम्) यज्ञ और (दूत्यम्) दूत कर्म को प्राप्त होकर (द्यावापृथिवी) प्रकाशमय सूर्यलोक और पृथिवी की रक्षा करता है, वैसे हे भगवन् ! (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (स्विष्टकृत्) उनकी इच्छानुकूल अच्छे अच्छे कार्यों के करने वाले आप हम लोगों की (वेः) रक्षा कीजिये । जैसे यह (आज्येन) यज्ञ के निमित्त अग्नि में छोड़ने योग्य घृत आदि उत्तम उत्तम पदार्थ (हविषा) संस्कृत अर्थात् अच्छी प्रकार शुद्ध किये हुए होम के योग्य कस्तूरी केसर आदि पदार्थ वा (ज्योतिषा) प्रकाशयुक्त लोकों के साथ (ज्योतिः) प्रकाशमय किरणों से (स्विष्टकृत्) अच्छे अच्छे वाञ्छित कार्य सिद्ध करने वाला (इन्द्रः) सूर्यलोक भी प्रकाश वा पृथिवी के राज्य की रक्षा करने वाला (भूत्) होता है, वैसे आप (ज्योतिः) विज्ञानरूप ज्योति के दान से हम लोगों की [(सम्) भली प्रकार] (अव) रक्षा कीजिये, इस कर्म को (स्वाहा) वेदवाणी कहती है ॥ ९ ॥

१. उणादि कोशे (२ । ११०) 'इसिन्' प्रत्ययः पठ्यते ।
२. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

भावार्थः—ईश्वर ने मनुष्यों के लिये वेदों में उपदेश किया है कि जो जो अग्नि पृथिवी सूर्य और वायु आदि पदार्थों के निमित्तों को जान के होम और दूतसंबन्धी कर्म का अनुष्ठान करना योग्य है सो सो उनके लिये वाञ्छित सुख के देनेवाले होते हैं। अष्टम मन्त्र से कहे हुए यज्ञसाधन का फल नवम मन्त्र से प्रकाशित किया है ॥ ९ ॥

मयीदमित्यस्य ऋषिः स एव। इन्द्रो देवता। भुरिग्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

अथ तज्जन्यं फलमुपदिश्यते—

अब अगले मन्त्र में उक्त यज्ञ से उत्पन्न होनेवाले फल का उपदेश किया है ॥

मयीदमिन्द्रं इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा ॥ १० ॥

मयि। इदम्। इन्द्रः। इन्द्रियम्। दधातु। अस्मान्। रायः। मघवान इति मघऽवानः। सचन्ताम् ॥ अस्माकम्। सन्तु। आशिष इत्याऽशिषः। सत्याः। नः। सन्तु। आशिष इत्याऽशिषः। उपहूतेत्युपऽहूता। पृथिवी। माता। उप। माम्। पृथिवी। माता। ह्वयताम्। अग्निः। आग्नीध्रात्। स्वाहा ॥ १० ॥

पदार्थः—(मयि) आत्मनि। (इदम्) यच्छुद्धं ज्ञानयुक्तं साधुकारि प्रत्यक्षं तत्[1]। (इन्द्रः) परमेश्वरः। (इन्द्रियम्) इन्द्रस्यैश्वर्यप्राप्तेर्लिङ्गं चिह्नमिन्द्रेण परमेश्वरेण दृष्टमिन्द्रेण परमेश्वरेण[2] सृष्टं प्रकाशितमिन्द्रेण विद्यावता जीवेन जुष्टं संप्रीत्या सेवितमिन्द्रेण परमेश्वरेण यद्दत्तं सर्वसुखज्ञानसाधकम्। इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (अ० ५। २। ९३) अनेनोक्तेष्वर्थेष्विन्द्रियशब्दो निपातितः।

---

१. '(मयि)......तत्' एतावान् पाठः प्रथमसंस्करणे मुद्रितोऽप्युत्तरसंस्करणे प्रमादात् त्यक्तः।

२. ककोशे वर्तते।

(दधातु) नित्यं धारयतु। (अस्मान्) मनुष्यान्। (रायः) विद्यासुवर्णचक्रवर्त्तिराज्यादिधनानि। राय इति धननामसु पठितम् (निघं० २। १०)। (मघवानः) मघानि बहूनि धनानि विद्यन्ते येष्वैश्वर्ययोगेषु ते। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्[1]। मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः (निरु० १। ७)। (सचन्ताम्) समवेताः प्राप्ता भवन्तु। (अस्माकम्) परोपकारिणां धार्मिकाणां मानवानाम्। (सन्तु) भवन्तु। (आशिषः) कामनाः। (सत्याः) सिद्धाः। (नः) अस्माकं विद्यावतां राज्यसेविनाम्। (सन्तु) भवन्तु। (आशिषः) न्यायेच्छाविशिष्टाः क्रियाः। शास इत्त्वे आशासः क्वावुपसंख्यानम् (अ० ६। ४। ३४) अनेन वार्त्तिकेनाशीरिति सिद्धः। (उपहूता) उपहूयते जनैराज्यसुखार्थं या। (पृथिवी) पृथुसुखनिमित्ता। (माता) मान्य[2]करणहेतुः। (उप) गतार्थे। (माम्) सुखार्थिनं धार्मिकम्। (पृथिवी) पृथुसुखदात्री विद्या। (माता) धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या मान्यदात्री। (ह्वयताम्) स्पर्धतामुपदिशताम्। (अग्निः) ईश्वरः। (आग्नीध्रात्) अग्निरिध्यते प्रदीप्यते यस्मिन्[3], तस्येदं शरणमाश्रयणं तस्मात्। अग्नीधः शरणे रञ् भं च (अ० ४। ३। १२०) अनेन वार्त्तिकेनाधिकरणवाचिनः क्विबन्तादग्नीध् प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययः। (स्वाहा) सुहुतमाह यया सा॥ अयं मन्त्रः श० १। ८। १। ३९—४४ व्याख्यातः॥ १०॥

अन्वयः—इन्द्रो मयीदमिन्द्रियं रायश्च दधातु तत्कृपया स्वपुरुषार्थेन च यथा वयं मघवानो भवेम तथाऽस्मान् रायः सचन्ताम्। एवं चास्माकमाशिषः [सन्तु] सत्याः [नः आशिषः] सन्त्वेवं मातेयं पृथिवी विद्योपहूता च सती [पृथिवी माता] मामुपाह्वयतामुपदिशताम्। तथा मयाऽनुष्ठितोऽयमग्निराग्नीध्रादिष्टकृत्सन् नोऽस्माकं सुखान्युपह्वयति एवं सम्यग्घुतमिष्टकारि भवतीति स्वाहा वेदवाण्याह॥ १०॥

भावार्थः—ये पुरुषार्थिन ईश्वरोपासकास्त एव शोभनं मनः, श्रेष्ठान्युत्तमानि धनानि, सत्या इच्छाश्च प्राप्नुवन्ति, नेतरे। सर्वस्य मान्यप्राप्तिहेतुत्वात् भूमिविद्ये पृथिवीशब्देनात्र प्रकाशिते स्तः।

---

१. 'मतुप्' इति सार्वत्रिकः पाठः। मतुबन्तस्य 'मघवा, मघवन्तौ, मघवन्तः' इति रूपाणि भवन्ति। तस्मात् 'वनिप्' इति साधु।

२. मानकरणहेतुरित्यर्थः। मानार्थे मान्यपदस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

३. अत्र पाठो भ्रष्टः, 'अग्निमिन्धते इत्यग्नीत्' इति पाठेन भाव्यम्।

सर्वैरेते सदोपकर्त्तव्ये भवत इतीश्वरोऽनेन वेदमन्त्रेणाह । नवम-मन्त्रेणाग्न्यादिभ्यः साधितेभ्य इष्टसुखप्राप्तिरुक्ता सैवानेन दशमेन मन्त्रेण प्रकाशितेति ॥ १० ॥

पदार्थः—(इन्द्रः) परमेश्वर (मयि) मुझ में (इदम्) प्रत्यक्ष (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य की प्राप्ति के चिह्न, तथा परमेश्वर ने जो अपने ज्ञान से देखा वा प्रकाशित किया है, और जो सब सुखों को सिद्ध करानेवाले विद्वानों को दिया है, जिस को वे इन्द्र अर्थात् विद्वान् लोग प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, उन्हें तथा (रायः) विद्या सुवर्ण वा चक्रवर्त्ति राज्य आदि धनों को (दधातु) नित्य स्थापन करे। और उसकी कृपा से तथा हमारे पुरुषार्थ से (मघवानः) जिन में कि बहुत धन राज्य आदि पदार्थ विद्यमान हैं, जिन करके हम लोग पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त हों, वैसे धन (अस्मान्) हम विद्वान् धर्मात्मा लोगों को (सचन्ताम्) प्राप्त हों, तथा इसी प्रकार (अस्माकम्) हम परोपकार करनेवाले धर्मात्माओं की (आशिषः) कामना, (सत्याः) [सत्य] सिद्ध (सन्तु) हों, और ऐसे ही (नः) हमारी (आशिषः) न्यायपूर्वक इच्छायुक्त जो क्रिया हैं वे भी सत्य सिद्ध (सन्तु) हों। तथा इसी प्रकार (माता) धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि से मान्य करनेहारी विद्या और (पृथिवी) बहुत सुख देनेवाली भूमि है (उपहूता) जिसको राज्य आदि सुख के लिये मनुष्य क्रम से प्राप्त होते हैं, वह (माम्) सुख की इच्छा करनेवाले मुझको (उपह्वयताम्) अच्छी प्रकार उपदेश करती है, तथा मेरा अनुष्ठान किया हुआ यह (अग्निः) भौतिक अग्नि जिस को कि (आग्नीध्रात्) इन्धनादि से प्रज्वलित करते हैं वह वाञ्छित सुखों का करनेवाला होकर (नः) हमारे सुखों का आगमन करावे, क्योंकि ऐसे ही अच्छी प्रकार होम को प्राप्त होके चाहे हुए कार्यों को सिद्ध करनेहारा होता है। (स्वाहा) सब मनुष्यों के करने के लिये वेदवाणी इस कर्म को कहती है ॥ १० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य पुरुषार्थी परोपकारी ईश्वर के उपासक हैं, वे ही श्रेष्ठ ज्ञान, उत्तम धन और सत्य कामनाओं को प्राप्त होते हैं और नहीं। जो सब को मान्य देने के कारण इस मन्त्र में पृथिवी शब्द से भूमि और विद्या का प्रकाश किया है सो ये सब मनुष्यों को उपकार में लाने के योग्य है। ईश्वर ने इस वेदमन्त्र से यही प्रकाशित किया है। तथा जो नवम मन्त्र से अग्नि आदि पदार्थों से इच्छित सुख की प्राप्ति कही है, वही बात दशम मन्त्र से प्रकाशित की है ॥ १० ॥

उपहूतेत्यस्य ऋषिः स एव। द्यावापृथिवी देवते। ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तमेवार्थं द्रढयति—

फिर भी अगले मन्त्र में उक्त अर्थ को दृढ किया है ॥

उप॑हूतो द्यौष्पि॒तोप॒ मां द्यौष्पि॒ता ह्व॑यताम॒ग्नि-राग्नी॑ध्रात् स्वाहा॑। दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑-र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। प्रति॑ गृह्णाम्य॒ग्नेष्ट्वा॒स्ये॒न प्राश्ना॑मि ॥ ११ ॥

उप॑हूत॒ इत्युप॑ऽहूतः। द्यौः। पि॒ता। उप॑। माम्। द्यौः। पि॒ता। ह्व॒यता॒म्। अ॒ग्निः। आग्नी॑ध्रात्। स्वाहा॑॥ दे॒वस्य॑। त्वा॒। स॒वि॒तुः। प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे। अ॒श्विनोः॑। बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म्। पू॒ष्णः। हस्ता॑भ्याम्। प्रति॑। गृ॒ह्णा॒मि। अ॒ग्नेः। त्वा॒। आ॒स्ये॒न। प्र। अ॒श्ना॒मि॥ ११ ॥

पदार्थः—(उपहूतः) कृतोपह्वानः। (द्यौः) प्रकाशरूपः। (पिता) सर्वपालक ईश्वरः। (उप) क्रियार्थे। (माम्) सुखभोक्तारम्। (द्यौः) प्रकाशमयः। (पिता) पालनहेतुः सूर्यलोकः। (ह्वयताम्) ह्वयति। अत्र व्यत्ययेन लडर्थे लोट्। (अग्निः) जाठरस्थः। (आग्नीध्रात्) अन्नाशयात्। साधुत्वमस्य पूर्ववज्ज्ञेयम्। (स्वाहा) सुहुतं सुखकार्या-हेश्वरः। (देवस्य) हर्षकरस्य। (त्वा) त्वां, तं वा। (सवितुः) सर्वस्य जगतः प्रसवितुरीश्वरस्य। (प्रसवे) उत्पन्नेऽस्मिन् जगति। (अश्विनोः) प्राणापानयोः। (बाहुभ्याम्) आकर्षणधारणाभ्याम्। (पूष्णः) पुष्टिहेतोः समानस्य वायोः। (हस्ताभ्याम्) शोधनसर्वाङ्ग-प्रापणाभ्याम्। (प्रतिगृह्णामि) नित्यं स्वीकरोमि। (अग्नेः) भौतिकस्य पाचकस्य। (त्वा) तं भक्ष्यं पदार्थम्। (आस्येन) मुखेन, ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकादास्यम् (अ० १। १। ९) इति महाभाष्ये। अस्यन्ति प्रक्षिपन्ति उदरेऽन्नादिकं येन तदास्यं मुखम्। (प्र) गुणैर्यत्प्रकृष्टं तदर्थे, क्रियायोगे। प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह (निरु० १। ३)। (अश्नामि) भुञ्जे॥ अयं मन्त्रः श० १। ८। १। ३९—४४ व्याख्यातः॥ ११ ॥

अन्वयः—मया द्यौः पितेश्वर उपहूतो मामुपह्वयतां स्वीकरोत्वेवं मया द्यौः पिता पालनहेतुः सूर्यलोक उपहूतः स्पर्द्धितः सन् मां विद्यायै उपह्वयति। योऽग्निः स्वाहा सुहुतं भुक्तमन्नमाग्नीध्रात् पचति यो देवस्य सवितुः

प्रसवे वर्त्तमानोस्ति [त्वा] तमहं भोगमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि । गृहीत्वा च प्रदीप्तस्याग्नेर्मध्ये [त्वा तं] पाचयित्वाऽऽस्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः[1]। मनुष्यैरात्मशुद्ध्यर्थमनन्तविद्याप्रकाशकस्य परमेश्वरस्याह्वानं नित्यं कार्यम् । तथा च विद्यासिद्ध्ये चक्षुषा संशोध्य, जाठराग्निं प्रदीप्य, संस्कृतं मितमन्नं नित्यं भोक्तव्यम् । ईश्वरेण जगत्युत्पादितैः पदार्थैर्यैः सर्वो भोगः सिध्यति, स च विद्याधर्मयुक्तेन व्यवहारेण भोक्तव्यो भोजयितव्यश्च । ये पूर्वमन्त्रेण पृथिव्यां विद्यया प्राप्तव्या मान्यकारिणः पदार्था उक्तास्तेषां भोगो धर्मेण युक्त्या च सर्वैं कार्य इत्यनेन प्रतिपादितः ॥ ११ ॥

पदार्थः—मुझ से जो (द्यौः) प्रकाशमय (पिता) सर्वपालक ईश्वर (उपहूतः) प्रार्थना किया हुआ (माम्) सुख भोगनेवाले मुझ को (उपह्वयताम्) अच्छी प्रकार स्वीकार करे । इसी प्रकार जो (द्यौः) प्रकाशवान् (पिता) सब उत्तम क्रियाओं का पालने का हेतु सूर्यलोक मुझ से क्रियाओं में प्रयुक्त किया हुआ सब सुख भोगने वाले मुझ को विद्या के लिये युक्त करता है । तथा जो (अग्निः) जाठराग्नि (स्वाहा) अच्छे [प्रकार] भोजन किये हुए अन्न को (आग्नीध्रात्) उदर में अन्न के कोठे में पचा देता है उस [अग्नि] से मैं [जो] (देवस्य) हर्ष देने और (सवितुः) सब के उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए (प्रसवे) संसार में विद्यमान है (त्वा) उस उक्त भोग को (अश्विनोः) प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) आकर्षण और धारण गुणों से तथा (पूष्णः) पुष्टि के हेतु समान वायु के (हस्ताभ्याम्) शोधन वा शरीर के अङ्ग अङ्ग में पहुंचाने के गुण से (प्रतिगृह्णामि) अच्छी प्रकार ग्रहण करता हूं, ग्रहण करके (अग्नेः) प्रज्वलित अग्नि के बीच में पकाकर (त्वा) उस भोजन करने योग्य अन्न को (आस्येन) अपने मुख से (प्राश्नामि) भोजन करता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है[2]। मनुष्यों को अपने आत्मा की शुद्धि के लिये अनन्त विद्या के प्रकाश करनेवाले परमेश्वर पिता का आह्वान अर्थात् अच्छी प्रकार नित्य सेवन करना चाहिये । तथा विद्या की सिद्धि के लिये उदर की

---

१. नास्त्यत्रालङ्कारः । भूतपूर्वे पाठे द्वितीयस्य पितेत्यस्यार्थे '(पिता) पालक ईश्वर सूर्यलोको वा' इत्येवं पाठ आसीत् । गकोशे 'पालक ईश्वरः' इत्यंशोऽपमृष्टः । तस्माच्छ्लेषालङ्कारत्वमपि नष्टम् ।

२. इस मन्त्र में श्लेषार्थ न होने से यह पाठ व्यर्थ है । संस्कृत टिप्पणी देखिये ।

अग्नि को दीप्त कर और नेत्रों से अच्छी प्रकार देख के संस्कार किये हुए प्रमाणयुक्त अन्न का नित्य भोजन करना चाहिये। सब भोग इस संसार में जो कि ईश्वर के उत्पन्न किये पदार्थ हैं उन से सिद्ध होते हैं, वह भोग विद्या और धर्मयुक्त व्यवहार से भोगना चाहिये और वैसे ही औरों को वर्त्ताना चाहिये। जो पूर्वमन्त्र से पृथिवी में विद्या से प्राप्त होने वा मान्य के करानेवाले पदार्थ कहे हैं, उनका भोग धर्म वा युक्ति के साथ सब मनुष्यों को करना चाहिये। ऐसा इस मन्त्र से प्रतिपादन किया है ॥ ११ ॥

एतं त इत्यस्य ऋषिः स एव। सविता देवता। भुरिग्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

कस्मै प्रयोजनाय केनायं विद्याप्रबन्धः प्रकाशित इत्युपदिश्यते—

किस प्रयोजन के लिये और किस ने यह विद्या का प्रबन्ध प्रकाशित किया है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव ॥ १२ ॥

एतम्। ते। देव। सवितः। यज्ञम्। प्र। आहुः। बृहस्पतये। ब्रह्मणे ॥ तेन। यज्ञम्। अव। तेन। यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम्। तेन। माम्। अव ॥ १२ ॥

पदार्थः—(एतम्) पूर्वोक्तम्। (ते) तव। (देव) दिव्यसुखगुणानां दातः। (सवितः) सकलैश्वर्यविधातर्जगदीश्वर! (यज्ञम्) यं सुखाय यष्टुमर्हम्। (प्राहुः) प्रकृष्टं ब्रुवन्ति। (बृहस्पतये) बृहत्या वेदवाण्याः पालकाय। (ब्रह्मणे) चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मत्वाधिकारं प्राप्ताय। (तेन) बृहद्विज्ञानदानेन। (यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधम्। (अव) नित्यं रक्ष। (तेन) धर्मानुष्ठानेन। (यज्ञपतिम्) यज्ञस्यानुष्ठानेन पालकम्। (तेन) विद्याधर्मप्रकाशेन। (माम्)। (अव) रक्ष ॥ अयं मन्त्रः श० १। ६। २। १४—२१ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे देव सवितर्जगदीश्वर! वेदा विद्वांसश्च यमेतं यज्ञं [ते] भवत्प्रकाशितं प्राहुर्येन बृहस्पतये ब्रह्मणे सुखाधिकाराः प्राप्नुवन्ति तेनेमं यज्ञं [अव, तेन] यज्ञपतिं [तेन] मां चाव सततं रक्ष ॥ १२ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण सृष्ट्यादौ दिव्य[1]गुणवद्भ्योऽग्निवायुरव्यङ्गिरोभ्यश्चतुर्वेदोपदेशेन सर्वेषां मनुष्याणां विद्याप्राप्त्या सुखाय यज्ञानुष्ठानविधिरुपदिष्टोऽनेनैव सर्व[2]रक्षणविधानं च। नैव विद्याशुद्धिक्रियाभ्यां विना कस्यचित् सुखरक्षणे भवितुमर्हतः, तस्मात् सर्वैः परस्परं प्रीत्यै तयोर्वृद्धिरक्षणे प्रयत्नतः सदैव कार्य्ये। यश्चैकादशेन मन्त्रेण यज्ञफलभोग उक्तस्तत्प्रकाश ईश्वरेणैव कृत इति गम्यते ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्य सुख वा उत्तम गुण देने तथा (सवितः) सब ऐश्वर्य का विधान करनेवाले जगदीश्वर ! वेद और विद्वान् [(ते)] आप के प्रकाशित किये हुए (एतम्) इस पूर्वोक्त [(यज्ञम्)] यज्ञ को (प्राहुः) अच्छी प्रकार कहते हैं, जिस से (बृहस्पतये) बड़ों में बड़ी जो वेदवाणी है उसके पालन करनेवाले (ब्रह्मणे) चारों वेदों के पढ़ने से ब्रह्मा की पदवी को प्राप्त हुए विद्वान् के लिये सुख और श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त होते हैं। सो हे परमेश्वर ! आप (तेन) उससे (यज्ञम्) इस त्रिविध यज्ञ की (अव) रक्षा कीजिये, इस (तेन) उस[3] यज्ञ संबन्धी धर्म से (यज्ञपतिम्) यज्ञ को करने वा सब प्राणियों को सुख देनेवाले विद्वान् [की] और (तेन) उस विद्या वा धर्म के प्रकाश से (मा) मेरी भी (अव) रक्षा कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—ईश्वर ने सृष्टि की आदि में दिव्यगुणवाले अग्नि, वायु, रवि और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा चारों वेदों के उपदेश से सब मनुष्यों के लिये विद्याप्राप्ति के साथ यज्ञ के अनुष्ठान की विधि का उपदेश किया है, जिससे सब की रक्षा होती है। क्योंकि विद्या और शुद्धि क्रिया के विना किसी को सुख वा सुख की रक्षा प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये हम सब को उचित है कि परस्पर प्रीति के साथ उनकी वृद्धि और रक्षा यत्न से करनी चाहिये। जो ग्यारहवें मन्त्र से यज्ञ का फल कहा है उसका प्रकाश परमेश्वर ही ने किया है, ऐसा इस मन्त्र से विधान है ॥ १२ ॥

मनोजूतिरित्यस्य ऋषिः स एव। बृहस्पतिर्देवता। विराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

---

१. 'दिव्य' पदं प्रतिलिपिकर्त्रा खकोशे परित्यक्तम्।

२. 'सर्व' पदं प्रतिलिपिकर्त्रा खकोशे परित्यक्तम्।

३. 'सो हे·····(तेन) उस' इत्यंशः कखयोर्वर्तमानोऽपि गकोशप्रतिलिपिकर्तुः प्रमादान्नष्टः।

येन यज्ञः कर्तुं शक्यस्तदुपदिश्यते—

जिस से यज्ञ किया जा सकता है, सो विषय अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमं दधातु। विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म्प्र तिष्ठ ॥ १३ ॥

मनः। जूतिः। जुषताम्। आज्यस्य। बृहस्पतिः। यज्ञम्। इमम्। तनोतु। अरिष्टम्। यज्ञम्। सम्। इमम्। दधातु॥ विश्वे। देवासः। इह। मादयन्ताम्। ओ३म्। प्र। तिष्ठ ॥१३॥

पदार्थः—(मनः) मननशीलं ज्ञानसाधनम्। (जूतिः) वेगेन व्याप्तिकर्म। ऊतियूतिजूति० (अ० ३।३।९७) अनेन निपातितः। (जुषताम्) प्रीत्या सेवताम्। (आज्यस्य) यज्ञसामग्रीम्। सुपां सुलुक् [अ० ७।१।३९] इति द्वितीयास्थाने षष्ठी। (बृहस्पतिः) बृहतां प्रकृत्याकाशादीनां पतिः पालको जगदीश्वरः। तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (अ० ६।१।१५७) अनेन वार्त्तिकेन बृहस्पतिशब्दो निपातितः[1]। (यज्ञम्) संसाराख्यम्। (इमम्) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसुखभोगहेतुम्। (तनोतु) विस्तारयतु। (अरिष्टम्) रिष्यते हिंस्यते यः स रिष्टो, न रिष्टोऽरिष्टस्तम्। (यज्ञम्) अस्माभिरनुष्ठातुमर्हम्। (सम्) एकीभावे क्रियायोगे। (इमम्) समक्षं, विज्ञानयज्ञम्। (दधातु) धारयतु। (विश्वे देवासः) सर्वे विद्वांसः। अत्र जसेरसुगागमः। (इह) अस्मिन् संसारे, हृदये वा। (मादयन्ताम्) हृषन्तु[2]। (ओम्) ईश्वरवाचको यज्ञो वेदविद्या वा, ओ३म् खं ब्रह्म (यजुः० ४०।१७) अत्र[3]। अवतेष्टिलोपश्च (उ० १।१४२)। अनेनाऽवधातोर्मन् प्रत्ययोऽस्य टिलोपश्च। (प्रतिष्ठ) प्रतिष्ठति[4] वा।

१. 'निष्पादितः' इति पाठो युक्तः स्यात्, निपातनाभावात्।

२. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्। सर्वकोशेषु 'हर्षन्ताम्' इति पाठः, तस्यापि साधुत्वं तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३. अत्र मन्त्रे ईश्वरवाचक ओम् शब्द इति भावः।

४. अत्र परस्मैपदं कथं साध्विति परिशिष्टे वक्ष्यामः।

अत्रान्त्यपक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च ॥ अयं मन्त्रः श० १।७।४।२२। व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—मम जूतिर्मन आज्यस्य जुषतां बृहस्पतिर्यमिमं यज्ञमरिष्टं तनोतु तम् इममरिष्टं यज्ञं[1] संदधातु। हे विश्वेदेवास! एतमरिष्टं यज्ञद्वयं संतन्य[2] संधाय चेह मादयन्ताम्। हे ओंकारवाच्य बृहस्पते! त्वमिह प्रतिष्ठ कृपयेमं यज्ञं विद्यां च प्रतिष्ठापय ॥ १३ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—हे मनुष्या! युष्मन्मनः सत्कर्माण्येव प्राप्नोतु, मया योऽयं संसारे यज्ञः कर्त्तमाज्ञाप्यते, तमेवानुष्ठाय सुखिनो भवन्तु भावयन्तु वा। ओमिति परमेश्वरस्यैव नाम। यथा पितापुत्रयोः प्रियः संबन्धस्तथैवेश्वरेण सहोंकारस्य संबन्धोऽस्ति। नैव कस्यचित् सत्क्रियया विना प्रतिष्ठा भवितुमर्हति। तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथाऽधर्मं विहाय धर्मकार्याण्येव सेवनीयानि। यतः खल्वविद्यान्धकारनिवृत्तये विद्यार्कः प्रकाशेत। द्वादशमन्त्रेण यो यज्ञः प्रकाशितस्तस्यानुष्ठानेन सर्वेषां प्रतिष्ठासुखे भवत इत्यनेन प्रकाशितम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(जूतिः) अपनी वेग से सब जगह जाने वाला (मनः) विचारवान् ज्ञान का साधन मेरा मन (आज्यस्य) यज्ञ की सामग्री का (जुषताम्) सेवन करे (बृहस्पतिः) बड़े बड़े जो प्रकृति और आकाश आदि पदार्थ हैं उनका जो पति अर्थात् पालन करने हारा ईश्वर है वह (इमम्) इस प्रकट और अप्रकट (अरिष्टम्) अहिंसनीय (यज्ञम्) सुखों के भोगरूपी यज्ञ को (तनोतु) विस्तार करे तथा (इमम्) इस (अरिष्टम्) जो छोड़ने योग्य नहीं (यज्ञम्) जो हमारे अनुष्ठान करने योग्य विज्ञान की प्राप्तिरूप यज्ञ है इस को (संदधातु) अच्छी प्रकार धारण करावे। हे (विश्वेदेवासः) सकल विद्वान् लोगो! तुम इन पालन करने योग्य दो यज्ञों का धारण वा विस्तार करके (इह) इस संसार वा अपने मन में (मादयन्ताम्) आनन्दित होओ। हे (ओ३म्) ओंकार के अर्थ जगदीश्वर! आप बृहस्पति प्रकृत्यादि के पालन करने हारे (इह) इस संसार वा विद्वानों के हृदय में (प्रतिष्ठ) कृपा करके इस यज्ञ वा वेदविद्यादि को स्थापन कीजिये ॥ १३ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो! तुम्हारा मन अच्छे ही कामों में प्रवृत्त हो, तथा मैंने जो संसार में यज्ञ करने की आज्ञा दी है उसका उक्त

---

१. 'तम्'·····यज्ञं' इत्यंशः ककोशे वर्तमानोऽपि प्रतिलिपिकर्त्रा खकोशे परित्यक्तः।
२. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

प्रकार से यथावत् अनुष्ठान करके सुखी हो तथा औरों को भी सुखी करो। (ओम्) यह परमेश्वर का नाम है। जैसे पिता और पुत्र का प्रिय संबन्ध है वैसे ही परमेश्वर के साथ (ओम्) ओंकार का संबन्ध है, तथा अच्छे कामों के विना किसी की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, इसलिये सब मनुष्यों को सर्वथा अधर्म छोड़कर धर्म कामों का ही सेवन करना योग्य है, जिससे संसार में निश्चय करके अविद्यारूपी अन्धकार निवृत्त होकर विद्यारूपी सूर्य प्रकाशित हो। बारहवें मन्त्र से जिस यज्ञ का प्रकाश किया था उसके अनुष्ठान से सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा वा सुख होते हैं यह इस में प्रकाशित किया है ॥ १३ ॥

एषा ते इत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता सर्वस्य। पूर्वस्या[1]ऽनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः। अग्ने वाजजिदित्यत्र निचृद् [विराड्[2]] गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अग्निना यज्ञे कथमुपकारो ग्राह्य इत्युपदिश्यते—

यज्ञ में अग्नि से कैसे उपकार लेना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है ॥

एषा ते॑ अग्ने स॒मित्तया॒ वर्ध॑स्व चा च॑ प्यायस्व। व॒र्धि॒षी॒महि॑ च व॒यमा च॑ प्यासिषीमहि। अग्ने॑ वाजजि॒द्वाजं॑ त्वा ससृ॒वास॒ꣳसं॑ वाज॒जित॒ꣳ सं मा॑र्ज्मि ॥ १४ ॥

एषा। ते॒। अ॒ग्ने॒। स॒मिदिति॑ स॒म्ऽइत्। तया॑। वर्ध॑स्व। च॒। आ। च॒। प्या॒य॒स्व॒ ॥ व॒र्धि॒षी॒महि॑। च॒। व॒यम्। आ। च॒। प्या॒सि॒षी॒म॒हि॒ ॥ अग्ने॑। वा॒ज॒जि॒दिति॑ वाजऽजित्। वाज॑म्। त्वा॒। स॒सृ॒वास॒ꣳस॒मिति॑ स॒सृ॒ऽवास॒ꣳस॑म्। वा॒ज॒जित॒मिति॑ वाज॒ऽजित॑म्। सम्। मा॒र्ज्मि॒ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(एषा) प्रदीप्तिहेतुः। (ते) तव, तस्य वा। (अग्ने) परमेश्वर! भौतिको वा। (समित्) सम्यगिध्यते दीप्यतेऽनया सा, विद्या काष्ठादिर्वा। (तया) विद्यया, समिधा वा। (वर्धस्व) वर्धते वा। सर्वत्रान्यपक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (च) समुच्चये। (आ) क्रियायोगे। (च) पुनरर्थे। (प्यायस्व) प्यायते वा। (वर्धिषीमहि)

---

१. 'पूर्वोऽनुष्टुप्' पूर्वमुद्रितपाठः।

२. उपनिदानसूत्रानुसारम्, एकोनविंशत्यक्षरत्वात्।

स्पष्टार्थम् । (च) समुच्चये । (वयम्) विद्यावन्तो धार्मिकाः । (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (च) अन्वाचये । (प्यासिषीमहि) अत्र प्यैङ्धातोः सिबुत्सर्गश्छन्दसि (अ० ३ । १ । ३४) अनेन वार्तिकेन सिप्प्रत्ययः । (अग्ने) ज्ञानस्वरूप विजयप्रदेश्वर ! भौतिको वा । (वाजजित्) वाजं सर्वस्य वेगं जयति स ईश्वरः, वाजं जयति येन वा स भौतिकः । (वाजम्) ज्ञानवन्तं, वेगवन्तं वा । (त्वा) त्वां तं वा । (ससृवांसम्) सर्वं ज्ञानवन्तं,[1] शिल्पविद्यागुणप्राप्तिमन्तं वा । (वाजजितम्) यो येन वा वाजं संग्रामं जाययति,[2] तम् । (सम्) सम्यगर्थे । (मार्ज्मि) शुद्धो भवामि, शोधयामि वा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । २ । ३—७ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! ते तव यैषा समित् वेदविद्यास्ति तयास्माभिः स्तुतः सँस्त्वं वर्धस्व चास्मान् नित्यं वर्धय । हे भगवन्नेवं भवद्धिदितगुणैरस्माभिः प्रकाशितः संस्त्वम् [आ] प्यायस्व चास्मान् नित्यं प्यायय[3] । हे भगवन्नग्ने वाजजिद्वाजं ससृवांसं [वाजजितं त्वा] त्वां वयं वर्धिषीमहि । कृपया भवान् चास्मानपि वाजजितः ससृुषो वाजान् करोतु । यथा वयं भवन्तमाप्यासिषीमहि तथैव भवांश्चास्मान् सर्वैः शुभगुणैरा-प्यायताम् । अहं भवन्तमाश्रित्य संमार्ज्मि भवदाज्ञानुष्ठानेन शुद्धो भवामीत्येकः ॥

यैषा तेऽस्याग्नेर्वर्धिका समिदस्ति तया चायं वर्धते आप्यायते च वयं तं वाजं ससृवांसं वाजजितमग्निं विद्यावृद्धये वर्धिषीमहि आप्यासिषीमहि च । यतोऽयं शिल्पविद्यासिद्धैर्विमानादिभिर्यानैर्वाजान् ससृुषो वाजजितोऽस्मान् विजयेन वर्धयति तमहं संमार्ज्मीति द्वितीयः ॥ १४ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । क्रियाद्वयं[4] चादरार्थं विज्ञेयम् । ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालने क्रियाकौशले च वर्धन्ते, ते विद्यायां सर्वानानन्दयित्वा, दुष्टान् शत्रून् जित्वा, शुद्धा भूत्वा, सुखयन्ति, नेतरेऽलसाः । चकारचतुष्टयेनेश्वराज्ञा धर्म्या सूक्ष्मस्थूलतयाऽनेक-

१. 'सर्वज्ञानवन्तम्' इति युक्तः पाठः स्यात् ।
२. सर्वकोशेषु 'जाययति' इत्येव पाठः, पूर्वमुद्रिते प्रथमसंस्करणे च, द्वितीय-तृतीयसंस्करणयोः 'जयति' कृतः केनचित् संशोधकेन । 'जाययति' इत्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् । 'जापयति' रालकद्रूसंशोधनम् ।
३. 'प्यापय' इति पूर्वमुद्रितेषु व्यस्तः पाठः । ४. 'वर्धस्व, प्यायस्व' क्रियाद्वयम् ।

विधास्ति, तथा क्रियाकाण्डे कर्तव्यानि कर्माण्यनेकानि सन्तीति विज्ञेयम् । त्रयोदशमन्त्रेण या वेदविद्या प्रतिपादितास्ति, तथा सुखार्थं यज्ञसंधानमुक्तमनेनैवं पुरुषार्थः कार्य इति प्रकाशितम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (ते) आपकी जो (एषा) यह (समित्) अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों की प्रकाश करनेवाली वेदविद्या है, (तया) उससे हम लोगों की की हुई स्तुति को प्राप्त होकर आप नित्य, (वर्धस्व) हमारे ज्ञान में वृद्धि को प्राप्त हूजिये, (च) और उस वेदविद्या से हम लोगों की भी नित्य वृद्धि कीजिये । इसी प्रकार हे भगवन् ! आप के गुणों को जाननेहारे हम लोगों से (च) भी प्रकाशित होकर आप ([आ] प्यायस्व) हमारे आत्माओं में वृद्धि को प्राप्त हूजिये । इसी प्रकार हमको भी बढ़ाइये । हे भगवन् ! (अग्ने) विज्ञानस्वरूप विजय देने और (वाजजित्) सब के वेग को जीतने वाले परमेश्वर ! हम लोग (वाजम्) जो कि ज्ञानस्वरूप (ससृवांसम्) अर्थात् सब को जाननेवाले [(वाजजितम्) संग्राम के जिताने वाले] (त्वा) आपकी स्तुतियों से (वर्धिषीमहि) वृद्धि तथा प्राप्ति करें । (च) और आप कृपा करके हम को भी सब के वेग के जीतने, तथा ज्ञानवान् अर्थात् सब के मन के व्यवहारों को जाननेवाले कीजिये । और जैसे [(वयम्)] हम लोग आपकी (आप्यासिषीमहि) अधिक अधिक स्तुति करें, वैसे ही आप [(च)] भी हम लोगों को सब उत्तम उत्तम गुण और सुखों से वृद्धियुक्त कीजिये । हम आपके आश्रय को प्राप्त होकर तथा आपकी आज्ञा के पालने से (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार शुद्ध होते हैं ॥ १ ॥

जो (एषा) यह (अग्ने) भौतिक अग्नि है, (ते) उसकी (समित्) बढ़ाने अर्थात् अच्छी प्रकार प्रदीप्त करनेवाली लकड़ियों का समूह है, (तया) उससे यह अग्नि (वर्धस्व) बढ़ता और (आप्यायस्व) परिपूर्ण भी होता है । हम लोग (त्वा) उस (वाजम्) वेग और (ससृवांसम्) शिल्पविद्या के गुणों को देने तथा (वाजजितम्) संग्राम के जिताने के साधन अग्नि को विद्या की वृद्धि के लिये (वर्धिषीमहि) बढ़ाते हैं । (च) और कलाओं में (आप्यासिषीमहि) परिपूर्ण भी करते हैं, जिससे यह शिल्पविद्या से सिद्ध किये हुए विमान आदि यानों तथा वेगवाले शिल्पविद्या के गुणों की प्राप्ति से हमको विजय के साथ बढ़ाता है, इससे उस संग्राम को जिताने वाले अग्नि को हम (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार प्रयोग करते हैं ॥ २ ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । और एक एक अर्थ के दो दो क्रियापद[1] आदर के लिये जानने चाहियें ॥ जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा के

१. 'वर्धस्व' और 'प्यायस्व' दो क्रियाएं ।

पालने और क्रिया की कुशलता में उन्नति को प्राप्त होते हैं, वे विद्या और सुख में सब को आनन्दित कर और दुष्ट शत्रुओं को जीतकर, शुद्ध होके सुखी होते हैं। जो आलस्य करनेवाले हैं, वे ऐसे कभी नहीं हो सकते। चार चकारों से ईश्वर की धर्मयुक्त आज्ञा सूक्ष्म वा स्थूलता से अनेक प्रकार की और क्रियाकाण्ड में करने योग्य कार्य भी अनेक प्रकार के हैं, ऐसा समझना चाहिये॥ जो तेरहवें मन्त्र में वेदविद्या कही है, उस से सुख के लिये यज्ञ का सन्धान तथा पुरुषार्थ करना चाहिये, ऐसा इस मन्त्र में प्रतिपादन किया है॥ १४॥

अग्नीषोमयोरिति सर्वस्य ऋषिः स एव। पूर्वार्द्धे[1] अग्नीषोमौ[2] देवते। ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः। उत्तरार्द्धे इन्द्राग्नी देवते। [निचृद्] अतिजगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

अथ तेन किं किं दूरीकर्त्तव्यमित्युपदिश्यते—

अब उस यज्ञ से क्या क्या दूर करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

अ॒ग्नीषोम॑यो॒रुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। अ॒ग्नीषोमौ॑ तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि। इ॒न्द्रा॒ग्न्यो॒रुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। इ॒न्द्रा॒ग्नी तमप॑ नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि॥ १५॥

अ॒ग्नीषोम॑योः। उज्जि॑ति॒मित्युत्ऽजि॑तिम्। अनु॑। उत्। जे॒षम्। वाज॑स्य। मा॒। प्र॒स॒वेनेति॑ प्रऽस॒वेन॑। प्र। ऊ॒हामि॥ अ॒ग्नीषोमौ॑। तम्। अप॑। नु॒द॒ता॒म्। यः। अ॒स्मान्। द्वेष्टि॑। यम्। च॒। व॒यम्। द्वि॒ष्मः। वाज॑स्य। ए॒न॒म्। प्र॒स॒वेनेति॑ प्रऽस॒वेन॑। अप॑। ऊ॒हा॒मि॥ इ॒न्द्रा॒ग्न्योः। उज्जि॑ति॒मित्युत्ऽजि॑तिम्।

---

२. पदमिदम् 'ब्राह्मी' पदात् पूर्वमासीत्। उत्तरपाठस्य तुलनयाऽस्माभिरुचिते स्थाने स्थापितम्। २. 'अग्निषोमौ' पूर्वमुद्रितेष्वपपाठः।

अनु । उत् । जेषम् । वाजस्य । मा । प्रसवेनेति प्रऽसुवेन । प्र । ऊहामि ॥ इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी । तम् । अप । नुदताम् । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । वाजस्य । एनम् । प्रसवेनेति प्रऽसुवेन । अप । ऊहामि ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अग्नीषोमयोः) अग्निश्च सोमश्च, तयोः प्रसिद्धाग्निचन्द्रलोकयोः । अत्र ईदग्नेः सोमवरुणयोः (अ० ६ । ३ । २७) अनेन देवताद्वन्द्वसमासेऽग्नेरीकारादेशः । (उज्जितिम्) जयत्यनया सा जितिरुत्कृष्टा चासौ जितिश्च, तामुत्कृष्टं विजयम् । (अनु) पश्चाद्भावे । (उत्) उत्कृष्टार्थे । (जेषम्) जयं कुर्याम् । अत्र लिङर्थे लुङडभावो वृद्ध्यभावश्च । (वाजस्य) युद्धस्य । (मा) मां विजेतारम् । (प्रसवेन) उत्पादनेन प्रकृष्टैश्वर्येण सह वा । (प्रोहामि) प्रकृष्टतया विविधशुद्धतर्केण योजयामि । (अग्नीषोमौ) विद्यया सम्यक् प्रयोजितौ (तम्) शत्रुं रोगं वा । (अप) दूरीकरणे । (नुदताम्) प्रेरयतः । अत्र लडर्थे लोट् । (यः) अन्यायकारी । (अस्मान्) न्यायकारिणः । (द्वेष्टि) शत्रूयति । (यम्) अन्यायकारिणम् । (च) समुच्चये । (वयम्) न्यायाधीशाः । (द्विष्मः) विरुध्यामः[1] । (वाजस्य) यानवेगादियुक्तस्य सैन्यस्य । (एनम्) पूर्वोक्तं दुष्टम् । (प्रसवेन) प्रकृष्टतया युद्धविद्याप्रेरणेन । (अप) दूरीकरणे । (ऊहामि) विविधतर्केण क्षिपामि । (इन्द्राग्न्योः) इन्द्रो वायुरग्निर्विद्युत्, तयोः । (उज्जितिम्) विद्यया सम्यगुत्कर्षम् । (अनूज्जेषम्) अनुगतमुत्कर्षं प्राप्नुयाम् । अस्य सिद्धिः पूर्ववत् । (वाजस्य) प्रेरणाप्रेरणावेगप्राप्तेः । (मा) मां वायुविद्युद्विद्याप्राप्तम् । (प्रसवेन) ऐश्वर्यार्थमुत्पादितेन । (प्रोहामि) प्रकृष्टैर्विविधैस्तर्कैः सुखानि प्राप्नोमि[2] । (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्तौ सम्यक्साधितौ । (तम्) द्वेषस्वभावम् । (अप) निषेधार्थे । (नुदताम्) प्रेरयतः । अत्र लडर्थे लोट् । (यः) अविद्वान् । (अस्मान्) विदुषः । (द्वेष्टि) अप्रीतयति । (यम्) दुष्टस्वभावम् । (च) समुच्चयार्थे । (वयम्) विद्वांसः । (द्विष्मः) अप्रीतयामः । (वाजस्य) विज्ञानस्य । (एनम्) मूर्खम् । (प्रसवेन) उत्पादनेन । (अप) वर्जने । (ऊहामि) विविधां शिक्षां करोमि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । १—६ व्याख्यातः ॥१५॥

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् । २. 'प्राप्नोति' प्रथम संस्करणे पाठः ।

अन्वयः—अहमग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषमहं वाजस्य प्रसवेन मा मां प्रोहामि, मया सम्यक्साधितावग्नीषोमौ योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तम[पनुदताम] पनुदतः। अहमेनं वाजस्य प्रसवेनापोहामि। अहमिन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषमहं वाजस्य प्रसवेन मा मां नित्यं प्रोहामि। अस्माभिः सम्यक् साधिताविन्द्राग्नी योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तम [पनुदताम] पनुदतः। अहं वाजस्य प्रसवेनैनमपोहामि॥ १५॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—सर्वैर्मनुष्यैरिह विद्यायुक्तिभ्यामग्निजलयोर्मेलनेन कलाकौशलाद् वेगादिगुणानां प्रकाशेन, तथा वायुविद्युतोर्विद्यया सर्वदारिद्र्यनाशेन, शत्रूणां विजयेन, सुशिक्षया मनुष्याणां मूढत्वं दूरीकृत्य, विद्वत्त्वं प्रापय्य च विविधानि सुखानि प्राप्तव्यानि प्रापयितव्यानि च। एवं सम्यक् सर्वाः पदार्थविद्या जगति प्रकाशनीयाः। पूर्वेण मन्त्रेण यत्कार्यं प्रकाशितं, तदनेन पोषितम्॥१५॥

पदार्थः—मैं (अग्नीषोमयोः) प्रसिद्ध भौतिक अग्नि और चन्द्रलोक के (उज्जितिम्) दुःख से सहने योग्य शत्रुओं को (अनुज्जेषम्) यथाक्रम से जीतूं, और (वाजस्य) युद्ध के (प्रसवेन) उत्पादन से विजय करने वाले (मा) अपने आप को (प्रोहामि) अच्छी प्रकार शुद्ध तर्कों से युक्त करूं। जो मुझ से अच्छी प्रकार विद्या से क्रियाकुशलता में युक्त किये हुए (अग्निषोमौ) उक्त अग्नि और चन्द्रलोक हैं, वे (यः) जो कि अन्याय में वर्त्तनेवाला दुष्ट मनुष्य (अस्मान्) न्याय करने वाले हम लोगों को (द्वेष्टि) शत्रुभाव से वर्त्तता है, (यं च) और जिस अन्याय करने वाले से (वयम्) न्यायाधीश हम लोग (द्विष्मः) विरोध करते हैं, (तम्) उस शत्रु वा रोग को (अपनुदताम्) दूर करते हैं। और मैं भी (एनम्) इस दुष्ट शत्रु को (वाजस्य) यान वेगादि गुणों से युक्त सेना वाले संग्राम की (प्रसवेन) अच्छी प्रकार प्रेरणा से (अपोहामि) दूर करता हूं। मैं (इन्द्राग्न्योः) वायु और विद्युत्रूप अग्नि की (उज्जितिम्) विद्या से अच्छी प्रकार उत्कर्ष को (अनूज्जेषम्) अनुक्रम से प्राप्त होऊं। और मैं (वाजस्य) ज्ञान की प्रेरणा के द्वारा वेग की प्राप्ति के (प्रसवेन) ऐश्वर्य के अर्थ उत्पादन से वायु और बिजुली की विद्या के जाननेवाले (मा) अपने आप को नित्य (प्रोहामि) अच्छी प्रकार तर्कों से सुखों को प्राप्त कराता हूं, और मुझ से जो अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुए (इन्द्राग्नी) वायु और विद्युत् अग्नि है वह (यः) जो मूर्ख मनुष्य (अस्मान्) हम विद्वान् लोगों से (द्वेष्टि) अप्रीति से वर्त्तता है (च) और (यम्) जिस मूर्ख से (वयम्) हम विद्वान् लोग (द्विष्मः) अप्रीति से वर्त्तते हैं, (तम्) उस वैर करने वाले मूढ़ को (अपनुदताम्) दूर करते हैं।

तथा मैं भी (एनम्) इसे (वाजस्य) विज्ञान के (प्रसवेन) प्रकाश से (अपोहामि) अच्छी अच्छी शिक्षा देकर शुद्ध करता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को विद्या और युक्तियों से अग्नि और जल के मेल से कलाओं की कुशलता करके वेगादि गुणों के प्रकाश से तथा वायु और विद्युत् अग्नि की विद्या से सब दरिद्रता के विनाश और शत्रुओं के पराजय से श्रेष्ठ शिक्षा देकर, अज्ञान को दूर कर और उन मूढ़ मनुष्यों को विद्वान् करके अनेक प्रकार के सुख इस संसार में सिद्ध करने योग्य और औरों को सिद्ध कराने के योग्य हैं। इस प्रकार अच्छे प्रयत्न से सब पदार्थविद्या संसार में प्रकाशित करनी योग्य है। पूर्व मन्त्र में जो कार्य प्रकाश किया, उसकी पुष्टि इस मन्त्र से की है ॥ १५ ॥

वसुभ्यस्त्वेति सर्वस्य ऋषिः स एव। पूर्वार्द्धे द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च देवताः। भुरिगार्ची[1] पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥ व्यन्तु वय इत्यारभ्यान्तपर्यन्तस्याग्निर्देवता। भुरिक्[2] त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

तस्मात् किं भवतीत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ से क्या होता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा सं जानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमा वह। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ १६ ॥

वसुभ्य इति वसुऽभ्यः। त्वा। रुद्रेभ्यः। त्वा। आदित्येभ्यः। त्वा। सम्। जानाथाम्। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। मित्रावरुणौ। त्वा। वृष्ट्या। अवताम् ॥ व्यन्तु। वयः। अक्तम्। रिहाणाः। मरुताम्। पृषतीः। गच्छ।

---

१. 'निचृदार्ची' इति पूर्वमुद्रिते। मन्त्र एकत्रिंशदक्षराण्यतोऽपपाठः।
२. 'विराट्' इति पूर्वमुद्रिते। मन्त्रे पञ्चचत्वारिंशदक्षराण्यतोऽपपाठः।

व॒शा । पृश्निः॑ । भू॒त्वा । दिव॑म् । ग॒च्छ॒ । ततः॑ । नः॒ । वृ॒ष्टिम् । आ । व॒ह॒ ॥ च॒क्षु॒ष्पाः । च॒क्षुः॒पा इति॑ च॒क्षुः॒ऽपाः । अ॒ग्ने॒ । अ॒सि॒ । चक्षुः॑ । मे॒ । पा॒हि॒ ॥ १६ ॥

पदार्थः—(वसुभ्यः) अग्न्यादिभ्योऽष्टभ्यः[1] । (त्वा) तं पूर्वोक्तं यज्ञम् । (रुद्रेभ्यः) पूर्वोक्तेभ्य[1] एकादशभ्यः । (त्वा) तम् । (आदित्येभ्यः) द्वादशभ्यो मासेभ्यः । (त्वा) तं क्रियासमूहम् । (सम्) सम्यगर्थे । (जानाथाम्) जानीतः, प्रादुर्भूतविद्यासाधिके भवतः । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (द्यावापृथिवी) सूर्यप्रकाशो भूमिश्च । अत्र दिवो द्यावा [अ० ६ । ३ । २६] इति द्यावादेशः । (मित्रावरुणौ) [मित्रो] यः सर्वप्राणो बहिःस्थो वायुः, वरुणोऽन्तस्थ उदानो वायुश्च, तौ । (त्वा) तमिमं संसारम् । (वृष्ट्या) शुद्धजलवर्षणेन । (अवताम्) रक्षतः । (व्यन्तु) व्यन्ति प्राप्नुवन्ति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लोट् । (वयः) पक्षिण इव गायत्र्यादीनि छन्दांसि । (अक्तम्) प्रकटं वस्तु सुखं वा । (रिहाणाः) अर्चकाः । रिहतीत्यर्चतिकर्मसु पठितम् (निघं० ३।१४) । (मरुताम्) वायूनाम् । (पृषतीः) पृषन्ति[2] सिञ्चन्ति याभिर्नाडीभिर्नदीभिर्यास्ताः[3] । (गच्छ) गच्छति । (वशा) कामिताहुतिः । (पृश्निः) अन्तरिक्षस्थाः । पृश्निरिति साधारणनामसु पठितम् (निघं० १।४) । (भूत्वा) भावयित्वा । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (दिवम्) सूर्यप्रकाशम् । (गच्छ) गच्छति । (ततः) तस्मात् । (नः) अस्माकम् । (वृष्टिम्) जलसमूहम् । (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (वह) वहति प्रापयति । (चक्षुष्पाः) चक्षुर्दर्शनं रक्षतीति सः । (अग्ने) अग्निर्भौतिकः । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (चक्षुः) बाह्यमाभ्यन्तरं विज्ञानं, तत्साधनं वा । (मे) मम (पाहि) पाति रक्षति ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । ७—१६ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—वयं वसुभ्यस्त्वा तं रुद्रेभ्यस्त्वा तमादित्येभ्यस्त्वा तं नित्यं प्रोहामः । यज्ञेनेमे द्यावापृथिवी संजानाथाम् । मित्रावरुणौ वृष्ट्या त्वा तमिमं संसारं द्यावापृथिवीस्थमवतामवतः । यथा वयः पक्षिणोऽक्तं व्यक्तं स्थानं व्यन्तु व्यन्ति गच्छन्ति, तथा रिहाणा वयं छन्दोभिस्तं यज्ञं नित्यमनुतिष्ठामः ।

---

१. यजुः २।५ मन्त्रभाष्ये निर्दिष्टाः । २. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।
३. 'याभिस्ता नाडीर्नदीर्वा' इति पाठोऽत्र युक्तः ।

यज्ञे कृताहुतिर्वशा पृश्निरन्तरिक्षे भूत्वा मरुतां संगेन दिवं गच्छ गच्छति, सा ततो नोऽस्माकं वृष्टिमावह समन्ताद्वर्षयति तज्जलं, पृषतीर्नाडीर्नदीर्वा[गच्छ] गच्छति। यतोऽयम [ग्नेऽ] ग्निश्चक्षुष्पा अस्यस्त्यतो मे मम चक्षुः पाहि पाति ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। प्रोहामि, अपोहामीति पदद्वयानुवृत्तिश्च[1] ॥ मनुष्यैरग्नौ याऽहुतिः क्रियते, सा वायोः संगेन मेघमण्डलं गत्वा सूर्याकर्षित[2] जलं शुद्धं भावयित्वा, पुनस्तस्मात् पृथिवीमागत्यौषधीः पुष्णाति। सा वेदमन्त्रैरेव कर्त्तव्या, यतस्तस्याः फलज्ञाने[3] नित्यं श्रद्धोत्पद्येत। अयमग्निः सूर्यरूपो भूत्वा सर्वं प्रकाशयत्यतो दृष्टिव्यवहारस्य पालनं जायते। एतेभ्यो वस्वादिभ्यो विद्योपकारेण दुष्टानां गुणानां प्राणिनां चापोहनं निवारणं नित्यं कर्त्तव्यम्। इदमेव सर्वेषां पूजनं सत्करणं चेति। यत्पूर्वेण मन्त्रेणोक्तं तदनेन विशिष्टतया प्रकाशितमिति ॥ १६ ॥

पदार्थः—हम लोग (वसुभ्यः) अग्नि आदि आठ वसुओं[4] से (त्वा) उस यज्ञ को, तथा (रुद्रेभ्यः) पूर्वोक्त[4] एकादश रुद्रों से (त्वा) पूर्वोक्त यज्ञ को, और (आदित्येभ्यः) बारह महीनों से (त्वा) उस क्रियासमूह को नित्य उत्तम तर्कों से जानें, और यज्ञ से ये (द्यावापृथिवी) सूर्य का प्रकाश और भूमि (संजानाथाम्) जो उन से शिल्पविद्या उत्पन्न हो सके, उनके सिद्ध करने वाले हों। और (मित्रावरुणौ) जो सब जीवों के बाहिर का प्राण और जीवों के शरीर में रहने वाला उदानवायु है, वे (वृष्ट्या) शुद्ध जल की वर्षा से (त्वा) जो संसार सूर्य के प्रकाश और भूमि में स्थित है, उसकी अवताम् रक्षा करते हैं। जैसे (वयः) पक्षी अपने अपने [(अक्तम्)] ठिकानों को रचते और (व्यन्तु) प्राप्त होते हैं, वैसे उन छन्दों से (रिहाणाः) पूजन करने वाले हम लोग उस यज्ञ का [नित्य] अनुष्ठान करते हैं और जो यज्ञ में हवन की आहुति (पृश्निः) अन्तरिक्ष में स्थिर और (वशा) शोभित (भूत्वा) होकर (मरुताम्) पवनों के संग से (दिवम्)

१. प्रोहामीतिपदमन्वये 'प्रोहाम' इत्येवं विपरिणतम्। अपोहामीति पदमन्वयेऽनन्वितमपि भावार्थे 'अपोहनम्' इत्येवं रूपेण परिगृहीतम्।
२. 'आकर्षितम्' अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
३. 'सति तत्र' इत्येवं पूरणीयम्। यद्वा 'फलज्ञानेनानुष्ठाने नित्यं' इति कपाठोऽत्र स्वीकार्यः।
४. दूसरे अध्याय के पांचवे मन्त्र के भाष्य में।

सूर्य के प्रकाश को (गच्छ) प्राप्त होती है, वह (ततः) वहां से (नः) हम लोगों के सुख के लिये (वृष्टिम्) वर्षा को (आवह) अच्छे प्रकार वर्षाती है। उस वर्षा का जल (पृषतीः) नाड़ी और नदियों को [(गच्छ)] प्राप्त होता है। जिस कारण यह [(अग्ने)] अग्नि (चक्षुष्पाः) नेत्रों की रक्षा करनेवाला (असि) है, इससे (मे) हमारे (चक्षुः) बाहिरले भीतरले विज्ञान [तथा उसके साधन रूप] नेत्रों की (पाहि) रक्षा करता है॥ १६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्य लोग यज्ञ में जो आहुति देते हैं, वह वायु के साथ मेघमण्डल में जाकर सूर्य से खिंचे हुए जल को शुद्ध करती है, फिर वहां से वह जल पृथिवी में आकर ओषधियों को पुष्ट करता है। वह उक्त आहुति वेदमन्त्रों से ही करनी चाहिये, क्योंकि उसके फल को जानने में नित्य श्रद्धा उत्पन्न होवे। जो यह अग्नि सूर्यरूप होकर सब को प्रकाशित करता है इसी से सब दृष्टिव्यवहार की पालना होती है। ये जो वसु आदि देव कहाते हैं, इन से विद्या के उपकारपूर्वक दुष्ट गुण और दुष्ट प्राणियों को नित्य निवारण करना चाहिये, यही सब का पूजन अर्थात् सत्कार है। जो पूर्व मन्त्र में कहा था, उसका इससे विशेषता करके प्रकाश किया है॥ १६॥

यं परिधिमित्यस्य ऋषिर्देवलः। अग्निर्देवता। [निचृज्] जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

सोऽग्निः कीदृश इत्युपदिश्यते—

उक्त अग्नि कैसा है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है॥

यं प॑रि॒धिं प॒र्यध॑त्था॒ अग्ने॑ देव प॒णिभि॒र्गुह्य॑मानः। तं त॑ ए॒तमनु॒ जोषं॑ भराम्ये॒ष नेत्त्वद॑पचे॒तया॑ता अ॒ग्नेः प्रि॒यं पाथो॒ऽपी॑तम्॥ १७॥

यम्। प॒रि॒धिमिति॑ परि॒ऽधिम्। प॒र्यध॑त्था॒ इति॑ परि॒ऽअध॑त्थाः। अग्ने॑। दे॒व॒। प॒णिभि॒रिति॑ प॒णिऽभिः॑। गुह्य॑मानः॥ तम्। ते॒। ए॒तम्। अनु॑। जोष॑म्। भ॒रा॒मि॒। ए॒षः। न। इत्। त्वत्। अ॒प॒चे॒तया॑ता॒ इत्य॑पऽचे॒तया॑ते। अ॒ग्नेः। प्रि॒यम्। पाथः॑। अपि॑। इ॒तम्॥ १७॥

पदार्थः—(यम्) एतद्गुणविशिष्टम् । (परिधिम्) परितः सर्वतो धीयते यस्मिँस्तम् । (पर्यधत्थाः) सर्वतो दधासि दधाति वा। अत्र लडर्थे लङ्, पक्षे व्यत्ययश्च । (अग्ने) सर्वत्र व्यापकेश्वर ! भौतिको वा । (देवपणिभिः) देवानां दिव्यगुणवतामग्निपृथिव्यादीनां विदुषां वा पणयो व्यवहाराः स्तुतयश्च, ताभिः । (गुह्यमानः) सम्यक् व्रियमाणः । (तम्) परिधिम् । (ते) तव । (एतम्) यथोक्तम् । (अनु) पश्चादर्थे । अन्विति सादृश्यापरभावं प्राह (निरु० १ । ३) । (जोषम्) जुष्यते प्रीत्या सेव्यते तम् । (भरामि) धारयामि । (एषः) परिधिरहं वा । (मा[1]) । प्रतिषेधे । (इत्) एव (त्वत्) अन्तर्यामिनो जगदीश्वरात्, तस्मादग्नेर्वा (अप[2]) दूरार्थे । (चेतयातै[2]) । चेतयेत् । चिती संज्ञाने इति एयन्तस्य लेटः प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगोऽयम् । (अग्नेः) जगदीश्वरस्य, भौतिकस्य वा । (प्रियम्) प्रीतिजनकम् । (पाथः) पाति शरीरमात्मानं च येन यत्तदन्नम् । अन्ने च (उ० ४ । २०५) अनेन पातेरन्नेऽसुन्प्रत्ययः थुडागमश्च । (अपीतम्[3]) अपि संयोगे । अपीति संसर्गं प्राह (निरु० १ । ३), इतं प्राप्तम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । २२ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! एष देवपणिभिर्गुह्यमानस्त्वं यमेतं जोषं परिधिं पर्यधत्थाः सर्वतो दधासि तमित् त्वामहमनुभरामि । अहं त्वत् मापचेतयातै कदाचिद्विरुद्धो मा भवेयम्[4] । मया [ते] तवाग्नेः सृष्टौ यत् प्रियं पाथोऽपीतं तस्मादहं मा कदाचिदपचेतयातै इत्येकः ॥

हे जगदीश्वर ! ते तव सृष्टौ योऽयं देवपणिभिर्गुह्यमान एषोऽ[ग्नेऽ] ग्निर्यम् [एतं] परिधिं जोषं पर्यधत्थाः सर्वतो दधाति तमित् तमहमनुभरामि [त्वत्] तस्मात् कदाचिन्माऽपचेतयातै, मया यदस्याग्नेः प्रियं पाथोऽपीतं तदहं जोषं नित्यमनुभरामीति द्वितीयः ॥ १७ ॥

---

१. मन्त्रे पदपाठे च 'न' इत्येव पाठः । भाष्यकर्तुरभिप्रेतोऽत्र 'मा' पाठः प्रतीयते । पूर्वमुद्रिते मन्त्रे पदपाठे चापि 'मा' इत्येवासीत् ।

२. स्वरशास्त्रानुसारमेकं पदम्, तं द्विधाकृत्य व्याख्यातवान् भाष्यकारः (द्रष्टव्य पृ० ४६ टि० १) ।

३. 'अपि, इतम्' द्वेपदे, ते एकीकृत्य व्याख्यातवान् भाष्यकारः (द्र० पृ० ४६ टि० १)।

४. माङ्योगे 'माङि लुङ्' (अ० ३ । ३ । १७५) सूत्रेण लिङपि भवति इति भाष्यकृता स्वीयेऽष्टाध्यायीभाष्य उक्तम् । तत्रस्थाऽऽस्माकीना टिप्पण्यप्यवलोकनीया ।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। आद्येऽन्वयेऽग्निशब्देन जगदीश्वरो गृहीतोऽस्ति, अपरे[1] भौतिकोऽग्निश्च[2]। सर्वैर्मनुष्यैर्यः प्रतिवस्तुषु[3] व्यापकत्वेन धारको विद्वद्भिः स्तोतव्यः संप्रीत्या नित्यमनुसेवनीयः, यतस्तदाज्ञापालनेन प्रियं सुखं प्राप्नुयुः। योऽय[4]मीश्वरेण प्रकाशदाहवेगगुणादिसहितो मूर्त्तद्रव्यानुगतोऽग्नी रचितस्तस्मान्मनुष्यैः कलाकौशलादिषु प्रयोजितादग्नेर्व्यवहाराः संसाधनीयाः[5]। यतः सुखानि सिध्येयुः। यत्पूर्वेण मन्त्रेण वृष्ट्यादिसाधकत्वमुक्तं, तस्यानेन व्यापकत्वं प्रकाशितमिति संगतिः ॥ १७ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सर्वत्र व्यापक ईश्वर! आप (देवपणिभिः) दिव्य गुण वाले विद्वानों की स्तुतियों से (गुह्यमानः) अच्छी प्रकार अपने गुणों के वर्णन को प्राप्त होते हुए (यम्) उन गुणों के अनुकूल (जोषम्) प्रीति से सेवन के योग्य (परिधिम्) प्रभुता को (पर्यधत्थाः) निरन्तर धारण करते हैं (तम्) उस आपको (इत्) ही (एषः) मैं (अनुभरामि) अपने हृदय में धारण करता हूं, तथा मैं (त्वत्) आप से (मा[6] अपचेतयातै) कभी प्रतिकूल न होऊं और [(ते) आप] (अग्नेः) जगदीश्वर की सृष्टि में जो मैंने (प्रियम्) प्रीति बढ़ाने और (पाथः) शरीर की रक्षा करने वाला अन्न (अपीतम्) पाया है, उससे भी कभी प्रतिकूल न होऊं ॥ १ ॥

हे जगदीश्वर! (ते) आपकी सृष्टि में (एषः) यह (अग्ने) भौतिक अग्नि (देवपणिभिः) दिव्य गुण वाले पृथिव्यादि पदार्थों के व्यवहारों से (गुह्यमानः) अच्छी प्रकार स्वीकार किया हुआ (यम्) जिस (परिधिम्) विद्यादि गुणों से धारण और (जोषम्) प्रीति करने योग्य कर्म को (पर्यधत्थाः) सब प्रकार से धारण करता है, (तमित्) उसी को मैं (अनुभरामि) उसके पीछे स्वीकार करता हूं, और [(त्वत्)] उस से कभी (मा अपचेतयातै) प्रतिकूल नहीं

१. 'अपरेण' इत्यपपाठः।
२. इदं वाक्यं कखकोशयोर्विद्यते।
३. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
४. 'सोऽयम्' इति पूर्वमुद्रिते पाठः। स चापपाठः वाक्येऽनन्वयात्। कखकोशयोस्तु 'योऽयम्' इति सम्यक्पाठः।
५. 'संसेधनीयाः' इति सर्वकोशेषु पाठः। एतस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
६. मन्त्र और पदपाठ में 'न' पाठ ही है। परन्तु भाष्यकार को यहां 'मा' पाठ ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। पूर्वमुद्रित में तो मन्त्र और पदपाठ में भी 'मा' ही छपा था।

होता हूं, तथा मैंने जो (अग्नेः) इस अग्नि के संबन्ध से (प्रियम्) प्रीति देने और (पाथः) शरीर की रक्षा करने वाला अन्न (अपीतम्) ग्रहण किया है, उसको मैं अत्यन्त प्रीति के साथ नित्य क्रम से पाता हूं ॥ २ ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। पहिले अन्वय में अग्निशब्द से जगदीश्वर का ग्रहण और दूसरे में भौतिक अग्नि का है ॥ जो प्रतिवस्तु में व्यापक होने से सब पदार्थों का धारण करने वाला और विद्वानों के स्तुति करने योग्य ईश्वर है, उसकी सब मनुष्यों को प्रीति के साथ नित्य सेवा करनी चाहिये। जो मनुष्य उसकी आज्ञा नित्य पालते हैं वे प्रिय सुख को प्राप्त होते हैं। तथा जो यह ईश्वर ने प्रकाश, दाह और वेग आदि गुण वाला मूर्तिमान् पदार्थों को प्राप्त होने वाला अग्नि रचा है, उस से भी मनुष्यों को क्रिया की कुशलता के द्वारा उत्तम उत्तम व्यवहार सिद्ध करने चाहियें, जिस से कि उत्तम उत्तम सुख सिद्ध होवें। जो पूर्व मन्त्र से वृष्टि आदि पदार्थों का साधक कहा है उसका इस मन्त्र से व्यापकत्व प्रकाश किया है ॥ १७ ॥

संस्रवेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

स यज्ञः कथं किमर्थश्च कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते—

वह यज्ञ कैसे और किस प्रयोजन के लिये करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः। इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाट् ॥ १८ ॥

सꣳस्रवभागा इति सꣳस्रवऽभागाः। स्थ। इषा। बृहन्तः। प्रस्तरेष्ठाः। प्रस्तरेस्था इति प्रस्तरेऽस्थाः। परिधेया इति परिऽधेयाः। च। देवाः ॥ इमाम्। वाचम्। अभि। विश्वे। गृणन्तः। आसद्येत्याऽसद्य। अस्मिन्। बर्हिषि। मादयध्वम्। स्वाहा। वाट् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(संस्रवभागाः) सम्यक् स्रूयन्ते ये ते संस्रवाः, भज्यन्ते ये ते भागाः, संस्रवा भागा येषां ते। (स्थ) भवत। (इषा)

इष्यते ज्ञायते येन तदिट् ज्ञानम्। इष गतावित्यस्य क्विबन्तस्य रूपम्। कृतो बहुलम् [अ० ३। ३। ११३] इति करणे क्विप्। (बृहन्तः) वर्धमाना वर्धयन्तश्च। (प्रस्तरेष्ठाः) शुभे न्यायविद्यासने तिष्ठन्ति ते। तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६। ३। १४) इति सप्तम्या अलुक्। (परिधेयाः) परितः सर्वतो धातुं धापयितुमर्हाः। (च) समुच्चयार्थे। (देवाः) विद्वांसो दिव्याः पदार्था वा। (इमाम्) प्रत्यक्षाम्। (वाचम्) वचन्ति[1] वाचयन्ति सर्वा विद्या यया, तां सत्यलक्षणां वेदचतुष्टयीम्। वागिति पदनामसु पठितम् (निघं० ५। ५)। (अभि) अभीत्याभिमुख्यं प्राह (निरु० १। ३)। (विश्वे सर्वे)। (गृणन्तः) स्तुवन्त उपदिशन्तो वा। (आसद्य) समन्ताद्विज्ञाय स्थित्वा वा। (अस्मिन्) प्रत्यक्षप्राप्ते। (बर्हिषि) बृंहन्ते[2] वर्धयन्ते येन तद्बर्हिर्ज्ञानं प्राप्तं कर्मकाण्डं वा, तस्मिन्। (मादयध्वम्) हर्षयध्वम्। (स्वाहा) सु आहेत्यस्मिन्नर्थे। (वाट्) वहन्ति सुखानि यया क्रियया सा वाट्, निपातोऽयम्। अयं मन्त्रः श० १। ८। ३। २३—२६ व्याख्यातः॥१८॥

अन्वयः—हे बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेया [विश्वे] देवा विद्वांसो यूयमिमां वाचमभिगृणन्त इषा संस्रवभागा स्थ भवत स्वाहावाडासाद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमन्यानेतल्लक्षणान् मनुष्यान् कृत्वा हर्षयत च। [3]एवमस्मिन् बर्हिषि इमां वाचमभिगृणद्भिर्युष्माभिरिषा स्वाहा वाडासाद्य प्रस्तरेष्ठा विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः सदा परिधेयाः। तान्प्राप्य चास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्॥१८॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—ये मनुष्या धार्मिकाः पुरुषार्थिनो वेदविद्याप्रचारे उत्तमे व्यवहारे च नित्यं वर्तन्ते, तेषामेव बृहन्ति सुखानि भवन्ति। यौ पूर्वस्मिन्मन्त्रेऽग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थावुक्तावनेन तयोः सकाशादीदृशा उपकारा ग्राह्या इत्युच्यते॥ १८॥

पदार्थः—हे (बृहन्तः) वृद्धि को प्राप्त होने (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम न्याय विद्यारूपी आसन में स्थित होनेवाले (परिधेयाः) सब प्रकार से धारणावती बुद्धियुक्त [(विश्वे देवाः) सब विद्वानो! तुम)][4] (इमाम्) इस प्रत्यक्ष (वाचम्) चार वेदों की वाणी का [(अभिगृणन्तः)] उपदेश करने वाले (च) और (इषा) अपने ज्ञान से (संस्रवभागाः) घृतादि पदार्थों के होम में

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
२. आत्मनेपदस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
३. द्वितीयान्वयस्य कश्चिद् भागः। ४. यह पाठ पूर्वमुद्रित में आगे पीछे है।

छोड़ने वाले (स्थ) होओ। तथा (स्वाहा) अच्छे अच्छे वचनों से (वाट्) प्राप्त होने और सुख बढ़ानेवाली क्रिया को [(आसद्य)] प्राप्त होकर (अस्मिन्) प्रत्यक्ष (बर्हिषि) ज्ञान और कर्मकाण्ड में (मादयध्वम्) आनन्दित होओ, वैसे ही औरों को भी आनन्दित करो। इस प्रकार उक्त ज्ञान को कर्मकाण्ड में उक्त वेदवाणी की प्रशंसा करते हुए तुम लोग अपने विचार से उत्तम ज्ञान को प्राप्त होने वाली क्रिया को प्राप्त होकर (बृहन्तः) बढ़ने और (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम कामों में स्थित होनेवाले (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम उत्तम पदार्थ (परिधेयाः) धारण करो वा औरों को धारण कराओ और उनकी सहायता से उक्त ज्ञान वा कर्मकाण्ड में सदा (मादयध्वम्) हर्षित होओ ॥ १८ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि जो धार्मिक पुरुषार्थी वेदविद्या के प्रचार वा उत्तम व्यवहार में वर्त्तमान हैं, उन्हीं को बड़े बड़े सुख होते हैं। जो पूर्व मन्त्र में [अग्नि शब्द से] ईश्वर और भौतिक अर्थ कहे हैं, उनसे ऐसे ऐसे उपकार लेना चाहिए, सो इस मन्त्र में कहा है ॥ १८ ॥

घृताची स्थ इत्यस्य ऋषिः स एव। अग्नीवायू देवते। भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

अथोक्तेन यज्ञेन किं भवतीत्युपदिश्यते—

अब उक्त यज्ञ से क्या होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

घृताची स्थो धुर्यौ पातꣳ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्। यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे सं तिष्ठस्व स्विष्टे मे सं तिष्ठस्व ॥ १९ ॥

घृताची इति घृताची। स्थः। धुर्यौ। पातम्। सुम्ने इति सुम्ने। स्थः। सुम्ने। मा। धत्तम्॥ यज्ञ। नमः। च। ते। उप। च। यज्ञस्य। शिवे। सम्। तिष्ठस्व। स्विष्टे इति सुऽइष्टे। मे। सम्। तिष्ठस्व॥ १९ ॥

पदार्थः—(घृताची) घृतमुदकमञ्चत इति घृताची, अग्निवाय्वोर्धारणाकर्षणक्रिये। अत्र पूर्वसवर्णादेशः। घृतमित्युदकनामसु पठितम् (निघं० १। १२)। (स्थः) स्तः। अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः। (धुर्यौ) धुरं यज्ञस्याग्रं मुख्याङ्गं वहतस्तौ। अत्र धुरो यड्ढकौ (अ० ४। ४। ७७)

इति यत्प्रत्ययः । (पातम्) रक्षतः (सुम्ने) सुखकारिके उक्ते क्रिये । सुम्नमिति सुखनामसु पठितम् ।(निघं० ३ । ६)। (स्थः) भवतः । (सुम्ने) अत्युत्कृष्टे सुखे । (मा) मां यज्ञानुष्ठातारम् । (धत्तम्) धारयतः । (यज्ञ) इज्यते सर्वैर्जनैः स यज्ञ ईश्वरस्तत्सम्बुद्धौ, क्रियासाध्यो वा । अत्रान्त्ये पक्षे सुपां सुलुग् [अ० ७ । १ । ३६] इति सोर्लुक् । (नमः) नम्रीभावार्थे । (च) समुच्चये । (ते) तुभ्यं, तस्य वा । (उप) सामीप्ये क्रियायोगे । उपेत्युपजनं प्राह (निरु० १ । ३) । (च) पश्चादर्थे । (यज्ञस्य) ज्ञानक्रियाभ्यामनुष्ठेयस्य । (शिवे) कल्याणसाधिके । सर्वनिघृष्व० (उ० १ । १५१) इत्य[नेना]यं सिद्धः । (संतिष्ठस्व) संतिष्ठते । अत्र लडर्थे लोट् । (स्विष्टे) शोभनमिष्टं याभ्यां ते । (मे) मम । (संतिष्ठस्व) सुष्ठुसाधने स्थिरो भव, संतिष्ठते वा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । २७ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—यावग्निवायू यज्ञस्य धुर्य्यौ सुम्ने स्थो घृताची स्थः सर्वं जगत् पातं रक्षतस्तौ मया सम्यक् प्रयोजितौ सुम्ने सुखे मा मां धत्तं धारयतः । [यज्ञ] यज्ञो नमश्च ये यथा ते तव [स्विष्टे] शिवे उपसंतिष्ठेते मे ममाप्येते तथैव संतिष्ठेताम् । तस्माद्यथाहं तस्य यज्ञस्यानुष्ठाने संतिष्ठे तथा त्वमप्यत्र संतिष्ठस्व । यथाऽहं यज्ञमनुष्ठाय सुखे संतिष्ठे तथा त्वमपि तत्र संतिष्ठस्व ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः । ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या ! यूयमेतयोरसच्छेदकधारकयोर्जगत्पालनहेत्वोः सुखकारिणोः क्रियाकाण्डस्य निमित्तयोरूर्ध्वतिर्यग्गमनशीलयोरग्निवाय्वोः सकाशात् कार्य्याणि साधित्वा[1] सुखेषु संस्थितिं कुरुत, मदाज्ञापालनं मां च सततं नमस्कुरुत । पूर्वमन्त्रोक्तैरुपकारैः परमं सुखं भवतीत्यनेनोक्तमिति ॥ १६ ॥

पदार्थः—जो अग्नि और वायु (धुर्यौ) यज्ञ के मुख्य अङ्ग को प्राप्त कराने वाले (च) और (सुम्ने) सुखरूप (स्थ) हैं, तथा (घृताची) जल को प्राप्त कराने वाली क्रियाओं को करनेहारे (स्थ) [हैं] और सब जगत् को (पातम्) पालते हैं, वे मुझ से अच्छी अच्छी प्रकार उत्तम उत्तम क्रिया-कुशलता में युक्त हुए (मा) मुझे, यज्ञ करने वालों को (सुम्ने) सुख में (धत्तम्) स्थापन करते हैं । जैसे यह (यज्ञ) जगदीश्वर (च) और (नमः) नम्र होना (ते) तेरे

१. 'साधित्वा' इत्यस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

लिये [(स्विष्टे) सुख तथा] (शिवे) कल्याण में (उप) समीप स्थित होते हैं। वे वैसे ही (मे) मेरे लिये भी स्थित होते हैं, इस कारण जैसे मैं [(यज्ञस्य)] यज्ञ का अनुष्ठान करके सुख में स्थित होता हूं, वैसे तुम भी उस में (संतिष्ठस्व) स्थित होओ ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। ईश्वर कहता है कि हे मनुष्यो। रस के परमाणु करने [तथा धारण करने वाले] जगत् के पालन के निमित्त, सुख करनेवाले, क्रियाकाण्ड के हेतु और ऊपर को तथा टेढ़े वा सूधे जाने वाले अग्नि वायु के गुणों से कार्यों को सिद्ध करो। इस से तुम लोग सुखों में अच्छी प्रकार स्थिर हो तथा मेरी आज्ञा पालो और मुझ को ही वार वार नमस्कार करो ॥ १६ ॥

अग्नेऽदब्धायो इत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निसरस्वत्यौ देवते।
भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ सोऽग्निः कीदृशः, किमर्थं प्रार्थनीयश्चेत्युपदिश्यते—

उक्त अग्नि कैसा और क्यों प्रार्थना करने योग्य है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्टयै पाहि दुरद्मन्या अविषं नः पितुं कृणु। सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥ २० ॥

अग्ने। अदब्धायो इत्यदब्धऽआयो। अशीतम। अशितमेत्यशिऽतम। पाहि। मा। दिद्योः। पाहि। प्रसित्या इति प्रऽसित्यै। पाहि। दुरिष्टया इति दुःऽइष्टयै। पाहि। दुरद्मन्या इति दुःऽअद्मन्यै। अविषम्। नः। पितुम्। कृणु ॥ सुषदा। सुसदेति सुऽसदा। योनौ। स्वाहा। वाट्। अग्नये। संवेशपतय इति संवेशऽपतये। स्वाहा। सरस्वत्यै। यशोभगिन्या इति यशःऽभगिन्यै। स्वाहा ॥ २० ॥

पदार्थः—(अग्ने) जगदीश्वर ! भौतिको वा। (अदब्धायो) अदब्धमहिंसितमायुर्यस्मात्, तत्संबुद्धौ, अदब्धायुर्वा। (अशीतम) अश्नुते व्याप्नोति चराचरं यज्ञं सोऽतिशयितस्तत्संबुद्धौ, स वा। अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६। ३। १३७] इति दीर्घः। (पाहि) रक्ष, पाति वा। (मा) माम्। (दिद्योः) अतिदुःखात्। दिवु धातोः कुर्भ्रश्च (उ० १। २२) इति चकारेण कुप्रत्ययो[1] बाहुलकाद्वकारलोपश्च। (पाहि) रक्ष, रक्षति वा। (प्रसित्यै) प्रकृष्टा चासौ सितिर्बन्धनं यस्यां, तस्याः। अत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। (पाहि) पाति वा। (दुरिष्ट्यै) दुष्टा इष्टिर्यजनं यस्यां, तस्याः। अत्रापि पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। (पाहि) पाति वा। (दुरद्मन्यै) दुष्टा अद्मनी अदनक्रिया यस्यां, तस्याः। अत्रापि पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। (अविषम्) विषादिदोषरहितम्। (नः) अस्माकम्। (पितुम्) अन्नम्। पितुरित्यन्ननामसु पठितम् (निघं २। ७)। (कृणु) कुरु, करोति वा। अत्र सर्वत्र पक्षे लडर्थे लोट्। (सुषदा) सुखेन सीदन्ति यस्यां, तस्याम्। अत्र सुपां सुलुग् [अ० ७। १। ३९] इति ङे स्थान आकारादेशः। (योनौ) युवन्ति यस्यां सा योनिर्गृहं जन्मान्तरं वा, तस्याम्। योनिरिति गृहनामसु पठितम् (निघं० ३। ४)। (स्वाहा) सु आहानया सा। (वाट्) क्रियार्थे। (अग्नये) परमेश्वराय, भौतिकाय वा। (संवेशपतये) सम्यक् विशन्ति ये ते पृथिव्यादयः पदार्थास्तेषां पतिः पालकस्तस्मै। (स्वाहा) सुष्ठु आहुतं करोति यस्यां, सा। (सरस्वत्यै) सरन्ति जानन्ति येन तत् सरो ज्ञानं, तत्प्रशस्तं विद्यते यस्यां वाचि, तस्यै। सरस्वतीति वाङ्नामसु पठितम् (निघं० १। ११)। (यशोभगिन्यै) यशांसि सत्यवचनादीनि कर्माणि भजितुं,[2] शीलं यस्यास्तस्यै। (स्वाहा) स्वकीयं पदार्थं प्रत्याह यस्यां क्रियायां, सा॥ अयं मन्त्रः श० १। ६। २। १६—२० व्याख्यातः॥ २०॥

अन्वयः—हे अदब्धायोऽशीतमाग्ने जगदीश्वर ! त्वं यज्ञं दुरिष्ट्यै पाहि, [मा] मां दिद्योः प्रमादाद् दुःखात् पाहि, प्रसित्यै पाहि, दुरद्मन्यै पाहि, नोऽस्माकमविषं पितुं कृणु, नोऽस्मान् [सुषदा] सुषदायां योनौ स्वाहा वाट् सत्क्रियायां च कृणु,[3] वयं यशोभगिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा[4] संवेशपतयेऽग्नयें तुभ्यं स्वाहा नमश्च नित्यं कुर्म इत्येकः॥

१. चकारेण दिवुधातोः संग्रह इति भावः। २. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्। ३. मान्त्रिकोऽनुषङ्गः। ४. 'स्वाहा सरस्वत्यै' विपर्यस्त, पूर्वमुद्रिते।

हे जगदीश्वर ! योऽयं भवताऽदब्धायुरशीतमोऽग्निर्निर्मितः स यज्ञं दुरिष्टयाः पाति । मां दिद्योः पाति । प्रसित्याः पाति । दुरद्मन्याः पाति । नोऽस्माकमविषं पितुं करोति । सुषदायां योनौ स्वाहा वाट् सत्क्रियायां च हेतुरस्ति । वयं तस्मै संवेशपतयेऽग्नये स्वाहा यशोभगिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा कुर्म इति द्वितीयः ॥ २० ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यैर्यः सर्वथा सर्वस्माद् दुःखाद् रक्षक उत्तमजन्मनिमित्तकर्माज्ञापक उत्तमभोगप्रदाता जगदीश्वरोस्ति, स एव सदा सेवनीयः । तेन स्वसृष्टौ सूर्यविद्युत्प्रत्यक्षरूपेण योऽयमग्निः प्रकाशितः, सोऽपि सम्यक् विद्योपकारे संयोजितः सन् सर्वथा रक्षणोत्तमभोगहेतुर्भवति । यया कीर्तिहेतुभूतया सत्यलक्षणया वेदरूपया वाचोत्तमानि जन्मानि सर्वपदार्थेभ्य उत्कृष्टा विविधा विद्या च प्रकाशिता भवति, सा सदैव स्वीकर्तव्या स्वीकारयितव्या वेति । अत्र 'नमो यज्ञ' इति च पदद्वयं पूर्वस्मान्मन्त्रादाकर्षितम्[1] । पूर्वमन्त्रोक्तानां मनुष्यैरनुष्ठितानां कर्मणां फलमनेनोक्तमिति वेद्यम् ॥ २० ॥

पदार्थः—हे (अदब्धायो) निर्विघ्न आयु देनेवाले (अग्ने) जगदीश्वर ! आप (अशीतम) चराचर संसार में व्यापक यज्ञ की (दुरिष्टयै) दुष्ट अर्थात् वेदविरुद्ध यज्ञ से (पाहि) रक्षा कीजिये, (मा) मुझे (दिद्योः) अति दुःख से (पाहि) बचाइये, तथा (प्रसित्यै) भारी भारी बन्धनों से (पाहि) अलग रखिये (दुरद्मन्यै) जो दुष्ट भोजन करना है, उस विपत्ति से (पाहि) बचाइये, और (नः) हमारे लिये (अविषम्) विष आदि दोषरहित (पितुम्) अन्नादि पदार्थ (कृणु) उत्पन्न कीजिये, तथा (नः) हम लोगों को (सुषदा) सुख से स्थिरता को देने वाले [(योनौ)] घर में (स्वाहा वाट्) वेदोक्त वाक्यों से सिद्ध होने वाली उत्तम क्रियाओं में स्थिर कीजिये । जिससे हम लोग (यशोभगिन्यै) सत्यवचन आदि उत्तम कर्मों की सेवन कराने वाली (सरस्वत्यै) पदार्थों के प्रकाशित कराने में उत्तम ज्ञानयुक्त वेदवाणी के लिये (स्वाहा) धन्यवाद वा (संवेशपतये) अच्छी प्रकार जिन पृथिव्यादि लोकों में प्रवेश करते हैं, उनके पति अर्थात् पालन करनेहारे जो (अग्नये) आप हैं उनके लिये (स्वाहा) धन्यवाद और (नमः) नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

हे भगवन् जगदीश्वर ! आपने जो यह (अदब्धायो) निर्विघ्न आयु का निमित्त (अग्ने) भौतिक अग्नि बनाया है वह भी (अशीतम) सर्वत्र व्यापक

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

यज्ञ को (दुरिष्ट्यै) दुष्ट यज्ञ से (पाहि) रक्षा करता है, तथा (मा) मुझे (दिद्योः) अति दुःखों से (पाहि) बचाता है (प्रसित्यै) बड़े बड़े दारिद्र्य के बन्धनों से (पाहि) बचाता है, तथा (दुरद्मन्यै) दुष्ट भोजन कराने वाली क्रियाओं से (पाहि) बचाता है और (नः) हमारे (पितुम्) अन्न आदि पदार्थ (अविषम्) विष आदि दोषरहित (कृणु) कर देता है, वह (सुषदा) सुख से स्थिति देने वाले [(योनौ)] घर अथवा दूसरे जन्मों में (स्वाहा वाट्) वेदोक्त वाक्यों से सिद्ध होनेवाली क्रियाओं का हेतु है, हम लोग उस (संवेशपतये) पृथिव्यादि लोकों के पालनेवाले (अग्नये) भौतिक अग्नि को ग्रहण करके (स्वाहा) होम तथा उसके साथ (यशोभगिन्यै) (सरस्वत्यै) उक्त गुणवाली वेदवाणी की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) परमात्मा का धन्यवाद करते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। मनुष्यों को जो सर्वव्यापक सब प्रकार से रक्षा करने, उत्तम जन्म देने, उत्तम कर्म कराने और उत्तम विद्या वा उत्तम भोग देने वाला जगदीश्वर है, उसी का सेवन सदा करना योग्य है। तथा जो यह अपनी सृष्टि में परमेश्वर ने भौतिक अग्नि प्रत्यक्ष सूर्यलोक और बिजुली रूप से प्रकाशित किया है वह भी अच्छी प्रकार विद्या से उपकार लेने में संयुक्त किया हुआ सब प्रकार से रक्षा और उत्तम भोग का हेतु होता है। जिसकी कीर्ति के निमित्त सत्यलक्षणयुक्त वेदवाणी से उत्तम जन्म अथवा सब पदार्थों से अच्छी अच्छी विद्या प्रकाशित होती है, वे सब विद्वानों के स्वीकार करने योग्य हैं। इस मन्त्र में (नमः) और (यज्ञ) ये दोनों पद पूर्व मन्त्र से लिये हैं ॥ २० ॥

वेदोऽसीत्यस्य वामदेव ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

स जगदीश्वरः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते—

सो जगदीश्वर कैसा है, सो इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

वेदः । असि । येन । त्वम् । देव । वेद । देवेभ्यः । वेदः । अभवः । तेन । मह्यम् । वेदः । भूयाः ॥ देवाः । गातुविद इति गातुऽविदः । गातुम् । वित्त्वा । गातुम् । इत ॥ मनसः । पते । इमम् । देव । यज्ञम् । स्वाहा । वाते । धाः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(वेदः) वेत्ति चराचरं जगत् स जगदीश्वरः, विदन्ति येन स ऋग्वेदादिर्वा । (असि) भवसि वा । (येन) विज्ञानेन, वेदेन वा । (त्वम्) । (देव) शुभगुणदातः । (वेद) जानासि, वेत्ति वा । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः । (वेदः) वेदयिता । (अभवः) भवसि, भवति वा ।[1] (तेन) विज्ञानप्रकाशनेन । (मह्यम्) विज्ञानं जिज्ञासवे । (वेदः) ज्ञापकः । (भूयाः) । (देवाः) विद्वांसः । (गातुविदः) गीयते स्तूयतऽनया सा गातुः स्तुतिस्तस्या विदो वक्तारः[2] । कमिमनिजनि० (उ० १ । ७३) अनेन गा स्तुतावित्यस्मात् तुः प्रत्ययः । (गातुम्) गीयते ज्ञायते येन स गातुर्वेदस्तम् । गातुरिति पदनामसु पठितम् (निघं० ४ । १) अनेन ज्ञानार्थो गृह्यते । (वित्त्वा) लब्ध्वा । (गातुम्) गीयते शब्द्यते यस्तं यज्ञम् । (इत) प्राप्नुत । (मनसः) विज्ञानस्य । (पते) पालक । (इमम्) प्रत्यक्षमनुष्ठितमनुष्ठातव्यं वा । (देव) सर्वजगत्प्रकाशक । (यज्ञम्) क्रियाकाण्डजन्यं संसारम्[3] । (स्वाहा) सुष्ठु आहुतं हविः करोत्यनया सा । (वाते) वायौ । (धाः) धापय, धापयति वा । अत्र सर्वत्र पक्षान्तरे व्यत्ययेन प्रथमः । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि [अ० ६ । ४ । ७५] इत्यडभावः ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ६ । २ । २१—२८ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

---

१. 'भवसि भवति वा' इति ख पाठः । अयमेव शुद्धपाठः, उत्तरत्र 'अत्र सर्वत्र पक्षान्तरे व्यत्ययेन प्रथमः' इति वचनात् । गप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् 'वा' पदं त्यक्तम् । मुद्रणे संशोधकेन 'भवति' पदमपि त्यक्तं नाशितं वा ।

२. 'वेत्तारः' इति युक्तः पाठः, संस्कृतभावार्थे 'सर्ववेत्रा' पदस्योपलम्भात्, भाषायां 'स्तुति के जानने हारे' इत्येवं दर्शनाच्च । 'वेत्तारः' इत्युस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

३. इदं क्रियाकाण्डं नास्मदीयमभिप्रेतम्, अपितु जगत्कर्तुः परमेश्वरस्य, आधिदैविकपक्षे च देवानाम् । अस्यैव सर्वसंसारोत्पादकस्य यज्ञस्य वर्णनं 'सहस्रशीर्षा पुरुष' इत्याद्येकत्रिंशदध्याये उपलभ्यते । अस्मदीयं क्रियाकाण्डमप्यस्यैवानुकरणम् ।

अन्वयः—हे देव जगदीश्वर ! येन त्वं वेदोऽसि सर्वं च वेद येन च त्वं देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यमपि वेदो भूयाः । हे गातुविदो देवा भवन्तो येन वेदेन सर्वा विद्या विदन्ति, तेन यूयं गातुं वित्त्वा गातुमित । हे मनसस्पते देव ! त्वमिमं यज्ञं वाते धाः स्वाहा हे देवास्तमिमं मनसस्पतिं परमेश्वरमेव देवं नित्यमुपासीध्वम् ॥ २१ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो मनुष्याः ! यूयं येन सर्ववेत्रा[1] वेदविद्या प्रकाशिता, तमेवोपास्यं विदित्वा क्रियाकाण्डमनुष्ठाय सर्वहितं संपादयत । नैव वेदविज्ञानेन तत्रोक्तविधानानुकूलस्यानुष्ठाने च विना मनुष्याणां कदाचित् सुखं संभवति, वेदविद्यया सर्वसाक्षिणमीश्वरं देवं सर्वतो व्यापकं मत्वैव नित्यं[2] धर्मस्यानुष्ठातारो भवतेति ॥ २१ ॥

पदार्थः—हे (देव) शुभ गुणों के देनेहारे जगदीश्वर ! [(येन) जिससे] (त्वम्) आप (वेदः) चराचर जगत् के जानने वाले (असि) हैं, सब जगत् को (वेद) जानते हैं, तथा जिस विज्ञान वा वेद से (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (वेदः) पदार्थों के जनाने वाले (अभवः) होते हैं, (तेन) उस विज्ञान के प्रकाश से आप (मह्यम्) मेरे लिये जो कि मैं विशेष ज्ञान की इच्छा कर रहा हूं, (वेदः) विज्ञान देने वाले (भूयाः) हूजिये । हे (गातुविदः) स्तुति के जानने वाले (देवाः) विद्वानो ! जिस वेद से मनुष्य सब विद्याओं को जानते हैं, उस से तुम लोग (गातुम्) विशेष ज्ञान को (वित्त्वा) प्राप्त होकर (गातुम्) प्रशंसा करने योग्य वेद को (इत) प्राप्त हो । हे (मनसस्पते) विज्ञान के पालन करने हारे (देव) सर्वजगत्प्रकाशक परमेश्वर ! आप (इमम्) प्रत्यक्ष अनुष्ठान करने योग्य (यज्ञम्) क्रियाकाण्ड से सिद्ध होने वाले यज्ञरूप संसार को (स्वाहा) क्रिया के अनुकूल (वाते) पवन के बीच (धाः) स्थित कीजिये । हे विद्वानो ! उस विज्ञान से विशेष ज्ञान देने वाले परमेश्वर ही की नित्य उपासना करो ॥ २१ ॥

भावार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम लोग जिस सब कुछ जानने वाले परमेश्वर ने वेदविद्या प्रकाशित की है, उस की उपासना करके उसी वेदविद्या को जान कर और क्रियाकाण्ड का अनुष्ठान करके सब का हित संपादन करना चाहिये, क्योंकि वेदों के विज्ञान के विना तथा उसमें जो जो कहे हुए काम हैं

---

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।
२. 'नित्यं' पृथक् पदं क्रियाविशेषणम् । द्र० कक्कोशः ।

उनके किये विना मनुष्यों को कभी सुख नहीं हो सकता। वेदविद्या से, जो सब का साक्षी ईश्वर देव है उस को सब जगह व्यापक मानके नित्य धर्म में रहो ॥ २१ ॥

सं बर्हिरित्यस्य वामदेव ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अग्नौ हुतं द्रव्यमन्तरिक्षस्थं भूत्वा केन सह चरतीत्युपदिश्यते—

अग्नि में छोड़ा[1] हुआ पदार्थ अन्तरिक्ष में ठहर कर किसके साथ रहता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है।

सं बर्हिरङ्क्ताᳪ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सं मरुद्भिः। समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा ॥ २२ ॥

सम्। बर्हिः। अङ्क्ताम्। हविषा। घृतेन। सम्। आदित्यैः। वसुभिरिति वसुऽभिः। सम्। मरुद्भिरिति मरुत्ऽभिः। सम्। इन्द्रः। विश्वदेवेभिरिति विश्वऽदेवेभिः। अङ्क्ताम्। दिव्यम्। नभः। गच्छतु। यत्। स्वाहा ॥ २२ ॥

पदार्थः—(सम्) एकीभावे क्रियायोगे। (बर्हिः) बृंहन्ते[2] सर्वे पदार्था यस्मिन्, तदन्तरिक्षम्। बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् (निघं० १। ३)। (अङ्क्ताम्) संयोजयतु। (हविषा) होतुमर्हं शुद्धं संस्कृतं हविस्तेन। (घृतेन) सुगन्ध्यादि[3]गुणयुक्तेनाज्येन सह। (सम्) संयोगार्थे। (आदित्यैः) द्वादशभिर्मासैः। (वसुभिः) अग्न्यादिभिरष्टभिः। (सम्) मिश्रीभावे। (मरुद्भिः) वायुविशेषैः सह। (सम्) मेलने। (इन्द्रः) सूर्यलोकः। (विश्वदेवेभिः) स्वकीयै रश्मिभिः। रश्मयो ह्यस्य विश्वेदेवाः (श० ३। ७। ३। ६)। (अङ्क्ताम्) प्रकटं संयोजयति। (दिव्यम्) दिवि प्रकाशे भवम्। द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (अ० ४। २। १०१) इति शैषिको यत्। (नभः) जलम्। नभ इत्युदकनामसु पठितम्

---

१. 'यज्ञ में चढ़ा' इति पूर्वमुद्रितपाठः।
२. अत्र आत्मनेपदस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
३. गुणवाचकस्य सुगन्धिपदस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

(निघं० १ । १२) । (गच्छतु) गच्छति । (यत्) यदा । (स्वाहा) शोभनं हविर्जुहोति यया क्रियया सा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ६ । २ । २६—३१ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! भवानिदं यद् यदा होतव्यं द्रव्यं हविषा घृतेन सह संयुक्तं कृत्वाऽऽदित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिः सह सुखं समङ्क्ताम् । अयमिन्द्रो यज्ञे स्वाहा यत्सुगन्ध्यादिद्रव्ययुक्तं हविः समङ्क्ताम् यत्संमिश्रितैर्विश्वदेवेभिर्दिव्यं नभः संगच्छतु सम्यक्प्रकटयति ॥ २२ ॥

भावार्थः—यज्ञे[१] संशोधितं यद्धविरग्नौ प्रक्षिप्यते तदन्तरिक्षे वायुजलसूर्यकिरणैः सह वर्तमानमितस्ततो गत्वाऽऽकाशस्थान् सर्वान् पदार्थान् दिव्यान् कृत्वा सततं प्रजाः सुखयति । तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरुत्तमसामग्र्या श्रेष्ठैः साधनैस्त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय इति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! तुम (यत्) जब हवन करने योग्य द्रव्य को (हविषा) होम करने योग्य (घृतेन) घी आदि सुगन्धियुक्त पदार्थ से संयुक्त करके हवन करोगे, तब वह (आदित्यैः) बारह महीनों (वसुभिः) अग्नि आदि आठों निवास के स्थान और (मरुद्भिः) वायु विशेषों के साथ मिल के सुख को (समङ्क्ताम्) अच्छी प्रकार प्रकाश करेगा । (इन्द्रः) सूर्यलोक (स्वाहा) यज्ञ में छोड़ा हुआ उत्तम क्रिया से सुगन्ध्यादि पदार्थ युक्त [जिस] हवि [को] (संगच्छतु) पहुंचाता है, उससे (सम्) अच्छी प्रकार मिश्रित हुई (विश्वदेवेभिः) अपनी किरणों से (दिव्यम्) अपने प्रकाश में इकट्ठा होने वाले (नभः) जल को (समङ्क्ताम्) अच्छी प्रकार प्रकट करता है ॥ २२ ॥

भावार्थः—जो हवि अच्छी प्रकार शुद्ध किया हुआ यज्ञ के निमित्त अग्नि में छोड़ा जाता है, वह अन्तरिक्ष में वायु जल और सूर्य की किरणों के साथ मिल कर इधर उधर फैलकर आकाश में ठहरने वाले सब पदार्थों को दिव्य करके अच्छी प्रकार प्रजा को सुखी करता है । इससे मनुष्यों को उत्तम सामग्री और उत्तम उत्तम साधनों से उक्त तीन प्रकार के यज्ञ का नित्य अनुष्ठान करना चाहिये ॥ २२ ॥

कस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । प्रजापतिर्देवता । निचृद् बृहती छन्दः ।
मध्यमः स्वरः ॥

अग्नौ द्रव्यं किमर्थं प्रक्षिप्यत इत्युपदिश्यते—

---

१. चर्मणि द्वीपिनं हन्तिवन्निमित्तसप्तमी । यज्ञनिमित्तमित्यर्थः ।

अग्नि में किसलिये पदार्थ छोड़ा जाता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है ॥

कस्त्वा॒ वि मु॑ञ्चति॒ स त्वा॒ वि मु॑ञ्चति॒ कस्मै॑ त्वा॒ वि मु॑ञ्चति॒ तस्मै॑ त्वा॒ वि मु॑ञ्चति। पोषा॑य॒ रक्ष॑सां भा॒गो॑ऽसि ॥ २३ ॥

कः। त्वा॒। वि। मु॒ञ्च॒ति॒। सः। त्वा॒। वि। मु॒ञ्च॒ति॒। कस्मै॑। त्वा॒। वि। मु॒ञ्च॒ति॒। तस्मै॑। त्वा॒। वि। मु॒ञ्च॒ति॒॥ पोषा॑य। रक्ष॑साम्। भा॒गः। अ॒सि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(कः) सुखकारी यजमानः। (त्वा) तम्। (वि) विविधार्थे क्रियायोगे। व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह (निरु० १। ३)। (मुञ्चति) त्यजति। (सः) यज्ञः। (त्वा) त्वाम्[1]। (वि) विशेषार्थे। (मुञ्चति) त्यजति। (कस्मै) प्रयोजनाय। (त्वा) त्वाम्[1]। (वि) विविक्तार्थे। (मुञ्चति) प्रक्षिपति। (तस्मै) यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत् तस्मै। (त्वा) पदार्थसमूहम्। (वि) विशिष्टार्थे। (मुञ्चति) त्यजति। (पोषाय) पुष्यन्ति प्राणिनो यस्मिन् व्यवहारे, तस्मै। (रक्षसाम्) दुष्टानाम्। (भागः) भजनीयः। (असि) भवति ॥ अयं मन्त्रः श० १। ६। २। ३३—३५ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः—को मनुष्यस्त्वा तं यज्ञं विमुञ्चति कोऽपि नेत्यर्थः। यश्च यज्ञं विमुञ्चति [त्वा] तं स यज्ञः परमेश्वरो विमुञ्चति। यज्ञकर्ता कस्मै प्रयोजनाय [त्वा] तं पदार्थसमूहमग्नौ विमुञ्चति यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत् तस्मै पोषाय त्वा तं विमुञ्चति। किन्तु यः पदार्थः सर्वोपकारे यज्ञे न प्रयुज्यते स रक्षसां भागोऽसि भवति ॥ २३ ॥

भावार्थः—यो मनुष्य ईश्वरेण वेदद्वाराऽऽज्ञापितं व्यवहारं त्यजति, स सर्वैः सुखैर्हीनो भूत्वा दुष्टैः पीडितः सन् सर्वदा दुःखी भवति। केनचित् कंचित्प्रति पृष्टं, यो यज्ञं त्यजति तस्मै किं भवतीति। स आह ईश्वरोऽपि तं त्यजतीति। स पुनराह ईश्वरः कस्मै प्रयोजनाय तं त्यजतीति। स ब्रूते, तस्मै दुःखमेव स्यादित्यस्मै। यश्चेश्वराज्ञां पालयति स सुखैः पोषितुमर्हति, यश्च त्यजति स एव राक्षसो भवतीति ॥ २३ ॥

१. अत्र 'तम्' इति पाठो युक्तः, अन्वये तथा दर्शनात्।

पदार्थः—(कः) कौन सुख चाहने वाला यज्ञ का अनुष्ठाता पुरुष (त्वा) उस यज्ञ को (विमुञ्चति) छोड़ता है अर्थात् कोई नहीं, और जो कोई यज्ञ को छोड़ता है (त्वा) उस को (सः) यज्ञ का पालन करने हारा परमेश्वर भी (विमुञ्चति) छोड़ देता है। जो यज्ञ का करने वाला मनुष्य पदार्थ समूह को यज्ञ में छोड़ता है (त्वा) उस को (कस्मै) किस प्रयोजन के लिये अग्नि के बीच में (विमुञ्चति) छोड़ता है, (तस्मै) जिससे सब को सुख प्राप्त हो, तथा (पोषाय) पुष्टि आदि गुण के लिये (त्वा) उस पदार्थ समूह को [अग्नि में] (विमुञ्चति) छोड़ता है। जो पदार्थ सब के उपकार के लिये यज्ञ के बीच में नहीं युक्त किया जाता वह (रक्षसाम्) दुष्ट प्राणियों का (भागः) अंश (असि) होता है ॥ २३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य ईश्वर के वेद द्वारा आज्ञापित व्यवहार को छोड़ता है वह सब सुखों से हीन होकर और दुष्ट मनुष्यों से पीड़ा पाता हुआ सब प्रकार दुःखी रहता है। किसी ने किसी से पूछा कि जो यज्ञ को छोड़ता है उसके लिये क्या होता है ? वह उत्तर देता है कि ईश्वर भी उसको छोड़ देता है। फिर वह पूछता है कि ईश्वर उसको किसलिये छोड़ देता है ? वह उत्तर देने वाला कहता है कि दुःख भोगने के लिये। जो ईश्वर की आज्ञा को पालता है वह सुखों से युक्त होने योग्य है और जो कि छोड़ता है वह राक्षस हो जाता है ॥ २३ ॥

सं वर्चसेत्यस्य ऋषिः स एव। त्वष्टा देवता। विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

तेन यज्ञेन वयं किं किं प्राप्नुम इत्युपदिश्यते—

उक्त यज्ञ से हम लोग किस किस पदार्थ को प्राप्त होते हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनु मार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

सम्। वर्चसा। पयसा। सम्। तनूभिः। अगन्महि। मनसा। सम्। शिवेन ॥ त्वष्टा। सुदत्र इति सुऽदत्रः। वि। दधातु। रायः। अनु। मार्ष्टु। तन्वः। यत्। विलिष्टमिति विऽलिष्टम् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे । (वर्चसा) वर्चन्ते दीप्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् वेदाध्ययने, तेन । (पयसा) पयन्ते विजानन्ति सर्वान् पदार्थान् येन ज्ञानेन, तेन । (सम्) संधानार्थे । (तनूभिः) तन्यते सुखानि कर्माणि च यासु, ताभिः । (अगन्महि) प्राप्नुमः । गमधातोर्लुङि उत्तमबहुवचने मन्त्रे घसह्वरणश० (अ० २ । ४ । ८०) अनेन च्लेर्लुक् । म्वोश्च (अ० ८ । २ । ६५) अनेन मकारस्य नकारादेशः । अत्र लडर्थे लुङ् । (मनसा) मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे व्यवहारा येनान्तःकरणेन, तेन । (सम्) मिश्रीभावे । (शिवेन) सर्वसुखनिमित्तेन । (त्वष्टा) त्वक्षति तनूकरोति दुःखानि, प्रलये सर्वान् पदार्थान् छिनत्ति वा स जगदीश्वरः । (सुदत्रः) सुष्ठु सुखं ददातीति सः । (विदधातु) विधानं करोतु । (रायः) विद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रियादीनि धनानि । (अनु) पश्चादर्थे । (मार्ष्टु) शोधयतु । (तन्वः) शरीरस्य । (यत्) यावत् । (विलिष्टम्) परिपूर्णम् । अत्र विरुद्धार्थे विशब्दः ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ९ । ३ । ६ व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः—वयं यस्य कृपया वर्चसा पयसा मनसा शिवेन तनूभिश्च सह रायः समगन्महि । सः सुदत्रस्त्वष्टेश्वरः कृपयाऽस्मभ्यं रायः संविदधातु यदस्माकं तन्वो विलिष्टं तत्समनुमार्ष्टु ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वकामप्रदस्येश्वरस्याज्ञापालनसम्यक्पुरुषार्थाभ्यां विद्याध्ययनं, विज्ञानं, शरीरबलं[1] मनःशुद्धिः, कल्याणसिद्धिः, सर्वोत्तमश्रीप्राप्तिश्च सदैव कार्याः । तथा सर्वे व्यवहाराः पदार्थाश्च नित्यं शुद्धा भावनीयाः ॥ २४ ॥

पदार्थः—हम लोग पुरुषार्थी होकर (वर्चसा) जिस में सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उस वेद का पढ़ना वा (पयसा) जिससे पदार्थों को जानते हैं, उस ज्ञान (मनसा) जिस से सब व्यवहार विचारे जाते हैं, उस अन्तःकरण (शिवेन) सब सुख और (तनूभिः) जिन में विपुल सुख प्राप्त होते हैं, उन शरीरों के साथ (रायः) श्रेष्ठ विद्या और चक्रवर्त्तिराज्य आदि धनों को (समगन्महि) अच्छी प्रकार प्राप्त हों । सो (सुदत्रः) अच्छी प्रकार सुख देने और (त्वष्टा) दुःखों [का नाश] तथा प्रलय के समय सब पदार्थों को सूक्ष्म करने वाला ईश्वर कृपा करके हमारे लिये (रायः) उक्त विद्या आदि पदार्थों को (संविदधातु) अच्छी प्रकार विधान करे, और हमारे (तन्वः) शरीर की (यत्) जितनी (विलिष्टम्)

१. 'शरीरबलमनःशुद्धिः' इति पूर्वमुद्रितो लिपिकरप्रमादजः पाठः ।

व्यवहारों की सिद्धि करने की परिपूर्णता है, उसे (समनुमार्ष्टु) अच्छी प्रकार निरन्तर शुद्ध करे ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सब कामना परिपूर्ण करने वाले परमेश्वर की आज्ञा पालन करके और अच्छी प्रकार पुरुषार्थ से विद्या का अध्ययन, विज्ञान, शरीर का बल, मन की शुद्धि, कल्याण की सिद्धि तथा उत्तम से उत्तम लक्ष्मी की प्राप्ति सदैव करनी चाहिये। इस संपूर्ण यज्ञ की धारणा वा उन्नति से सब सुखों को प्राप्त होके औरों को सुख प्राप्त कराना चाहिये। तथा सब व्यवहार और पदार्थों को नित्य शुद्ध करना चाहिये ॥ २४ ॥

दिवीत्यस्य ऋषिः स एव। सर्वस्य विष्णुर्देवता। दिवीत्यारभ्य द्विष्म इत्यन्तस्य निचृदार्ची, तथाऽन्तरिक्ष इत्यारभ्य द्विष्मः पर्यन्तस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः। पृथिव्यामित्यारभ्यान्तपर्यन्तस्य जगती छन्दो निषादः स्वरश्च ॥

स यज्ञस्त्रिषु लोकेषु विस्तृतः सन् किं किं सुखं साधयतीत्युपदिश्यते—

वह यज्ञ तीनों लोक में विस्तृत होकर कौन कौन सुख का साधन होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

दिवि। विष्णुः। वि। अक्रंस्त। जागतेन। छन्दसा। ततः। निर्भक्त इति निःऽभक्तः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। अन्तरिक्षे। विष्णुः। वि। अक्रंस्त। त्रैष्टुभेन। त्रैस्तुभेनेति त्रैऽस्तुभेन। छन्दसा। ततः। निर्भक्त इति

निःऽभक्तः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। पृथिव्याम्। विष्णुः। वि। अक्रँस्त। गायत्रेण। छन्दसा। ततः। निर्भक्त इति निःऽभक्तः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। अस्मात्। अन्नात्। अस्यै। प्रतिष्ठायै। प्रतिस्थाया इति प्रतिऽस्थायै। अगन्म। स्वरिति स्वः। सम्। ज्योतिषा। अभूम॥ २५॥

पदार्थः—(दिवि) सूर्यप्रकाशे। (विष्णुः) यो वेवेष्टि व्याप्नोत्यन्तरिक्षस्थलवाय्वादिपदार्थान् स यज्ञः। यज्ञो वै विष्णुः (श० १।१।२।१३)। (वि) विविधार्थे क्रियायोगे। (अक्रँस्त) क्रमते। अत्र सर्वत्र लडर्थे लुङ्[1]। (जागतेन) जगत्येव जागतं, सर्वलोकसुखकारकं, तेन। (छन्दसा) आह्लादकारकेण। (ततः) तस्मात् द्युलोकात्। (निर्भक्तः) विभागं प्राप्तः। (यः) विरोधी। (अस्मान्) यज्ञानुष्ठातॄन् (द्वेष्टि) विरुणद्धि[2]। (यम्) शासितुं योग्यं दुष्टं प्राणिनम्। (च) पुनरर्थे। (वयम्) यज्ञक्रियानुष्ठातारः। (द्विष्मः) विरुन्ध्मः[3]। (अन्तरिक्षे) अवकाशे। (विष्णुः) यज्ञः। (वि) विविधगमने क्रियार्थे। (अक्रँस्त) गच्छति। (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभं, त्रिविधसुखहेतुस्तेन। (छन्दसा) स्वच्छन्दताप्रदेन। (ततः) तस्मादन्तरिक्षात्। (निर्भक्तः) पृथग्भूतः। (यः) दुःखप्रदः प्राणी। (अस्मान्) सर्वोपकारकान्। (द्वेष्टि) दुःखयति। (यम्) सर्वाहितकरम्। (च) समुच्चये। (वयम्) सर्वहितकारिणः। (द्विष्मः) पीडयामः। (पृथिव्याम्) विस्तृतायां भूमौ। (विष्णुः) यज्ञः। (वि) विविधसुखसाधने। (अक्रँस्त) विविधसुखप्राप्तिहेतुना क्रमते। (गायत्रेण) गायत्र्येव गायत्रं, तेन रक्षणसाधनेन[4]। (छन्दसा) आनन्दप्रदेन। (ततः) तस्मात् पृथिवीस्थानात्। (निर्भक्तः) पृथग्भूत्वाऽन्तरिक्षं गतः। (यः) अस्मद्राज्यविरोधी। (अस्मान्) न्यायाधीशान्। (द्वेष्टि) वैरायते। (यम्) शत्रुम्। (च) समुच्चये। (वयम्) राज्याधीशाः।

१. 'लङ्' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः।
२. 'विरुध्यति' इति सर्वहस्तलेखेषु पाठः। अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
३. 'विरुध्यामः' इति सर्वकोशेषु पाठः। साधुत्वमस्य परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
४. '(गायत्रेण)……साधनेन' अयमंशः खकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः।

(द्विष्मः) वैरायामहे। (अस्मात्) प्रत्यक्षाद् यज्ञशोधितात्। (अन्नात्) अत्तुं योग्यात्। (अस्यै) प्रत्यक्षं प्राप्तायै। (प्रतिष्ठायै) प्रतितिष्ठन्ति[1] सत्कारं प्राप्नुवन्ति यस्यां, तस्यै। (अगन्म) प्राप्नुयाम। (स्वः) सुखम्। स्वरिति साधारणनामसु पठितम् (निघं० १।४)। (सम्) सम्यगर्थे (ज्योतिषा) विद्याधर्मप्रकाशकारकेण संयुक्ताः। (अभूम) संगता भवेम॥ अयं मन्त्रः श० १।६।३।८—१४ व्याख्यातः॥ २५॥

अन्वयः—अस्माभिर्जागतेन छन्दसाऽनुष्ठितोऽयं विष्णुर्यज्ञो दिवि व्यक्रंस्त स पुनस्ततो निर्भक्तः सन् छन्दसा सर्वं जगत् प्रीणाति[2], योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निराकुर्मः। अस्माभिर्योऽयं [विष्णुर्] यज्ञस्त्रैष्टुभेन छन्दसाऽग्नौ प्रयोजितः सो[3]ऽन्तरिक्षे व्यक्रँस्त स पुनस्ततः स्थानान्निर्भक्तः सन् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत्सुखयति, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निवारयामः। अस्माभिर्योऽयं विष्णुर्यज्ञो गायत्रेण छन्दसा पृथिव्यामनुष्ठीयते स पृथिव्यां व्यक्रंस्त स ततो निर्भक्तः सन् पृथिवीस्थान् पदार्थान् पोषयति[4]। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निषिध्यामः[5]। वयमस्मादन्नात् स्वरगन्म। वयमनेन यज्ञेनास्यै प्रतिष्ठायै ज्योतिषा संयुक्ताः समभूम भवेम॥ २५॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यावन्ति सुगन्ध्या[6]दिगुणयुक्तानि द्रव्याण्यग्नौ प्रक्षिप्यन्ते तानि पृथक् पृथक् भूत्वा सूर्यप्रकाशे आकाशे भूमौ च विहृत्य सर्वाणि सुखानि साधयन्ति। तथा च वाय्वग्निजलपृथिव्यादीनि शिल्पविद्यासिद्धैः कलायन्त्रैर्विमानादियानेषु प्रयोज्यन्ते, तानि सूर्यप्रकाशेऽन्तरिक्षे च सर्वान् प्राणिनः सुखेन विहारयन्ति। यद् द्रव्यं सूर्यकिरणाग्निद्वारा विच्छिद्यान्तरिक्षं [गच्छति] पुनस्तदेव भुवमागत्य पुनर्भूमेः सकाशादुपरि गत्वा पुनस्तत आगच्छति, एवमेव पुनः पुनर्मनुष्यैरित्थं पुरुषार्थेन दोषदुःखशत्रून् सम्यक् निवार्य सुखं भोक्तव्यं भोजयितव्यं च। यज्ञशोधितैर्वायुजलौषध्यन्नै[7]रारोग्यबुद्धिशरीरबलवर्धनान्महत्सुखं प्राप्य विद्याप्रकाशेन नित्यं प्रतिष्ठीयताम्॥ २५॥

---

१. 'प्रतिष्ठन्ते' सर्वहस्तलेखेषु पाठः। २. 'प्रीणयति' सर्वहस्तलेखेषु पाठः।
३. 'प्रयोजितेऽन्तरिक्षे' इति पूर्वमुद्रितपाठः। कोशेषु 'प्रयोजितः सोऽन्तरिक्षे' इत्येव।
४. 'शोषयति' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः। कख-कोशयोस्तु 'पोषयति' इत्येव दृश्यते।
५. 'निषिध्यास्म' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः। ६. साधुत्वमस्य परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
७. '…जलौषध्यन्नशुद्धैरारोग्य…' इत्यपपाठः पूर्वमुद्रिते। '…जलौषधिशुद्धान्नैरारोग्य…' इति भाषानुवादानुसारी पाठो द्रष्टव्यः।

पदार्थः—(जागतेन) सब लोकों के लिये सुख देने वाले (छन्दसा) आह्लादकारक जगती छन्द से हमारा अनुष्ठान किया हुआ यह (विष्णुः) अन्तरिक्ष में ठहरने वाले पदार्थों में व्यापक यज्ञ (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (व्यक्रंस्त) जाता है, वह फिर (ततः) वहां से (निर्भक्तः) विभाग अर्थात् परमाणुरूप होके सब जगत् को तृप्त करता है। (यः) जो विरोधी शत्रु (अस्मान्) यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले हम लोगों से (द्वेष्टि) विरोध करता है, (च) तथा (यम्) दण्ड देकर शिक्षा करने योग्य जिस दुष्ट प्राणी से (वयम्) हम लोग यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं, उसको उसी यज्ञ से दूर करते हैं। हम लोगों ने जो यह (विष्णुः) यज्ञ (त्रैष्टुभेन) तीन प्रकार के सुख करने और (छन्दसा) स्वतन्त्रता देने वाले त्रिष्टुप् छन्द से अग्नि में अच्छी प्रकार संयुक्त किया है, वह (अन्तरिक्षे) आकाश में (व्यक्रंस्त) पहुंचता है, वह फिर (ततः) उस अन्तरिक्ष से (निर्भक्तः) अलग होके वायु और वर्षा जल की शुद्धि से सब संसार को सुख पहुंचाता है। (यः) जो दुःख देने वाला प्राणी (अस्मान्) सब के उपकार करने वाले हम लोगों को (द्वेष्टि) दुःख देता है, (च) तथा (यम्) सब के अहित करने वाले दुष्ट को (वयम्) हम लोग सब के हित करने वाले (द्विष्मः) पीड़ा देते हैं, उसे उक्त यज्ञ से निवारण करते हैं। हम लोगों से जो (विष्णुः) यज्ञ (गायत्रेण) संसार की रक्षा सिद्ध करने और (छन्दसा) अतिआनन्द करने वाले गायत्री छन्द से निरन्तर किया जाता है [वह] (पृथिव्याम्) विस्तारयुक्त इस पृथिवी में (व्यक्रंस्त) विविध सुखों की प्राप्ति के हेतु से विस्तृत होता है। (ततः) उस पृथिवी से (निर्भक्तः) अलग होकर [और] अन्तरिक्ष में जाकर पृथिवी के पदार्थों की पुष्टि करता है। (यः) जो पुरुष हमारे राज्य का विरोधी (अस्मान्) हम लोग जो कि न्याय करने वाले हैं, उन से (द्वेष्टि) वैर करता है (च) तथा (यम्) जिस शत्रु जन से (वयम्) हम लोग न्यायाधीश (द्विष्मः) वैर करते हैं, उसका इस उक्त यज्ञ से नित्य निषेध करते हैं। हम लोग (अस्मात्) यज्ञ से शोधा हुआ प्रत्यक्ष (अन्नात्) जो भोजन करने योग्य अन्न है, उस से (स्वः) सुखरूपी स्वर्ग को (अगन्म) प्राप्त हों, तथा (अस्यै) इस प्रत्यक्ष प्राप्त होने वाली (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा अर्थात् जिस में सत्कार को प्राप्त होते हैं, उसके लिए (ज्योतिषा) विद्या और धर्म के प्रकाश से संयुक्त (समभूम) अच्छी प्रकार हों॥ २५॥

भावार्थः—मनुष्य लोग जो जो सुगन्धि आदि [गुणयुक्त] पदार्थ अग्नि में छोड़ते हैं, वे अलग अलग होकर सूर्य के प्रकाश, आकाश तथा भूमि में फैलकर सब सुखों को सिद्ध करते हैं, तथा जो वायु, अग्नि, जल और पृथिवी

आदि पदार्थ शिल्पविद्या सिद्ध कलायन्त्रों से विमान आदि यानों में युक्त किये जाते हैं, वे सब सूर्यप्रकाश वा अन्तरिक्ष में सुख से विहार कराते हैं। जो पदार्थ सूर्य की किरण वा अग्नि के द्वारा परमाणुरूप होके अन्तरिक्ष में जाकर फिर पृथिवी पर आते हैं, फिर भूमि से अन्तरिक्ष वा वहां से भूमि को आते जाते हैं वे भी संसार को सुख देते हैं। मनुष्यों को उचित है कि इसी प्रकार बार बार पुरुषार्थ से दोष दुःख और शत्रुओं को अच्छी प्रकार निवारण करके सुख भोगना भुगवाना चाहिये तथा यज्ञ से शुद्ध वायु जल ओषधि और अन्न की शुद्धि के द्वारा आरोग्य बुद्धि और शरीर के बल की वृद्धि से अत्यन्त सुख को प्राप्त होके विद्या के प्रकाश से नित्य प्रतिष्ठा को प्राप्त होना चाहिये ॥ २५ ॥

स्वयंभूरित्यस्य ऋषिः स एव। ईश्वरो देवता। उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ सूर्यशब्देनेश्वरभौतिकार्थावुपदिश्येते[1]—

अब अगले मन्त्र में सूर्य शब्द से ईश्वर और सूर्यलोक[2] का उपदेश किया है॥

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २६॥

स्वयंभूरिति स्वयम्ऽभूः। असि। श्रेष्ठः। रश्मिः। वर्चोदा इति वर्चःऽदाः। असि। वर्चः। मे। देहि॥ सूर्यस्य। आवृतमित्याऽवृतम्। अनु। आ। वर्ते॥ २६॥

पदार्थः—(स्वयंभूः) स्वयं भवत्यनादिस्वरूपः। (असि) अस्ति वा। (श्रेष्ठः) अतिशयेन प्रशस्तः। (रश्मिः) प्रकाशकः, प्रकाशमयो वा। (वर्चोदाः) वर्चो विद्यां दीप्तिं वा ददातीति। (असि) अस्ति वा।[3]

---

१. 'ईश्वरविद्वदर्थावुपदिश्येते' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।

इदमत्र विशेषतो ज्ञेयम्—भाष्यस्य क ख ग संज्ञका ये त्रयोऽपि कोशाः सन्ति, तत्र विद्वदर्थो न क्वचिल्लिखितः। सर्वत्र ईश्वरसूर्ययोरेव वर्णनं दृश्यते। अस्माभिर्यः पाठो धृतः स हस्तलेखानुसारी वर्तते। पूर्वमुद्रितपाठोऽधस्तात् प्रदर्शयिष्यते।

२. 'और विद्वान् मनुष्य का' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।

३. 'भवसि' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।

(वर्चः) विज्ञानं, प्रकाशनं वा। (मे) मह्यम्। (देहि) ददाति वा। (सूर्यस्य) चराचरस्यात्मनो जगदीश्वरस्य सूर्यलोकस्य[1] वा। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (य० ७।४२) अनेनेश्वरस्य ग्रहणम्। सूर्य इति पदनामसु पठितम् (निघं० ५।६) इति गत्यर्थेन ज्ञानरूपत्वादीश्वरो व्यवहार-प्रापकत्वात् सूर्यलोको[2] वाऽत्र गृह्यते। (आवृतम्) समन्ताद्वर्त्तन्ते यस्मिन् तमीश्वराज्ञापालनं सूर्यप्रकाशनं[3] वा। (अनु) पश्चादर्थे। (आ) अभ्यर्थे। (वर्त्ते) स्पष्टार्थः॥ अयं मन्त्रः श० १।९।३। १५—१७ व्याख्यातः॥ २६॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! [4]त्वं श्रेष्ठो रश्मिः स्वयंभूरसि वर्चोदा असि त्वं मे वर्चो देहि। अहं सूर्यस्य तवावृतमाज्ञापालनमन्वावर्त्ते [इत्येकः]॥

तथा यः श्रेष्ठो रश्मिः स्वयम्भूः स्वयंप्रकाशोऽस्यस्ति, वर्चोदा अस्यस्ति, यो मे मह्यं विद्यां वर्चो [देहि] ददाति, तस्यास्य सूर्यस्यावृतं शिल्पविद्यायै अन्वावर्त्ते[5] [इति द्वितीयः]॥ २६॥

भावार्थः—नैव परमेश्वरस्य[6] कौचिन्मातापितरौ कदाचित् स्तः किंत्वयमेव सर्वस्य माता पिता चास्ति। तथा नैतस्मात् कश्चिदुत्तमः प्रकाशहेतुर्विद्याप्रदो वा पदार्थोऽस्ति। अतः सर्वैर्मनुष्यैरस्यैवाज्ञायामनु-वर्त्तनीयम्। तथैवायमेव सूर्यलोकः प्रकाशानां मध्येऽधिकप्रकाशो व्यवहारविद्याहेतुर्वर्ततेऽस्यैवप्रकाशं प्राप्य चन्द्रादयोऽनुप्रकाशन्ते[7]।

---

१. 'विदुषो जीवस्य वा' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
२. 'विद्वान् एवाऽत्र' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
३. 'उपदेशप्रकाशनं वा' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
४. 'हे जगदीश्वर विद्वन् वा त्वं' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
५. द्वितीयोऽयमन्वयः पूर्वमुद्रिते नास्ति।
६. 'नैव परमेश्वरस्य विदुषो वा जीवस्य' इति पूर्वमुद्रिते पाठः। अत्र पाठे विदुषो जीवस्य मातापितृसंबन्धो निराकृतः। स च चिन्त्य एव। एवमेव उत्तर वाक्ये 'अयमेव सर्वस्य माता पिता चास्ति' इत्यत्र सर्वनाम्नः पूर्वपरामर्शित्वात् विद्वान् एव परामष्टुं शक्यः। स कथं सर्वस्य माता वा पिता वा स्यात्। यदि परमेश्वरस्य ग्रहणमभिप्रेतं स्यात् तथापि पूर्वपठितस्य विदुषो जीवस्य परामर्शनं कथं प्रमाष्टुं शक्यम्। अतोऽपपाठ एव।
७. 'तथैवायमेव······ऽनुप्रकाशन्ते' इति पाठो नास्ति पूर्वमुद्रिते।

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आप[1] (श्रेष्ठः) अत्यन्त प्रशंसनीय और (रश्मिः) प्रकाशमान वा (स्वयंभूः) अपने आप होने वाले (असि) हैं, तथा (वर्चोदाः) विद्या देने वाले (असि) हैं। इसी से आप (मे) मुझे (वर्चः) विज्ञान और प्रकाश (देहि) दीजिये। मैं (सूर्यस्य) जो आप चराचर जगत् के आत्मा हैं, उनके (आवृतम्) निरन्तर सज्जन जन जिस में वर्त्तमान होते हैं, उस [आज्ञापालन रूप] उपदेश को (अन्वावर्ते) स्वीकार करके वर्तता हूं। [यह प्रथम अर्थ हुआ] ॥

तथा यह (श्रेष्ठः) अत्यन्त प्रशंसा के योग्य (रश्मिः) प्रकाशमय और (स्वयम्भूः) आप से आप प्रकाशित और (वर्चोदाः) पदार्थों का प्रकाश करने हारा (असि) है। इस से यह (मे) मुझे (वर्चः) शिल्पविद्या साधन विज्ञान को (देहि) देता है। मैं इस (सूर्यस्य) व्यवहार को सिद्ध करनेहारे सूर्य का (आवृतम्) जो कि संसार के अन्धकार को दूर करने वाला प्रकाश है, उसको (अन्वावर्ते) शिल्पविद्या के लिए यथायोग्य वर्तता हूं[2]। [यह दूसरा अर्थ हुआ] ॥ २६ ॥

भावार्थः—परमेश्वर का[3] कोई माता वा पिता नहीं है, किन्तु यही सब का माता पिता है। तथा जिस से बढ़कर कोई विज्ञान प्रकाश की विद्या देने वाला नहीं है। सब मनुष्यों को इस परमेश्वर ही की आज्ञा में वर्त्तमान होना चाहिये। वैसे ही जो सूर्यलोक भी प्रकाश[4] वाले पदार्थों में अधिक प्रकाशक[5] और व्यवहार

---

१. 'आप विद्वन् वा' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।

२. 'तथा यह……यथायोग्य वर्तता हूं' यह द्वितीय अन्वय पूर्वमुद्रित में नहीं है।

३. 'परमेश्वर और जीव का' यह पूर्वमुद्रित में पाठ है।

पूर्वमुद्रित में सूर्यपरक अर्थ जो कि तीनों हस्तलेखों में विद्यमान है, उसे न जाने किसने हटाकर विद्वान् पद बना दिया है। यह सारा नया बनाया पाठ अशुद्ध है। उत्तर वाक्य 'किन्तु यही सब का माता पिता है, में यही कौन ? सर्वनाम पूर्व निर्दिष्ट पद के बोधक होते हैं। इस नियम से 'जीव' ही का ग्रहण होगा। यदि कथंचित् परमेश्वर का ग्रहण करें भी, तो भी साथ में जीव का निर्देश अवश्य मानना पड़ेगा, छूट नहीं सकता।

४. 'जो विद्वान् भी प्रकाश' यह पूर्वमुद्रित पाठ है।

५. 'अवधिरूप और' यह पूर्वमुद्रित पाठ है।

विद्या का हेतु है इसी के प्रकाश[1] को प्राप्त होकर चन्द्रादिलोक[2] प्रकाशित होते हैं[3] ॥ २६ ॥

अग्ने गृहपत इत्यस्य ऋषिः स एव । सर्वस्याग्निर्देवता । पूर्वार्द्धे निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । उत्तरार्द्धे गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ गृहाश्रमिभिरस्यानुष्ठानेन किं किं साधनीयमित्युपदिश्यते—

गृहस्थ लोगों को इस के अनुष्ठान से क्या क्या सिद्ध करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

अग्ने॑ गृहपते सुगृहप॒तिस्त्वया॑ऽग्ने॒ऽहं गृहप॑तिना भूयासꣳ सुगृहप॒तिस्त्वं मया॑ऽग्ने गृहप॑तिना भूयाः । अ॒स्थू॒रि णौ॒ गार्ह॑पत्यानि सन्तु श॒तꣳ हिमाः॒ सूर्य॑स्या॒वृ॒तमन्वा वर्ते ॥ २७ ॥

अग्ने॑ । गृ॒ह॒प॒त॒ इति॑ गृहऽपते । सु॒गृ॒ह॒प॒तिरिति॑ सुऽगृहप॒तिः । त्वया॑ । अ॒ग्ने॒ । अ॒हम् । गृ॒हप॑ति॒नेति॑ गृ॒हऽप॑तिना । भू॒या॒स॒म् । सु॒गृ॒ह॒प॒तिरिति॑ सुऽगृहप॒तिः । त्वम् । मया॑ । अ॒ग्ने॒ । गृ॒हप॑ति॒नेति॑ गृ॒हऽप॑ति॒ना । भू॒याः ॥ अ॒स्थू॒रि । नौ॒ । गार्ह॑पत्या॒नी॒ति॒ गार्ह॑ऽपत्यानि । स॒न्तु॒ । श॒तम् । हिमाः॑ । सूर्य॑स्य । आ॒वृ॒तमित्या॒ऽवृ॒तम् । अनु॑ । आ । व॒र्ते॒ ॥ २७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा । (गृहपते) गृह्णन्ति स्थापयन्ति पदार्थान् यस्मिन् ब्रह्माण्डे शरीरे निवासार्थे वा गृहे, तस्य यः पतिः पालयिता, तत्संबुद्धौ, पालनहेतुर्वा[4] । (सुगृहपतिः)

---

१. 'जिसके उपदेश प्रकाश को' यह पूर्व मुद्रितपाठ है ।

२. 'चन्द्रादिलोक' पूर्वमुद्रित में नहीं है ।

३. इस से आगे 'वह क्यों न सेवना चाहिये, यह पूर्व मुद्रित में अधिक है ।

४. 'पालनहेतुर्वा' इति नास्ति पूर्वमुद्रिते ।

इदमवधेयम्-अस्मिन् मन्त्रेऽपि उपरिधृतः पाठः सर्वहस्तलेखेषु वर्तते । 'पूर्वमुद्रिते' इत्येनिवमधस्तान्निर्दिष्टो हस्तलेखेषु नोपलभ्यते ।

शोभनानां गृहाणां पतिः पालयिता, पालनसाधनो वा[1]। (त्वया) जगदीश्वरेणानेन अग्निना वा[2]। (अग्ने) सर्वस्वामिन् प्राप्तिसाधको वा। (अहम्) गृहस्वामी मनुष्यो यज्ञानुष्ठाता वा। (गृहपतिना) सर्वस्वामिना गृहपालकेन भौतिकेन[3] वा। (भूयासम्) स्पष्टार्थः। (सुगृहपतिः) शोभनश्चासौ गृहस्य पालकश्च सः। (त्वम्) जगदीश्वरोऽयं भौतिको[4] वा। (मया) सत्कर्मानुष्ठात्रा सह। (अग्ने) जगदीश्वर! अयं भौतिको वा[5]। (गृहपतिना) धार्मिकेण पुरुषार्थिना गृहपालकेन वा। (भूयाः) भवेः, भवति वा[6]। (अस्थूरि) तिष्ठन्ति यस्मिन्नालस्ये तत्स्थूरं, तन्निन्दितं विद्यते यस्मिन् तत्स्थूरि, न स्थूरि यथा स्यात्तथा। अत्र निन्दार्थं इनिः। (नौ) आवयोर्गृहसंबन्धिनोः स्त्रीपुरुषयोः। (गार्हपत्यानि) गृहपतिना संयुक्तानि कर्माणि। गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः (अ० ४।४।९०)। (सन्तु) भवन्तु। (शतम्) शतादधिकानि वा। (हिमाः) हेमन्तर्तवः। भूयांसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति (श० १।९।३।१९)। (सूर्यस्य) प्रत्यक्षस्य लोकस्य[7] वा। (आवृतम्) आसमन्ताद्वर्तन्तेऽहोरात्राणि[8] यस्मिन्, तं समयम्। (अनु) अनुगतार्थे। (आ) समन्तात्। (वर्त्ते) वर्त्तमानो भवेयम्॥ अयं मन्त्रः श० १।९।३।१८—२१ व्याख्यातः॥ २७॥

अन्वयः—हे गृहपतेऽग्ने जगदीश्वर! त्वं[9] सुगृहपतिरसि त्वया गृहपतिना सहाहं सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिनोपासितस्त्वं मम गृहपतिर्भूयाः। एवं नौ स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्त्वेवं वर्त्तमानोऽहं वर्त्तमाना च सूर्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्त्ते [इत्येकः]॥

अयमग्निर्विद्यया संगृहीतः सुगृहपतिर्भवति। अहमनेन सुसाधितेन गृहपतिनाग्निना सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिना संयोजितोऽयमग्निः

---

१. 'पालन साधनो वा' इति नास्ति पूर्वमुद्रिते।
२. जगदीश्वरेणानेन 'विज्ञान सुगृहस्थेन वा' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
३. 'भौतिकेन' इति नास्ति पूर्वमुद्रिते। ४. 'धार्मिको वा' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
५. 'प्रशस्तविद्य वा' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
६. 'भवति वा' इति नास्ति पूर्वमुद्रिते।
७. 'स्वप्रकाशस्येश्वरस्य विद्यान्यायप्रकाशस्य विदुषो वा' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।
८. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।
९. 'जगदीश्वर विद्वन् वा त्वं' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।

सुगृहपतिर्भवति । अनेनावयोः स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्तु। एवं प्रयत्नं कुर्वन् कुर्वती चाहं सूर्यस्यावृतं सुखेन शतं हिमा अन्वावर्ते' [इति द्वितीयः] ॥ २७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । आवां स्त्रीपुरुषौ सुपुरुषार्थिनौ भूत्वा योऽस्य सर्वेषां स्थित्यर्थस्य जगतो गृहस्य सततं रक्षको जगदीश्वरोऽस्ति[2] तमाश्रित्य भौतिकाग्न्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः स्थिरसुख-साधकानि सर्वाणि कर्माणि संसाध्य शतं वर्षाणि जीवेव, तथा जितेन्द्रियत्वभावेन शतादधिकमपि सुखेन जीवनं भुञ्ज्वहे इति ॥ २७ ॥

पदार्थः—हे (गृहपते) घर के पालन करने हारे (अग्ने) परमेश्वर[3] (त्वम्) आप (सुगृहपतिः) ब्रह्माण्ड शरीर और निवासार्थ घरों के उत्तमता से पालन करने वाले हैं, उस (गृहपतिना) उक्त गुणवाले (त्वया) आप के साथ (अहम्) मैं (सुगृहपतिः) अपने घर का उत्तमता से पालन करने हारा (भूयासम्) होऊं । हे परमेश्वर[4] । (मया) जो मैं श्रेष्ठ कर्म का अनुष्ठान करने वाला (गृहपतिना) धर्मात्मा और पुरुषार्थी मनुष्य हूं उस मुझ से, आप उपासना को प्राप्त हुए मेरे घर के पालन करने हारे (भूयाः) हूजिये । इसी प्रकार (नौ) जो हम स्त्री पुरुष घर के पति हैं, सो हमारे (गार्हपत्यानि) अर्थात् जो गृहपति के संयोग से घर के काम सिद्ध होते हैं, वे (अस्थूरि) जैसे निरालस्यता हो वैसे सिद्ध, (सन्तु) हों । इस प्रकार अपने वर्त्तमान में वर्त्तते हुए हम स्त्री वा पुरुष (सूर्यस्य) सूर्यलोक[5] के (आवृतम्) वर्त्तमान अर्थात् जिस में अच्छी प्रकार रात्रि वा दिन होते हैं, उस में (शतं हिमाः) सौ वर्ष वा सौ से अधिक भी [(अन्वावर्त्ते] वर्त्तें । [यह प्रथम अर्थ हुआ]

यह अग्नि विद्या से संग्रह किया हुआ (सुगृहपतिः) अर्थात् ठीक ठीक पूर्वोक्त घरों की रक्षा का उत्तम हेतु होता है । इस कारण मैं अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए इस (गृहपतिना) धर्म के पालन करने हारे अग्नि से (सुगृहपतिः) उत्तमता से घर का रक्षक (भूयासम्) होऊं । (मया) मुझ (गृहपतिना) घर के पालन करने हारे से शिल्पविद्या में संयुक्त किया हुआ यह अग्नि (सुगृहपतिः) घर के कामों में उत्तम गुण वाला (भूयाः) होवा है । इस अग्नि से (नौ) हम स्त्रीपुरुषों

१. द्वितीयोऽन्वयो नास्ति पूर्वमुद्रिते ।
२. 'जगदीश्वरो विद्वान् वाऽस्ति' इति पूर्वमुद्रिते पाठः ।
३. 'परमेश्वर और विद्वान्' यह पूर्वमुद्रित में पाठ है ।
४. 'हे परमेश्वर विद्वान् वा' यह पूर्वमुद्रित में पाठ है ।
५. 'आप और विद्वान् के' यह पूर्वमुद्रित में पाठ है ।

के (गार्हपत्यानि) उक्त गार्हपत्य कर्म (अस्थूरि) आलस्य को छोड़ के (सन्तु) सिद्ध होते हैं । इस प्रकार हम दोनों स्त्री पुरुष पुरुषार्थ करते हुये (सूर्यस्य) सूर्यलोक के निमित्त से सिद्ध हुए रात्रि दिनों में (शतं हिमाः) सौ वर्ष वा सौ से भी अधिक (अन्वावर्त्ते) वर्त्तें[1] [यह दूसरा अर्थ हुआ] ॥ २७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । हम दोनों स्त्री पुरुष पुरुषार्थी होकर जो इन सब पदार्थों की स्थिति के योग्य संसाररूपी घर का निरन्तर रक्षा करने वाला जगदीश्वर है,[2] उसका आश्रय करके भौतिक अग्नि आदि पदार्थों से स्थिर सुख करने वाले सब काम सिद्ध करते हुए सौ वर्ष जीवें तथा जितेन्द्रियता से सौ वर्ष से अधिक भी सुखपूर्वक जीवन भोगें ॥ २७ ॥

अग्ने व्रतपत इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ यत्सत्याचरणेन सुखं भवेत् तदुपदिश्यते—

अब जो सत्याचरण से सुख होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि ॥ २८ ॥

अग्ने । व्रतपत इति व्रतऽपते । व्रतम् । अचारिषम् । तत् । अशकम् । तत् । मे । अराधि । इदम् । अहम् । यः । एव । अस्मि । सः । अस्मि ॥ २८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) सत्यस्वरूपेश्वर ! (व्रतपते) व्रतं नियतं यन्न्याय्यं कर्म, तत्पतिस्तत्संबुद्धौ । (व्रतम्) सत्यलक्षणम् । (अचारिषम्) चरितवान् । (तत्) पूर्वोक्तम् । (अशकम्) शक्तवान् । (तत्) मया चरितुं योग्यम् । (मे) मम । (अराधि) संसाधितम् । (इदम्) प्रत्यक्षमाचरितुमहं मनुष्यः । (यः) यादृशकर्मकारी । (एव) निश्चयार्थे । (अस्मि) भवामि[3] । (सः) तादृशकर्मभोजी । (अस्मि) भवामि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ९ । ३ । २२—२३ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

---

१. यह दूसरा अर्थ पूर्वमुद्रित में नहीं है ।

२. 'जगदीश्वर और विद्वान् है' यह पूर्वमुद्रित में पाठ है ।

३. 'भवामि' सर्वकोशेषु पाठः । 'वर्त्ते' इति पूर्वमुद्रिते पाठः ।

अन्वयः—हे व्रतपतेऽग्ने! भवता कृपया [मे] मदर्थं यद्व्रतमराधि तदहमंशकमचारिषम्। [इदम्] यन्मयाऽराधि तदेवाहं भुञ्जे, योऽहं यादृशकर्मकार्य्यस्मि सोऽहं तादृशफलभोग्यस्मि भवामि ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरेदं निश्चेतव्यं, मयेदानीं यादृशं कर्म क्रियते, तादृशमेवेश्वरव्यवस्थया फलं भुज्यते, भोक्ष्यते च। नहि कश्चिदपि जीवः स्वकर्मविरुद्धं फलमधिकं न्यूनं वा प्राप्तुं शक्नोति। तस्मात् सुखभोगाय धर्म्याण्येव कर्माणि कार्याणि, यतो नैव कदाचिद् दुःखानि स्युरिति ॥ २८ ॥

पदार्थः—हे (व्रतपते) न्याययुक्त नियत कर्मं के पालन करने हारे (अग्ने) सत्यस्वरूप परमेश्वर! आपने जो कृपा करके (मे) मेरे लिये (व्रतम्) सत्यलक्षण आदि प्रसिद्ध नियमों से युक्त सत्याचरण व्रत को (अराधि) अच्छी प्रकार सिद्ध किया है, (तत्) उस अपने आचरण करने योग्य सत्य नियम को (अशकम्) जिस प्रकार मैं करने को समर्थ हुआ हूं[1] (अचारिषम्) अर्थात् उसका आचरण अच्छी प्रकार कर सका हूं,[2] वैसा मुझ को कीजिये। [(इदम्)] जो मैंने उत्तम वा अधम कर्म किया है (तदेवाहम्) उसी को भोगता हूं अब भी (यः) जो मैं जैसा कर्म करने वाला (अस्मि) हूं, वैसे कर्म के फल भोगने वाला (अस्मि) होता हूं ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्य को यही निश्चय करना चाहिये कि मैं अब जैसा कर्म करता हूं वैसा ही परमेश्वर की व्यवस्था से फल भोगता हूं, और भोगूँगा। सब प्राणी अपने कर्म से विरुद्ध [न्यून अथवा अधिक] फल को कभी नहीं प्राप्त होते। इससे सुख भोगने के लिये धर्मयुक्त कर्म ही करने चाहिये कि जिससे कभी दुःख नहीं हो ॥ २८ ॥

अग्नय इत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। स्वराडार्षी अनुष्टुप् छन्दः। गान्धार स्वरः ॥

अथ भौतिकावग्नीषोमौ कीदृशगुणौ वर्त्तेते इत्युपदिश्यते—

अब संसारी अग्नि और चन्द्रमा कैसे गुण वाले हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा। अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः ॥ २९ ॥

---

१. 'होऊं' यह पूर्वमुद्रित पाठ है। २. 'सकूं' यह पूर्वमुद्रित पाठ है।

अग्नये । कुव्युवाहनायेति कव्यऽवाहनाय । स्वाहा । सोमाय । पितृमत इति पितृऽमते । स्वाहा ॥ अपहता इत्यपऽहताः । असुराः । रक्षांसि । वेदिषदः । वेदिसद इति वेदिऽसदः ॥ २९ ॥

पदार्थः—(अग्नये) अञ्चति सर्वान् पदार्थान् दग्ध्वा देशान्तरे प्रापयति, तस्मै । (कव्यवाहनाय) कुवन्ति शब्दयन्ति सर्वा विद्या ये ते कवयः, क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञाश्च, तेभ्यो हितानि कर्माणि कव्यानि, तानि यो वहति प्रापयति, तस्मै । (स्वाहा) सुष्ठु आह यस्यां, सा । (सोमाय) सुवन्त्यैश्वर्याणि प्राप्नुवन्ति यस्मिन् संसारे, तस्मै । (पितृमते) पितर ऋतवो नित्ययुक्ता विद्यन्ते यस्मिन्, तस्मै । अत्र नित्ययोगे मतुप् । ऋतवः पितरः (श० २ । ४ । २ । २४) । (स्वाहा) स्वं दधात्यनया, सा स्वाहा क्रिया । (अपहताः) अपहिंसिताः । (असुराः) अविद्वांसो दुष्टस्वभावाः प्राणिनः । (रक्षांसि) परपीडकाः, स्वार्थिनः । (वेदिषदः) ये वेद्यां पृथिव्यां सीदन्ति, ते । यावती वेदिस्तावती पृथिवी (श० १ । २ । ५ । ७) ॥ अयं मन्त्रः श० २ । ४ । २ । १२—१३ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः कव्यवाहनायाग्नये स्वाहा पितृमते सोमाय स्वाहा विधाय ये वेदिषदो रक्षांस्यसुराश्च ते नित्यमपहताः कार्याः ॥ २९ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्युक्त्या संयोजितोऽयमग्निः शिल्पिनां कार्याणि वहति, येन संसारस्योपकारेण सामयिकं सुखं पृथिवीस्थानां दुष्टानां दोषाणां च निवृत्तिः स्याद् अयं प्रयत्नो नित्यं विधेय इति ॥ २९ ॥

पदार्थः—मनुष्यों को उचित है कि (कव्यवाहनाय) विद्वानों को हित कर्मों की प्राप्ति कराने तथा (अग्नये) सब पदार्थों को अपने आप एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचाने वाले भौतिक अग्नि का ग्रहण करके सुख के लिये (स्वाहा) वेदवाणी से [व्यवहार करें । तथा] (पितृमते) जिस में वसन्त आदि ऋतु पालन के हेतु होने से पितर संयुक्त होते हैं, (सोमाय) जिन में ऐश्वर्यों को प्राप्त होते हैं, उस के लिए (स्वाहा) अपने पदार्थों को धारण करने वाले धर्म से युक्त विधान करके जो (वेदिषदः) इस पृथिवी में रमण करने वाले (रक्षांसि) औरों को दुःखदायी स्वार्थीजन तथा (असुराः) दुष्ट स्वभाव वाले मूर्ख हैं, उनको (अपहताः) विनष्ट कर देना चाहिये ॥ २९ ॥

भावार्थः—विद्वानों से युक्ति के साथ शिल्पविद्या में संयुक्त किया हुआ यह अग्नि उनके लिये उत्तम उत्तम कार्यों की प्राप्ति करने वाला होता है । मनुष्यों को

यह यत्न नित्य करना चाहिये कि जिस से संसार के उपकार से सब सुख और पृथिवी के दुष्टजन वा दोषों की निवृत्ति हो जाय ॥ २९ ॥

ये रूपाणीत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

कीदृग्लक्षणास्तेऽसुरा भवन्तीत्युपदिश्यते—

उक्त असुर कैसे लक्षणों वाले होते हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्र णुदात्यस्मात्॥ ३०॥

ये। रूपाणि। प्रतिमुञ्चमाना इति प्रतिऽमुञ्चमानाः। असुराः। सन्तः। स्वधया। चरन्ति॥ परापुर इति पराऽपुरः। निपुर इति निऽपुरः। ये। भरन्ति। अग्निः। तान्। लोकात्। प्र। नुदाति। अस्मात्॥ ३०॥

पदार्थः—(ये) मनुष्याः। (रूपाणि) अन्तःस्थानि ज्ञानमध्ये यादृशानि ज्ञानानि सन्ति तानि। (प्रतिमुञ्चमानाः) आभिमुख्यं ये प्रतीतं मुञ्चन्ते त्यज्यन्ति, ते। (असुराः) धर्माच्छादकाः। (सन्तः) वर्त्तमानाः। (स्वधया) पृथिव्या सह। स्वधे इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् (निघं० ३। ३०)। (चरन्ति) वर्तन्ते। (परापुरः) परागतानि स्वसुखार्थान्यधर्मकार्याणि पिपुरति, ते। (निपुरः) निकृष्टान् दुष्टस्वभावान् पिपुरति पूरयन्ति, ते। पृ पालनपूरणयोरित्यस्यैव द्वाविमौ प्रयोगौ,[1] अत्रोभयत्र क्विप्। (ये) स्वार्थसाधनतत्पराः। (भरन्ति) अन्यायेन परपदार्थान् धरन्ति। (अग्निः) जगदीश्वरः। युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम् (अ० ८। ३। १०३) अनेन मूर्द्धन्यादेशः।[2] (तान्) दुष्टान्। (लोकात्) स्थानादस्मद्दर्शनाद्वा। (प्रणुदाति) दूरीकरोतु। (अस्मात्) प्रत्यक्षात्॥ अयं मन्त्रः श० २। ४। २। १४—१८ व्याख्यातः॥ ३०॥

---

१. 'पृ......प्रयोगौ' अयं पाठः स्वकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः।
२. संहितायामिति शेषः।

अन्वयः—अग्निरीश्वरो ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ये च परापुरो निपुरः सन्तोऽन्यायेन परपदार्थान् भरन्ति धरन्ति, तानस्माल्लोकात् प्रणुदाति दूरीकरोतु ॥ ३० ॥

भावार्थः—ये दुष्टा मनुष्या मनोदेहवाग्भिर्मिथ्या चरित्वा पृथिव्यामन्यायेनान्यान् प्राणिनः पीडयित्वा स्वसुखाय परपदार्थान् सञ्चिन्वन्ति। ईश्वरस्तान् दुःखयुक्तान् मनुष्येतरनीचशरीरधारिणः कृत्वा येषु[1] पापफलानि भुक्त्वा[2] पुनर्मनुष्यदेहधारणे योग्यान् करोति। अतो मनुष्यैरीदृशेभ्यो मनुष्येभ्यः पापकर्मभ्यो वा पृथक् स्थित्वा सदैव धर्म एव सेवनीय इति ॥ ३० ॥

पदार्थः—(ये) जो दुष्ट मनुष्य (रूपाणि) ज्ञान के अनुकूल अपने अन्तःकरणों में विचारे हुए भावों को (प्रतिमुञ्चमानाः) दूसरे के सामने छिपा कर विपरीत भावों के प्रकाश करने हारे (असुराः) धर्म को ढांपते (सन्तः) हुवे (स्वधया) पृथिवी में जहां तहां (चरन्ति) जाते आते हैं, तथा [(ये)] जो (परापुरः) संसार से उलटे अपने सुखकारी कामों को नित्य सिद्ध करने के लिये यत्न करने और (निपुरः) दुष्ट स्वभावों को परिपूर्ण करने वाले (सन्तः) होते हुए अन्याय से औरों के पदार्थों को [(भरन्ति)] धारण करते हैं, (तान्) उन दुष्टों को (अग्निः) जगदीश्वर (अस्मात्) इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष [(लोकात्)] लोक से (प्रणुदाति) दूर करे ॥ ३० ॥

भावार्थः—जो दुष्ट मनुष्य अपने मन, वचन और शरीर से झूंठे आचरण करते हुए अन्याय से अन्य प्राणियों को पीड़ा देकर अपने सुख के लिये औरों के पदार्थों को ग्रहण कर लेते हैं, ईश्वर उन को दुःखयुक्त करता है और नीच योनियों में जन्म देता है कि वे अपने पापों के फलों को भोग के फिर भी मनुष्य देह के योग्य होते हैं। इस से सब मनुष्यों को योग्य है कि ऐसे दुष्ट मनुष्यों वा पापों से बचकर सदैव धर्म का ही सेवन किया करें ॥ ३० ॥

अत्र पितर इत्यस्यर्षिः स एव। पितरो देवताः। बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्धार्मिका ज्ञानिनो विद्वांसः कथं सत्कर्तव्या इत्युपदिश्यते—

मनुष्य लोगों को धर्मात्मा ज्ञानी विद्वान् पुरुषों का कैसा सत्कार करना योग्य है, सो अगले मन्त्र में कहा है ॥

---

१. 'तेषु' इत्यर्थः। द्र० दशपाद्युणादिवृत्तिः (६। ४३)।

२. 'भोजयित्वा' इत्यर्थः। अन्तर्भावित ण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः।

अत्र॑ पि॒तरो॑ मादयध्वं यथाभा॒गमा वृ॑षायध्वम्।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत ॥ ३१ ॥

अत्र॑। पि॒तरः॑। मा॒द॒य॒ध्व॒म्। य॒था॒भा॒गमिति॑ यथाऽभा॒गम्। आ। वृ॒षा॒य॒ध्व॒म्। वृ॒ष॒य॒ध्व॒मिति॑ वृषऽयध्वम् ॥ अमी॑मदन्त। पि॒तरः॑। य॒था॒भा॒गमिति॑ यथाऽभा॒गम्। आ। अ॒वृ॒षा॒यि॒ष॒त ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(अत्र) अस्माकं सत्कारसंयुक्ते व्यवहारे स्थाने वा। (पितरः) पान्ति पालयन्ति सद्विद्याशिक्षाभ्यां ये ते, तत्संबुद्धौ। (मादयध्वम्) हर्षयध्वम्। (यथाभागम्) भागमनतिक्रम्य कुर्वन्तीति यथाभागम्। (आ) समन्तात्। (वृषायध्वम्) आनन्दसेक्तारो वृषा इवाचरत। कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च (अ० ३। १। ११) अनेन क्यङ् प्रत्ययः। (अमीमदन्त) आनन्दयतास्मान्, मोदयत, विद्यां ज्ञापयत वा। (पितरः) विद्वांसो विद्यादानेन रक्षकाः। (यथाभागम्) भागं भागं प्रतीति यथाभागम्। अत्र वीप्सार्थे यथा[1]। (आ) आभिमुख्यतया (अवृषायिषत) विद्याधर्मशिक्षया हर्षकारका भवत। लोडर्थे लुङ् अयं मन्त्रः श० २। ४। २। १६—२३ व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे पितरो ! यूयमत्र यथाभागमावृषायध्वम्। मादयध्वमस्मान् [पितरः] यथाभागमावृषायिषतामीमदन्तास्मान् हर्षयत ॥ ३१ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—मातापित्रादीन् विदुषोऽध्यापकान् धार्मिकान् पितॄन् समीपस्थान् आगच्छतश्च दृष्ट्वैवं वाच्यं सेवनं च कार्यम्—हे अस्मत्पितरो ! यूयं स्वागतमागच्छतास्मद्विषये यथायोग्यान्[2] भोगानासनादींश्चेमानस्मद्दत्तान् स्वीकृत्य सुखयत। यद्यदाऽवश्यकं युष्माकमिष्टं वस्त्वस्माभिरानेतुं योग्यं तदाज्ञापयत। एवमत्राऽस्माभिः सत्कृताः सन्तो भवन्तः प्रश्नोत्तरविधानेनाऽस्मान् स्थूलसूक्ष्मविद्या-धर्मोपदेशेन यथावद् वर्द्धयन्तु। युष्मद्वर्द्धिता वयं नित्यं सत्क्रियाः कृत्वाऽन्यैः कारयित्वा च सर्वेषां प्राणिनां सुखविद्योन्नतीः नित्यं कुर्यामेति ॥ ३१ ॥

पदार्थः—हे (पितरः) उत्तम विद्या वा उत्तम शिक्षाओं और विद्या दान से पालन करने वाले विद्वान् लोगो ! (अत्र) हमारे सत्कारयुक्त व्यवहार अथवा

१. 'प्रतिः' इत्यपपाठः पूर्वमुद्रिते। २. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

स्थान में (यथाभागम्) यथायोग्य पदार्थों के विभाग को (आवृषायध्वम्) अच्छी प्रकार जैसे कि आनन्द देने वाले बैल अपनी घास को चरते हैं, वैसे पाओ, और (मादयध्वम्) आनन्दित भी होवो, तथा [(पितरः)] आप हम लोगों के जिस प्रकार (यथाभागम्) यथायोग्य अपनी अपनी बुद्धि के अनुकूल विभाग को प्राप्त हों वैसे (आवृषायिषत) विद्या और धर्म की शिक्षा करने वाले होवो, और (अमीमदन्त) सब को आनन्द दो ॥ ३१ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य लोग माता और पिता आदि धार्मिक सज्जन विद्वानों को समीप आये हुए देखकर उनकी सेवा करें, प्रार्थनापूर्वक वाक्य कहें कि हे पितरो ! आप लोगों का आना हमारे उत्तम भाग्य से होता है सो आओ और जो अपने व्यवहार में, यथायोग्य भोग और आसन आदि पदार्थों को हम देते हैं, उनको स्वीकार करके सुख को प्राप्त होवो, तथा जो जो आप के प्रिय पदार्थ हमारे लाने योग्य हों उस उस की आज्ञा दीजिये, क्योंकि सत्कार को प्राप्त होकर आप प्रश्नोत्तर विधान से हम लोगों को स्थूल और सूक्ष्म विद्या वा धर्म के उपदेश से यथावत् वृद्धियुक्त कीजिये। आप से वृद्धि को प्राप्त हुए हम लोग अच्छे अच्छे कामों को करके तथा औरों से अच्छे काम कराके सब प्राणियों का सुख और विद्या की उन्नति नित्य करें ॥ ३१ ॥

नमो व इत्यस्यर्षिः स एव। पितरो देवताः। मन्यवे पर्य्यन्तस्य ब्राह्मी बृहती। अग्रे निचृद् बृहती च छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

अथ कथं किमर्थोऽयं पितृयज्ञः क्रियत इत्युपदिश्यते—

अब पितृयज्ञ किस प्रकार से और किस प्रयोजन के लिये किया जाता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पितरो॒ नमो॑ वो गृ॒हान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो दे॒ष्मैतद्वः॑ पितरो॒ वास॑ः ॥ ३२ ॥

नम॑ः। व॒ः। पि॒त॒रः॒। रसा॑य। नम॑ः। व॒ः। पि॒त॒रः॒। शोषा॑य। नम॑ः। व॒ः। पि॒त॒रः॒। जी॒वाय॑। नम॑ः। व॒ः। पि॒त॒रः॒। स्व॒धायै॑। नम॑ः। व॒ः। पि॒त॒रः॒। घो॒राय॑। नम॑ः। व॒ः। पि॒त॒रः॒। म॒न्यवे॑।

नमः । वः । पितरः । पितरः । नमः । वः । गृहान् । नः । पितरः । दत्त । सतः । वः । पितरः । देष्म । एतत् । वः । पितरः । वासः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(नमः) नम्रीभावे । यज्ञो नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति (श० २ । ४ । २ । २४) । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) विद्यानन्ददायकास्तत्संबुद्धौ । (रसाय) रसभूताय विज्ञानानन्दप्रापणाय । (नमः) आर्द्रीभावे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) दुःखनाशकत्वेन रक्षकास्तत्संबुद्धौ । (शोषाय) दुःखानां शत्रूणां वा निवारणाय । (नमः) निरभिमानार्थे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) धर्म्यजीविकाज्ञापकास्तत्संबुद्धौ । (जीवाय) जीवति प्राणं धारयति, प्राणधारणेन समर्थो भवति यस्मिन्नायुषि, तस्मै । (नमः) शीलधारणार्थे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) अन्नभोगादिविद्याशिक्षकास्तत्संबुद्धौ । (स्वधायै) अन्नाय, पृथिवीराज्याय, न्यायप्रकाशाय वा । स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २ । ७), स्वधे इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् (निघं० ३ । ३०) । (नमः) नम्रत्वधारणे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) पापापत्कालनिवारकास्तत्संबुद्धौ । (घोराय) हन्यन्ते सुखानि यस्मिन् तद् घोरं, तन्निवारणाय । हन्तेरच् घुर च (उ० ५ । ६४) अनेन घोर इति सिद्धयति । (नमः) क्रोधत्यागे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) श्रेष्ठानां पालका दुष्टेषु क्रोधकारिणस्तत्संबुद्धौ । (मन्यवे) मन्यन्तेऽभिमानं कुर्वन्ति यस्मिन् स मन्युः क्रोधो दुष्टाचरणेषु दुष्टेषु, तद्भावनाय । यजिमनि० (उ० ३ । २०) अनेन मन्यतेर्युच् प्रत्ययः । (नमः) सत्कारे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) प्रीत्या पालकास्तत्संबुद्धौ । (पितरः) ज्ञानिनस्तत्संबुद्धौ ।[1] (नमः) ज्ञानग्रहणार्थे । (नः) युष्मभ्यम् । (गृहान्)[2] गृह्णन्ति विद्यादिपदार्थान् येषु, तान् । (नः) अस्मभ्यमस्माकं वा । (पितरः) विद्यादातारस्तत्संबुद्धौ । (दत्त) तत्तद्दानं कुरुत । (सतः) विद्यमानानुत्तमान् पदार्थान् । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) जनकादयस्तत्संबुद्धौ । (देष्म) देयास्म । डुदाञ् इत्यस्मादाशीर्लिङ्युत्तमबहुवचने लिङ्याशिष्यङ् [अ० ३ । १ । ८६] इत्यङ्, छन्दस्युभयथा [अ० ३ । ४ । ११७] इति मस आर्द्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य सकारलोपाभावः, सार्व-

१. '(पितरः) ज्ञानिनस्तत्सम्बुद्धौ' इति पूर्वंमुद्रिते प्रमादात् परित्यक्तम् ।
२. '(गृहान्)' इति पूर्वंमुद्रिते प्रमादात् परित्यक्तम् ।

धातुकसंज्ञामाश्रित्यातो येय [अ० ७ । २ । ८०] इतीयादेशश्च । (एतत्) अस्मद्दत्तम् । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) सेवितुं योग्यास्तत्संबुद्धौ । (वासः)[1] वसते आच्छादयन्ते शरीरं येन तद्वस्त्रादिकम् ॥ अयं मन्त्रः श० २ । ४ । २ । २४ व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे पितरो रसाय वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु । हे पितरः शोषाय वो नमोऽस्तु । हे पितरो जीवाय वो नमोऽस्तु । हे पितरः स्वधायै वो नमोऽस्तु । हे पितरो घोराय वो नमोऽस्तु । हे पितरो मन्यवे वो नमोऽस्तु । हे पितरो विद्यायै वो नमोऽस्तु । हे पितरः सत्काराय वो नमोऽस्तु । [हे पितरः] यूयं [नः] अस्माकं [गृहान्] गृहाणि नित्यमागच्छत । आगत्य च शिक्षाविद्ये नित्यं दत्त । हे पितरो वयं वो युष्मभ्यं सतः पदार्थान् नित्यं देष्म । हे पितरो यूयमस्माभिः [वो युष्मभ्यम्] एतद्दत्तं वासो वस्त्रादिकं स्वीकुरुत ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अत्रानेके नम शब्दा अनेकशुभगुणसत्कारद्योतनार्थाः । यथा वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराः षड्तवो रसशोषजीवान्नघनत्व-मन्यूत्पादका भवन्ति, तथैव ये पितरोऽनेकविद्योपदेशैर्मनुष्यान् सततं प्रीणयन्ति, तानुत्तमैः पदार्थैः सत्कृत्य तेभ्यः सततं विद्योपदेशा ग्राह्याः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—हे (पितरः) विद्या के आनन्द को देने वाले विद्वान् लोगो ! (रसाय) विज्ञानरूपी आनन्द की प्राप्ति के लिये (वः) तुम को हमारा (नमः) नमस्कार हो । हे (पितरः) दुःख का विनाश और रक्षा करने वाले विद्वानो ! (शोषाय) दुःख और शत्रुओं की निवृत्ति के लिये (वः) तुम को हमारा (नमः) नमस्कार हो । हे (पितरः) धर्मयुक्त जीविका के ज्ञान कराने वाले विद्वानो ! (जीवाय) जिससे प्राण का स्थिर धारण होता है, उस जीविका के लिये (वः) तुम को हमारा (नमः) शील धारण विदित हो । हे (पितरः) विद्या अन्न आदि भोगों की शिक्षा करने हारे विद्वानो ! (स्वधायै) अन्न पृथिवी राज्य और न्याय के प्रकाश के लिये (वः) तुम को हमारा (नमः) नम्रीभाव विदित हो । हे (पितरः) पाप और आपत्कालके निवारक विद्वान् लोगो ! (घोराय) सुखविनाशक दुःख[2] समूहकी निवृत्तिके लिये (वः) तुमको हमारा (नमः) क्रोधका छोड़ना विदित हो । हे (पितरः) श्रेष्ठों के पालन करने हारे विद्वानो ! (मन्यवे) दुष्टाचरण

१. '(वासः)' इति गकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तमतएव पूर्वमुद्रिते नोपलभ्यते । २. 'दुःखविनाशक' इत्यपपाठः ।

करने वाले दुष्ट जीवों पर क्रोध करने के लिये (वः) तुम को हमारा (नमः) सत्कार विदित हो। हे (पितरः) ज्ञानी विद्वानो ! (वः) तुम को विद्या के लिये (नमः) हमारी विज्ञानग्रहण करने की इच्छा विदित हो। हे (पितरः) प्रीति के साथ रक्षा करने वाले विद्वानो ! (वः) तुम्हारे सत्कार होने के लिये हमारा (नमः) सत्कार करना तुम को विदित हो। आप लोग (नः) हमारे (गृहान्) घरों में नित्य आओ और आके रहो। हे (पितरः) विद्या देने वाले विद्वानो ! हमारे लिये शिक्षा और विद्या नित्य (दत्त) देते रहो। हे पिता माता आदि विद्वान् पुरुषो ! हम लोग (वः) तुम्हारे लिये जो जो (सतः) विद्यमान पदार्थ हैं, वे नित्य (देष्म) देवें। हे (पितरः) सेवा करने योग्य पितृ लोगो ! आप [(वः) आप के लिये] हमारे दिये [एतद्] इन वासः) वस्त्रादि को ग्रहण कीजिये ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में अनेक वार 'नमः' यह पद अनेक शुभगुण और सत्कार के प्रकाश करने के लिये धरा है। जैसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये छः ऋतु रस, शोष, जीव, अन्न, कठिनता, और क्रोध के उत्पन्न करने वाले होते हैं, वैसे ही पितर भी अनेक विद्याओं के उपदेश से मनुष्यों को निरन्तर सुख देते हैं। इससे मनुष्यों को चाहिये कि उक्त पितरों को उत्तम उत्तम पदार्थों से संतुष्ट करके उनसे विद्या के उपदेश का निरन्तर ग्रहण करें ॥ ३२ ॥

आधत्त इत्यस्य ऋषिः स एव। पितरो देवताः। [निचृद्] गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

तैः किं किं कर्तव्यमित्युपदिश्यते—

उक्त पितरों को क्या क्या करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

आ धत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ३३ ॥

आ। धत्त। पितरः। गर्भम्। कुमारम्। पुष्करस्रजमिति पुष्करऽस्रजम्। यथा। इह। पुरुषः। असत् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात्। (धत्त) धारयत। (पितरः) ये पान्ति विद्यान्नादिदानेन, तत्संबुद्धौ। (गर्भम्) गर्भमिव। (कुमारम्) ब्रह्मचारिणम्। (पुष्करस्रजम्) विद्याग्रहणार्था स्रग् धारिता येन, तम्। (यथा) येन प्रकारेण। (इह) अस्मिन् संसारेऽस्मत्कुले वा।

(पुरुषः) विद्यापुरुषार्थयुक्तोऽयं मनुष्यः। (असत्) भवेत्। लेटः प्रयोगोऽयम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे पितरो ! यूयं यथायं ब्रह्मचारीह शरीरात्मबलं प्राप्य पुरुषोऽसद् भवेत्,[1] तथैव गर्भमिव पुष्करस्रजं कुमारं विद्यार्थिनामाधत्त धारयत ॥ ३३ ॥

भावार्थः—अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। ईश्वर आज्ञापयति—विद्वद्भिर्विदुषीभिश्च विद्यार्थिनः कुमारा विद्यार्थिन्यः कुमार्य्यश्च विद्यादानाय गर्भवद्धार्य्याः। यथा गर्भे देहः क्रमेण वर्धते, तथैव सुशिक्षयैत[2] एताश्च सद्विद्यायां वर्धयितव्याः पालनीयाश्च। यतो विद्यायोगेन धार्मिकाः पुरुषार्थयुक्ता भूत्वा सदैव सुखयुक्ता भवेयुरित्येतत्सदैवानुष्ठेयमिति ॥ ३३ ॥

पदार्थः—हे (पितरः) विद्यादान से रक्षा करने वाले विद्वान् पुरुषो ! आप (यथा) जैसे यह ब्रह्मचारी (इह) इस संसार वा हमारे कुल में अपने शरीर और आत्मा के बल को प्राप्त होके विद्या और पुरुषार्थयुक्त [(पुरुषः)] मनुष्य (असत्) हो, वैसे (गर्भम्) गर्भ के समान (पुष्करस्रजम्) विद्या ग्रहण के लिये फूलों की माला धारण किये हुये (कुमारम्) ब्रह्मचारी को (आधत्त) अच्छी प्रकार स्वीकार कीजिये ॥ ३३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिये कि विद्यार्थी कुमार वा कुमारी को विद्या देने के लिये गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रम क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है वैसे अध्यापक लोगों को चाहिये कि अच्छी अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा पालना करें। वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों, यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिये ॥ ३३ ॥

ऊर्जमित्यस्यर्षिः स एव। आपो देवताः। भुरिगुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

एते पितरः केन केन पदार्थेन सत्कर्तव्या इत्युपदिश्यते—

उक्त पितर किन किन पदार्थों से सत्कार करने योग्य हैं, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

---

१. 'पुरुषवद् भवति' इति खगकोशयोः पूर्वमुद्रिते च। स च खकोशप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादान्मिथ्या लिखित इति भाति। २. 'सुशिक्षयैव' पूर्वमुद्रितः पाठः।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥

ऊर्जम्। वहन्तीः। अमृतम्। घृतम्। पयः। कीलालम्। परिस्रुतमिति परिऽस्रुतम् ॥ स्वधाः। स्थ। तर्पयत। मे। पितॄन् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(ऊर्जम्) इष्टं विविधं रसम्। ऊर्ग्रसः (श० १। ७। १। २)। (वहन्तीः) प्रापयन्तीः स्वादिष्ठा आपः। (अमृतम्) सर्वरोगहरं सुरसं मिष्टादिकम्। (घृतम्) आज्यम्। (पयः) दुग्धम्। (कीलालम्) सुसंस्कृतमन्नम्। कीलालम् इत्यन्ननामसु पठितम् (निघं० २। ७)। (परिस्रुतम्) परितः सर्वतः स्रुतं, सुरसयोगेन परिपक्वं फलादिकम्। (स्वधाः) ये स्वमेव दधते, ते। (स्थ) सर्वे पितृसेविनो भवत। (तर्पयत) सुखयत। (मे) मम। (पितॄन्) पूर्वोक्तान् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे पुत्रादयो! यूयं मे मम पितॄनूर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं दत्त्वा तर्पयतैवं तत्सेवनेन विद्याः प्राप्य स्वधाः स्थ परस्वत्यागेन सदा स्वसेविनो भवत ॥ ३४ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—मनुष्याः सर्वान् पुत्रप्रभृतीन् प्रत्येवमादिशन्तु, युष्माभिर्मम पितरो जनका विद्याप्रदाश्च प्रीत्या नित्यं सेवनीयाः। यथा तैर्बाल्यावस्थायां विद्याप्रदानसमये च वयं यूयं च पालितास्तथैवास्माभिरपि ते सर्वदा सर्वथा सत्कर्तव्याः। यतो नैवाऽस्माकं मध्ये कदाचिद् विद्यानाशकृतघ्न[ता]दोषौ भवेतामिति ॥ ३४ ॥

ईश्वरेण यद्यदस्मिन्नध्याये वेद्यादिरचनं, यज्ञस्य फलगमनसाधकानि, सामग्रीधारणम्, अग्नेर्दूतत्वप्रकाशनम्, आत्मेन्द्रियादिशोधनं, सुखभोगो, वेदप्रकाशनं, पुरुषार्थसाधनं, युद्धे विजयकरणं, शत्रुनिवारणं, द्वेषत्यागोऽग्न्यादीनां यानेषु योजनं, पृथिव्यादिभ्य उपकारग्रहणम्, ईश्वरे प्रीतिर्दिव्यगुणविस्तरणं, सर्वरक्षणं, वेदशब्दार्थवर्णनं, वाय्वग्न्यादीनां परस्परमेलनं, पुरुषार्थग्रहणम्, उत्तमानां पदार्थानां स्वीकरणं, त्रिषु लोकेषु यज्ञाहुतद्रव्यस्य गमनं, पुनस्तस्मादागमनं, स्वयंभूशब्दार्थवर्णनं, गृहस्थकृत्यं, सत्याचरणम्, अग्नौ होमो, दुष्टानां निवारणं, पितॄणां सेवनं चोक्तं, तत्तन्मनुष्यैः संप्रीत्या सेवनीयमिति प्रथमाध्यायार्थेन सहास्य द्वितीयाध्यायार्थस्य संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे पुत्रादिको ! तुम (मे) मेरे (पितॄन्) पूर्वोक्त गुण वाले पितरों को (ऊर्जम्) अनेक प्रकार के उत्तम उत्तम रस (वहन्तीः) सुख प्राप्त करने वाले स्वादिष्ठ जल (अमृतम्) सब रोगों को दूर करने वाले ओषधि मिष्टादिपदार्थ (पयः) दूध (घृतम्) घी (कीलालम्) उत्तम उत्तम रीति से पकाया हुआ अन्न तथा (परिस्रुतम्) रस से चूते हुए पके फलों को देके (तर्पयत) तृप्त करो। इस प्रकार तुम उनके सेवन से विद्या को प्राप्त होकर (स्वधाः) परधन का त्याग करके अपने धन के सेवन करने वाले (स्थ) होओ ॥ ३४ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों के पुत्र और नौकर आदि को आज्ञा देके कहना चाहिये कि तुम को हमारे पितर अर्थात् पिता माता आदि वा विद्या के देने वाले प्रीति से सेवा करने योग्य हैं। जैसे कि उन्होंने बाल्यावस्था वा विद्यादान के समय हम और तुम पाले हैं, वैसे हम लोगों को भी वे सब काल में [सब प्रकार] सत्कार करने योग्य हैं, जिससे हम लोगों के बीच में विद्या का नाश और कृतघ्नता आदि दोष कभी न प्राप्त हों ॥ ३४ ॥

ईश्वर ने इस दूसरे अध्याय में जो जो वेदि आदि यज्ञ के साधनों का बनाना, यज्ञ का फल, गमन वा साधन, सामग्री का धारण, अग्नि के दूतपन का प्रकाश, आत्मा और इन्द्रियादि पदार्थों की शुद्धि, सुखों का भोग, वेद का प्रकाश, पुरुषार्थ का संधान, युद्ध में शत्रुओं का जीतना, शत्रुओं का निवारण, द्वेष का त्याग, अग्नि आदि पदार्थों को सवारियों में युक्त करना, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेना, ईश्वर में प्रीति, अच्छे अच्छे गुणों का विस्तार और सब की उन्नति करना, वेद शब्द के अर्थ का वर्णन, वायु और अग्नि आदि का परस्पर मिलाना, पुरुषार्थ का ग्रहण, उत्तम उत्तम पदार्थों का स्वीकार करना, यज्ञ में होम किये हुए पदार्थों का तीनों लोक में जाना आना, स्वयंभू शब्द [के अर्थ] का वर्णन, गृहस्थों का कर्म, सत्य का आचरण, अग्नि में होम, दुष्टों का निवारण और जिन जिन का सेवन करना कहा है, उन उन का सेवन मनुष्यों को प्रीति के साथ करना अवश्य है। इस प्रकार से प्रथमाध्याय के अर्थ के साथ द्वितीयाध्याय के अर्थ की संगति जाननी चाहिये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्यश्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना सुविरचिते संस्कृतार्यभाषाविभूषिते यजुर्वेदभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः संपूर्णः ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

* ओ३म् *

* अथ द्वात्रिंशत्तमाध्यायारम्भः *



ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ १॥

तदेवेत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः।
गान्धारः स्वरः॥

अथ परमेश्वरः कीदृश इत्याह—

अब परमेश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ १॥

तत्। एव। अग्निः। तत्। आदित्यः। तत्। वायुः। तत्। ऊँ इत्यूँ। चन्द्रमाः॥ तत्। एव। शुक्रम्। तत्। ब्रह्म। ताः। आपः। सः। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः॥ १॥

पदार्थः—(तत्) सर्वज्ञं सर्वव्यापि सनातनमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं न्यायकारि दयालु जगत्स्रष्टृ जगद्धर्तृ सर्वान्तर्यामि[1]। (एव) निश्चये। (अग्निः) ज्ञानस्वरूपत्वात् स्वप्रकाशत्वाच्च। (तत्)। (आदित्यः) प्रलये सर्वस्यादातृत्वात्। (तत्)। (वायुः) अनन्तबलत्वसर्वधर्तृत्वाभ्याम्[2]। (तत्)। (उ)। (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूपत्वादाह्लादकत्वाच्च। (तत्)। (एव)। (शुक्रम्)

---

१. तत् इति सर्वनाम। तस्य पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वाध्याय उक्तो विराट् पुरुष इह परामृश्यते। स च विराट् पुरुष अध्यात्मं ब्रह्म। तस्येमानि विशेषणानि। एतेष्वपि बहूनि पूर्वाध्याय अर्थत उक्तानि।

२. भौतिकस्य वायोर्बलत्वधृतित्वे द्वे प्रधाने धर्मणी। तयोश्चातिशयित्वं ब्रह्मण्येव इति।

आशुकारित्वाच्छुद्धभावाच्च[1]। (तत्)। (ब्रह्म) सर्वेभ्यो महत्त्वात्। (ताः)। (आपः) सर्वत्र व्यापकत्वात्। (सः)। (प्रजापतिः) सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वात् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यथेश्वरस्येमान्यग्न्यादीनि गौणिकानि[2] नामानि सन्ति, तथान्यानीन्द्रादीन्यपि वर्त्तन्ते। अस्यैवोपासना फलवती भवतीति वेद्यम् ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (तत्) वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापि, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव, न्यायकारी दयालु, जगत् का स्रष्टा, धारणकर्त्ता और सब का अन्तर्यामी (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और स्वयंप्रकाशित होने से अग्नि, (तत्) वह (आदित्यः) प्रलय समय सब को ग्रहण करने से आदित्य, (तत्) वह (वायुः) अनन्त बलवान् और सबका धर्त्ता होने से वायु, (तत्) वह (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा, (तत्, एव) वही (शुक्रम्) शीघ्रकारी वा शुद्ध भाव से शुक्र, (तत्) वह (ब्रह्म) महान् होने से ब्रह्म, (ताः) वह (आपः) सर्वत्र व्यापक होने से आप, (उ) और (सः) वह (प्रजापतिः) सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है, ऐसा तुम लोग जानो ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जैसे ईश्वर के ये अग्नि आदि [उसके भिन्न भिन्न गुणों के कारण] गौणिक[3] नाम हैं, वैसे और भी इन्द्रादि [अन्य] नाम हैं। उसी की उपासना फलवाली है, ऐसा जानो ॥ १ ॥

---

१. शुक्रपदस्य द्वावर्थावत्र प्रतिपादितौ। तत्र निघण्टौ (२।१५) निरुक्तः क्षिप्रवाचि 'शु' पूर्वपदम्, करोतेश्च 'क्र' इत्युत्तरपदम्। तेनाशुकारित्वरूपोऽर्थः संगृहीतः। शुक्रशब्दस्य श्वेतार्थस्तु लोकप्रसिद्धः। तेन शुद्धत्वरूपोऽर्थः परिगृहीतः।

२. 'गुणान्यधिकृत्य कृतानि' इत्यर्थः, न तु गौणान्यप्रधानानीति। किं गुणमाश्रित्य किन्नाम इति तु पदार्थे स्पष्टीकृतं भाष्यकारेण।

३. पूर्वमुद्रित में 'गौण नाम' पाठ है। वह अनुवाद अशुद्ध है। संस्कृत पाठ में 'गौणिकानि' पद है, जिसका अर्थ है 'गुणानुरूप'। 'गौणानि' पद नहीं।

सर्व इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का प्रतिपादन अगले मन्त्र में किया है ॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ २ ॥

सर्वे । निमेषा इति निऽमेषाः । जज्ञिरे । विद्युत इति विऽद्युतः । पुरुषात् । अधि ॥ न । एनम् । ऊर्ध्वम् । न । तिर्यञ्चम् । न । मध्ये । परि । जग्रभत् ॥ २ ॥

पदार्थः—(सर्वे) । (निमेषाः) नेत्रोन्मीलनादिलक्षणाः कलाकाष्ठादिकालाऽवयवाः । (जज्ञिरे) जायन्ते । (विद्युतः) विशेषेण द्योतमानात् । (पुरुषात्) पूर्णाद् विभोः । (अधि) । (न) निषेधे । (एनम्) परमात्मानम् । (ऊर्ध्वम्) उपरिस्थम् । (न) । (तिर्यञ्चम्) तिर्यक्स्थितमधस्थं वा । (न) (मध्ये) । (परि) सर्वतः (जग्रभत्) गृह्णाति ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्माद् विद्युतः पुरुषात् सर्वे निमेषा अधि जज्ञिरे तमेनं कोऽपि नोर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्, तं यूयं सेवध्वम् ॥ २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यस्य निर्माणेन सर्वे कालावयवा जाताः, यच्चोर्ध्वमधो मध्ये पार्श्वतो दूरे निकटे वा कथयितुमशक्यं, यत् सर्वत्र पूर्णं ब्रह्माऽस्ति, तद्योगाभ्यासेन विज्ञाय सर्वे भवन्त उपासीरन् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जिस (विद्युतः) विशेषकर प्रकाशमान (पुरुषात्) पूर्ण परमात्मा से (सर्वे) सब (निमेषाः) निमेष कला काष्ठा आदि काल के अवयव (अधि, जज्ञिरे) अधिकतर उत्पन्न होते हैं, उस (एनम्) इस परमात्मा को कोई भी (न) न (ऊर्ध्वम्) ऊपर, (न) न (तिर्यञ्चम्) तिरछा, सब दिशाओं में वा नीचे और (न) न (मध्ये) बीच में (परि, जग्रभत्) सब ओर से ग्रहण कर सकता है, उसको तुम सेवो ॥ २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस के रचने से सब काल के अवयव उत्पन्न हुए और जो ऊपर, नीचे, बीच में, पीछे, दूर, समीप कहा नहीं जा सकता, जो सर्वत्र पूर्णब्रह्म है, उस को योगाभ्यास से जान के सब आप लोग उपासना करो ॥ २ ॥

न तस्येत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । हिरण्यगर्भः परमात्मा देवता । निचृत् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑ । हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इत्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒त इत्ये॒षः ॥ ३ ॥

न । तस्य॑ । प्र॒ति॒मेति॑ प्रति॒ऽमा । अ॒स्ति॒ । यस्य॑ । नाम॑ । म॒हत् । यशः॑ । हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इति॑ हिरण्यऽग॒र्भः । इति॑ । ए॒षः । मा । मा॒ । हि॒ꣳसी॒त् । इति॑ । ए॒षा । यस्मा॑त् । न । जा॒तः । इति॑ । ए॒षः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(न) निषेधे । (तस्य) परमेश्वरस्य । (प्रतिमा) प्रतिमीयते यया, तत्परिमापकं सदृशं तोलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा । (अस्ति) वर्त्तते । (यस्य) । (नाम) नामस्मरणम् । (महत्) पूज्यं बृहत् । (यशः) कीर्त्तिकरं धर्म्यकर्माचरणम् । (हिरण्यगर्भः) सूर्यविद्युदादिपदार्थाधिकरणः । (इति) । (एषः) अन्तर्यामितया प्रत्यक्षः । (मा) निषेधे । (मा) मां जीवात्मानम् । (हिंसीत्) हन्यात् ताडयेद् विमुखं कुर्यात् । (इति) । (एषा) प्रार्थना प्रज्ञा वा । (यस्मात्) कारणात् । (न) निषेधे । (जातः) उत्पन्नः । (इति) । (एषः) परमात्मा ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्य महद्यशो नामास्ति, यो हिरण्यगर्भ इत्येषो, यस्य मा मा हिंसीदित्येषा, यस्मान्न जात इत्येष उपासनीयोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति ॥

यद्वा पक्षान्तरम्—हिरण्यगर्भ इत्येष[1] (२५ । १०—१३) उक्तोऽनुवाको, मा मा हिंसीदित्येषोक्ता (१२ । १०२) ऋग्, यस्मान्न जात इत्येष

---

१. अनुवाकानां मन्त्राणां वा प्रतीकान्यनेकत्रोपलभ्यन्ते संहितायाम् द्र० ऋषि भाष्यम् अ० ३३ । २१, २७, ३३, ४७, ५८, ७३, ६७ इत्यादि । किं तेषां प्रयोजनं, किं तानि मूलसंहिताया एकदेशभूतानि, बहिर्भूतानि वा ततः, इत्यादीनां मीमांसा अन्यत्र करिष्यते ।

(८ । ३६ । ३७) उक्तोऽनुवाकश्च यस्य भगवतो नाम महद्यशोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यः कदाचिद्देहधारी न भवति, यस्य किञ्चिदपि परिमाणं नास्ति, यस्याज्ञापालनमेव नामस्मरणमस्ति, य उपासितः सन्नुपासकाननुगृह्णाति, वेदानामनेकस्थलेषु यस्य महत्त्वं प्रतिपाद्यते, यो न म्रियते, न विक्रियते, न क्षीयते, तस्यैवोपासनां सततं कुरुत । यद्यस्माद्भिन्नस्योपासनां करिष्यन्ति,[1] तर्ह्यनेन महता पापेन युक्ताः सन्तो भवन्तो दुःखक्लेशैर्हता भविष्यन्ति ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यस्य) जिस का (महत्) पूज्य बड़ा (यशः) कीर्त्ति करनेहारा, धर्मयुक्त कर्म का आचरण ही (नाम) नामस्मरण है । जो (हिरण्यगर्भः) सूर्य, बिजुली आदि पदार्थों का आधार (इति) इस प्रकार (एषः) अन्तर्यामी होने से प्रत्यक्ष, जिस की (मा) मुझ को (मा, हिंसीत्) मत ताड़ना दे वा वह अपने से मुझ को विमुख मत करे (इति) इस प्रकार (एषा) यह प्रार्थना वा बुद्धि, और (यस्मात्) जिस कारण (न) नहीं (जातः) उत्पन्न हुआ (इति) इस प्रकार (एषः) यह परमात्मा उपासना के योग्य है । (तस्य) उस परमेश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमा=परिमाण, उस के तुल्यता नापने का साधन प्रतिकृति, मूर्ति वा आकृति (न, अस्ति) नहीं है ॥

अथवा द्वितीय पक्ष यह है कि (हिरण्यगर्भः०) इस पच्चीसवें अध्याय में १० मन्त्र से १३ मन्त्र तक का (इति, एषः) यह कहा हुआ अनुवाक,[2] (मा मा हिंसीत् इति) इसी प्रकार (एषा) यह ऋचा (बारहवें अध्याय का १०२ मन्त्र) और (यस्मान्न जातः इत्येषः) यह आठवें अध्याय के ३६, ३७ दो मन्त्र का अनुवाक (यस्य) जिस परमेश्वर की (नाम) प्रसिद्ध (महत्) महती (यशः) कीर्ति है, (तस्य) उस का (प्रतिमा) प्रतिबिम्ब=तस्वीर नहीं है ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो [ईश्वर] कभी देहधारी नहीं होता, जिस का कुछ भी परिमाण सीमा का कारण नहीं है, जिसकी आज्ञा का पालन ही नामस्मरण है, जो उपासना किया हुआ अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है, वेदों के अनेक स्थलों में जिसका महत्त्व कहा गया है, जो नहीं मरता, न विकृत होता, न नष्ट होता [है] उसी की उपासना निरन्तर करो । जो इससे

१. इहोत्तरवाक्यस्थस्य 'भवन्तः' पदस्यापकर्षो द्रष्टव्यः ।
२. संहिता में इस प्रकार अनुवाक और मन्त्रों की प्रतीकें कई स्थानों पर मिलती हैं । इन का क्या प्रयोजन है, इसकी विवेचना हम अन्यत्र करेंगे ।

भिन्न की उपासना करोगे तो इस महान् पाप से युक्त हुए आप लोग दुःख क्लेशों से नष्ट होगे ॥ ३ ॥

एष इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । आत्मा देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है ॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ ४ ॥

एषः । ह । देवः । प्रदिश इति प्रऽदिशः । अनु । सर्वाः । पूर्वः । ह । जातः । सः । ऊँ इत्यूँ । गर्भे । अन्तरित्यन्तः ॥ सः । एव । जातः । सः । जनिष्यमाणः । प्रत्यङ् । जनाः । तिष्ठति । सर्वतोमुख इति सर्वतःऽमुखः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(एषः) परमात्मा । अत्र विभक्तेरलुक्[1] । (ह) प्रसिद्धम्[2] । (देवः) दिव्यस्वरूपः । (प्रदिशः) । (अनु) आनुकूल्ये । (सर्वाः) दिशश्च । (पूर्वः) प्रथमः । (ह) प्रसिद्धम्[2] । (जातः) प्राकट्यं प्राप्तः । (सः) । (उ) एव । (गर्भे) अन्तःकरणे । (अन्तः) मध्ये । (सः) । (एव) । (जातः) प्रसिद्धः । (सः) । (जनिष्यमाणः) प्रसिद्धिं प्राप्स्यमानः । (प्रत्यङ्) प्रतिपदार्थमञ्चति प्राप्नोति । (जनाः) विद्वांसः । (तिष्ठति) वर्तते । (सर्वतोमुखः) सर्वतो मुखाद्यवयवा यस्य सः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे जनाः । एषो ह देवः सर्वाः प्रदिशोऽनुव्याप्य स उ गर्भेऽन्तः पूर्वो ह जातः स एव जातः स जनिष्यमाणः सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति, स युष्माभिरुपासनीयो वेदितव्यश्च ॥ ४ ॥

---

१. 'एतत्तदोः सुलोपः' (अ० ६ । १ । १३२) इत्यनेन लोपं प्राप्ताया विभक्तेः ।
२. 'प्रसिद्धम्' इति पूर्वमुद्रितपाठस्य विलिङ्गत्वात् 'प्रसिद्धः' इति पाठो युक्तः स्यात् ।

भावार्थः—अयं पूर्वोक्त ईश्वरो जगदुत्पाद्य प्रकाशितः[1] सन् सर्वासु दिक्षु व्याप्येन्द्रियाण्यन्तरेण सर्वेन्द्रियकर्माणि सर्वगतत्वेन कुर्वन्, सर्वप्राणिनां हृदये तिष्ठति, सोऽतीतानागतेषु कल्पेषु जगदुत्पादनाय पूर्वं प्रकटो भवति[2]। स ध्यानशीलेन मनुष्येण ज्ञातव्यो, नान्येनेति भावः ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (जनाः) विद्वानो ! (एषः) यह (ह) प्रसिद्ध परमात्मा (देवः) उत्तम स्वरूप (सर्वाः) सब दिशा और (प्रदिशः) विदिशाओं को (अनु) अनुकूलता से व्याप्त होके (सः) (उ) वही (गर्भे) अन्तःकरण के (अन्तः) बीच (पूर्वः) प्रथम कल्प के आदि में (ह) प्रसिद्ध (जातः) प्रकटता को प्राप्त हुआ (सः, एव) वही (जातः) प्रसिद्ध हुआ (सः) वह (जनिष्यमाणः) आगामी कल्पों में प्रथम प्रसिद्धि को प्राप्त होगा (सर्वतोमुखः) सब ओर से मुखादि अवयवों वाला अर्थात् मुखादि इन्द्रियों के काम सर्वत्र करता (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ (तिष्ठति) अचल सर्वत्र स्थिर है। वही तुम लोगों को उपासना करने और जानने योग्य है ॥ ४ ॥

भावार्थः—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित[3] हुआ सब दिशाओं में व्याप्त हो के, इन्द्रियों के विना सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ, सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है, वह भूत भविष्यत्कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिये पहिले प्रकट[4] होता है। वह ध्यानशील मनुष्य के जानने योग्य है, अन्य के जानने योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

यस्मादित्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमेश्वरो देवता। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

---

१. यथा कस्यचिदाश्चर्यभूतवस्तुनो रचयिता स्वरचनाकौशलेन प्रकाशितो भवति तथैवात्याश्चर्यभूतस्य ब्रह्माण्डस्य रचनया स जगदीश्वर इन्द्रियातीतः सन्नपि प्रकाशितो भवति।

२. अस्यायं भावः—स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति वचनानुसार सृष्ट्युत्पत्तये स ईक्षां चकार। ईक्षणमेव तस्य प्रकटीभावः।

३. जैसे कोई कारीगर किसी अभूतपूर्व वस्तु को बनाकर लोक में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रभु भी इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना से प्रकाशित होता है।

४. प्रभु सृष्टि की उत्पत्ति के लिये जो विचार=ईक्षण करता है, वही उसका प्रकट होना है।

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है।

यस्मा॒ज्जा॒तं न पु॒रा किं च॒नैव य आ॑ब॒भूव॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सꣳररा॒णस्त्रीणि॒ ज्योती॑ꣳषि सचते॒ स षो॑ड॒शी ॥ ५ ॥

यस्मा॑त्। जा॒तम्। न। पु॒रा। किम्। च॒न। ए॒व। यः। आ॒ब॒भूवेत्या॑ऽब॒भूव॑। भुव॑नानि। विश्वा॑ ॥ प्र॒जाप॑ति॒रिति॑ प्र॒जाऽप॑तिः। प्र॒जया॑। स॒ꣳर॒रा॒ण इति॑ स॒म्ऽर॒रा॒णः। त्री॒णि॑। ज्योती॑ꣳषि। स॒च॒ते॒। सः। षो॒ड॒शी ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यस्मात्) परमेश्वरात्। (जातम्) उत्पन्नम्। (न) निषेधे। (पुरा) पुरस्तात्। (किम्, चन) किञ्चिदपि। (एव)। (यः)। (आबभूव) समन्ताद् भवति। (भुवनानि) लोकजातानि सर्वाऽधिकरणानि। (विश्वा) सर्वाणि। (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकोऽधिष्ठाता। (प्रजया) प्रजातया। (सम्, रराणः) सम्यक् रममाणः। (त्रीणि) विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि। (ज्योतींषि) तेजोमयानि प्रकाशकानि। (सचते) समवैति। (सः)। (षोडशी) षोडश कला यस्मिन् सन्ति सः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यस्मात् पुरा किञ्चन न जातं, यस्सर्वत आबभूव, यस्मिन् विश्वा भुवनानि वर्त्तन्ते, स एव षोडशी प्रजया सह संरराणः प्रजापतिस्त्रीणि ज्योतींषि सचते ॥ ५ ॥

भावार्थः—यस्मादीश्वरोऽनादिर्वर्त्तते, ततस्तस्मात् पूर्वं किमपि भवितुं न शक्यम्। स एव सर्वासु प्रजासु व्याप्तो जीवानां कर्माणि पश्यन् संस्तदनुकूलं फलं ददन् न्यायं करोति। येन[1] प्राणादीनि षोडश वस्तूनि सृष्टान्यतः स षोडशीत्युच्यते। प्राणः, श्रद्धाऽऽकाशं,[2] वायुरग्निर्जलं, पृथिवीन्द्रियं, मनोऽन्नं, वीर्यं, तपो, मन्त्राः, कर्म, लोकाः,

---

१. हेतौ तृतीयेयम्—'येन यस्मात् कारणात् [तेन]......अतः स......'।

२. अस्य नपुंसकलिङ्गप्रयोगस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

२४

नाम च षोडशकलाः[1] प्रश्नोपनिषदि षष्ठे प्रश्ने वर्णिताः। एतत्सर्वं षोडशात्मकं जगत् परमात्मनि वर्त्तते, तेनैव निर्मितं, पाल्यते च ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यस्मात्) जिस परमेश्वर से (पुरा) पहिले (किम्, चन) कुछ भी (न जातम्) नहीं उत्पन्न हुआ । (यः) जो सब ओर (आबभूव) अच्छे प्रकार से वर्त्तमान है, जिसमें (विश्वा) सब (भुवनानि) वस्तुओं के आधार सब लोक वर्तमान हैं । (सः एव) वही (षोडशी) सोलह कला वाला (प्रजया) प्रजा के साथ (सम्, रराणः) सम्यक् रमण करता हुआ (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक अधिष्ठाता (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) तेजोमय बिजुली, सूर्य, चन्द्रमारूप प्रकाशक ज्योतियों को (सचते) संयुक्त करता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—जिससे ईश्वर अनादि है, इस कारण उससे पहिले कुछ भी हो नहीं सकता । वही सब प्रजाओं में व्याप्त जीवों के कर्मों को देखता और उन के अनुकूल फल देता हुआ न्याय करता है ॥ जिस [कारण उस] ने प्राण आदि सोलह वस्तुओं को बनाया है, इससे वह षोडशी कहाता है "प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम" ये षोडश कला प्रश्नोपनिषद् [के छठे प्रश्न में वर्णित] हैं । यह सब षोडश वस्तुरूप जगत् परमात्मा में है, उसी ने बनाया और वही पालन करता है ॥ ५ ॥

---

१. इमाः षोडशकला यजुर्भाष्ये (८ । ३६) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् (पृष्ठ ४५ सं० ३) आर्याभिविनये (प्र० २ मं० १४) च परिगणिताः । यजुर्भाष्ये (८ । ३६) प्राणात् पूर्वमिच्छाया निर्देश उपलभ्यते, 'मन्त्राः' इत्यस्मादनन्तरं 'कर्म' न पठ्यते । ऋ० भूमिकायां तदीयभाषाव्याख्याने च प्राणात् पूर्वम् 'ईक्षणस्य' निर्देशः, कर्मानन्तरं 'लोकाः' इति न निर्दिश्यते । आर्याभिविनये द्वितीयप्रकाशस्य चतुर्दशमन्त्रव्याख्याने प्राणात् पूर्वम् ईक्षणस्य निर्देश उपलभ्यते, परं "कर्मलोक (चेष्टास्थान) १५ और लोकों के नाम १६" इत्येवं लोकस्य कर्मणा सह नाम्ना च सह समुच्चय उपलभ्यते । एवं सर्वत्रापि षोडशकलानां निर्देशे प्रायेण व्यस्तता दृश्यते । प्रश्नोपनिषदि षोडशकलासु इच्छा ईक्षणं वा न पठ्यते । ईक्षणस्य निर्देशस्तु षोडशकलाविवरणात् पूर्वं 'स ईक्षांचक्रे' इत्येवमुपलभ्यते । जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे इमा षोडशकला अन्यथा व्याख्यायन्ते । तथाहि—'सच्चाऽसच्चाऽसच्चसच्च, वाक्मनश्च, मनश्चवाक् च, चक्षुश्च श्रोत्रं च, श्रोत्रं च चक्षुश्च, श्रद्धा च तपश्च, तपश्च श्रद्धा च, तानि षोडश । षोडशकं ब्रह्म ।' ४ । २५ । १ ॥

येनेत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः। परमात्मा देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृढा। येन। स्वरिति स्वः। स्तभितम्। येन। नाकः॥ यः। अन्तरिक्षे। रजसः। विमान इति विऽमानः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥ ६॥

पदार्थः—(येन) जगदीश्वरेण। (द्यौः) सूर्यादिप्रकाशवान् पदार्थः। (उग्रा) तीव्रतेजस्का। (पृथिवी) भूमिः। (च)। (दृढा) दृढीकृता। (येन)। (स्वः) सुखम्। (स्तभितम्) धृतम्। (येन)। (नाकः) अविद्यमानदुःखो मोक्षः। (यः)। (अन्तरिक्षे) मध्यवर्त्तिन्याकाशे। (रजसः) लोकसमूहस्य। लोका रजांस्युच्यन्त इति निरुक्तम् [४। १९]। (विमानः) विविधं मानं यस्मिन्, सः। (कस्मै) सुखस्वरूपाय। (देवाय) स्वप्रकाशाय सकलसुखदात्रे। (हविषा) प्रेमभक्तिभावेन। (विधेम) परिचरेम, प्राप्नुयाम वा॥ ६॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! येनोग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं, येन नाकः स्तभितो, योऽन्तरिक्षे वर्त्तमानस्य रजसो विमानोऽस्ति, तस्मै कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम, एवं यूयमप्येनं सेवध्वम्॥ ६॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यः सकलस्य जगतो धर्त्ता सर्वसुखप्रदाता मोक्षसाधक आकाशइव व्याप्तः परमेश्वरोऽस्ति, तस्यैव भक्तिं कुरुत॥६॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (येन) जगदीश्वर ने (उग्रा) तीव्र तेज वाले (द्यौः) प्रकाशयुक्त सूर्यादि पदार्थ (च) और (पृथिवी) भूमि (दृढा) दृढ़ की है, (येन) जिसने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण किया, (येन) जिसने (नाकः) सब दुःखों से रहित मोक्ष धारण किया, (यः) जो (अन्तरिक्षे) मध्यवर्ती आकाश में वर्तमान (रजसः) लोक समूह का (विमानः) विविध मान करने वाला [है], उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) स्वयं प्रकाशमान सकल

सुख दाता ईश्वर के लिये हम लोग (हविषा) प्रेम भक्ति से (विधेम) सेवा करें वा प्राप्त होवें ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो समस्त जगत् का धर्ता, सब सुखों का दाता, मुक्ति का साधक, आकाश के तुल्य व्यापक, परमेश्वर है, उसी की भक्ति करो ॥६॥

यं क्रन्दसीत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृत् शक्करी[1] छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने । यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम । आपो ह यद् बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥

यम् । क्रन्दसी इति क्रन्दसी । अवसा । तस्तभाने इति तस्तभाने । अभि । ऐक्षेताम् । मनसा । रेजमाने इति रेजमाने ॥ यत्र । अधि । सूरः । उदित इत्युत्ऽइतः । विभातीति विऽभाति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम । आपः । ह । यत् । बृहतीः । यः । चित् । आपः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यम्) । (क्रन्दसी) गुणैः प्रशंसनीये । (अवसा) रक्षणादिना । (तस्तभाने) धारिके । (अभि) आभिमुख्ये । (ऐक्षेताम्) ईक्षेतां, पश्यतः । (मनसा) विज्ञानेन । (रेजमाने) चलन्त्यौ, भ्रमन्त्यौ । (यत्र) यस्मिन् । (अधि) उपरि । (सूरः) सूर्यः । (उदितः) उदयं प्राप्तः । (विभाति) विशेषेण प्रकाशयन् प्रकाशयिता भवति । (कस्मै) सुखसाधकाय । (देवाय) शुद्धस्वरूपाय । (हविषा) आदातव्येन योगाभ्यासेन । (विधेम) । (आपः) व्याप्ताः । (ह) किल । (यत्) याः । (बृहतीः) महत्यः । (यः) । (चित्) अपि । (आपः) आकाशः[2] ॥ ७ ॥

---

१. 'स्वराडति जगती छन्दः । निषादः स्वरः' इति पूर्वमुद्रिते पाठः । स च मन्त्रे पञ्चपञ्चाशदक्षरत्वादशुद्धः । छन्दोऽनुरोधेन तत्स्वरशोधनमप्यस्माभिः कृतम् ।

२. पदमिदं पञ्चममन्त्रभावार्थे नपुंसकत्वेन पठितम् । तस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यं परमात्मानं प्राप्ते तस्तभाने रेजमाने क्रन्दसी द्यावापृथिव्यावक्सा सर्वं धरतो यत्र सूरोऽध्युदितो यद् या बृहतीरापो ह यश्चिदाप[1] सन्तिः ताश्चिदपि विभाति तं तौ चाऽध्यापकोपदेशकौ मनसा अभ्यैच्चेतां तस्मै कस्मै देवाय हविषा वयं विधेम, एवं यूयमपि भजत ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यत्र सर्वाभिव्यापकेश्वरे सूर्यपृथिव्यादयो लोका भ्रमन्तः सन्तो दृश्यन्ते, येन प्राण आकाशोऽपि व्याप्तस्तं स्वात्मस्थं यूयमुपासीध्वम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यम्) जिस परमात्मा को प्राप्त अर्थात् उसके नियम में रहने वाले (तस्तभाने) सब को धारण करने हारे (रेजमाने) चलायमान (क्रन्दसी) स्वगुणों से प्रशंसा करने योग्य सूर्य और पृथिवी लोक (अवसा) रक्षा आदि से सब को धारण करते हैं, (यत्र) जिस ईश्वर में (सूरः) सूर्य लोक (अधि, उदितः) उदय को प्राप्त हुआ, (यत्) जो (बृहतीः) महत् (आपः) व्याप्त जल (ह) हैं, और (यः) जो कुछ (चित्) भी (आपः) आकाश है, उसको भी (विभाति) विशेष कर प्रकाशित करता हुआ प्रकाशक होता है, उस ईश्वर को अध्यापक और उपदेशक (मनसा) विज्ञान से (अभि, ऐच्चेताम्) आभिमुख्य कर देखते [हैं] उस (कस्मै) सुखसाधक (देवाय) शुद्धस्वरूप परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास से हम (विधेम) सेवा करने वाले हों, उस को तुम लोग भी भजो ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस सब ओर से व्यापक परमेश्वर में सूर्य, पृथिवी आदि लोक भ्रमते हुए दीखते हैं, जिस ने प्राण और आकाश को भी व्याप्त किया, उस अपने आत्मा में स्थित ईश्वर की तुम लोग उपासना करो ॥ ७ ॥

येन इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । तस्मिन्निद९ सं च वि चैति सर्व९ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ ८ ॥

---

१. अत्रापि पूर्ववत् (३२ । ३) पक्षान्तरे आपो ह यद् बृहती (य० २५ । २५) यश्चिदापः (य० २५ । २६) इति मन्त्रयोः प्रतीकग्रहणं शक्यं व्याख्यातुम् ।

वेनः । तत् । पश्यत् । निहितमिति निऽहितम् । गुहा । सत् । यत्र । विश्वम् । भवति । एकनीडमित्येकऽनीडम् ॥ तस्मिन् । इदम् । सम् । च । वि । च । एति । सर्वम् । सः । ओत इत्याऽउतः । प्रोत इति प्रऽउतः । च । विभूरिति विऽभूः । प्रजास्विति प्रऽजासु ॥ ८ ॥

पदार्थः—(वेनः) पण्डितो विद्वान् । (तत्) चेतन ब्रह्म । (पश्यत्) पश्यति[1] (निहितम्) । स्थितम् । (गुहा) गुहायां बुद्धौ, गुप्ते कारणे वा । (सत्) नित्यम् । (यत्र) यस्मिन् । (विश्वम्) सर्वं जगत् । (भवति) । (एकनीडम्) एकस्थानम् । (तस्मिन्) । (इदम्) जगत् । (सम्) । (च) । (वि) । (च) । (एति) । (सर्वम्) । (सः) । (ओतः) ऊर्ध्वतन्तुषु[2] पट इव । (प्रोतः) तिर्यक्तन्तुषु पट इव । (च) । (विभूः) व्यापकः । (प्रजासु) प्रकृतिजीवादिषु ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यत्र विश्वमेकनीडं भवति तद् गुहा निहितं सद्वेनः पश्यत् । तस्मिन्निदं सर्वं समेति च व्येति च स विभूः प्रजास्वोतः प्रोतश्च, स एव सर्वैरुपासनीयोऽस्ति ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! विद्वानेव यं बुद्धिबलेन जानाति, यः सर्वेषामाकाशादीनां पदार्थानामधिकरणमस्ति, यत्र संहारकाले सर्वं जगल्लीयते, सर्गकाले च यतो निस्सरति, येन व्याप्तेन विना किञ्चिदपि वस्तु न वर्त्तते, तं विहायाऽन्यं कञ्चिदप्युपास्यमीश्वरं मा विजानन्तु ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है, (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) स्थित (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म को (वेनः) पण्डित विद्वान् जन (पश्यत्) ज्ञानदृष्टि से देखता है । (तस्मिन्) उस में (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्, एति) प्रलय समय में संगत होता [है], और [उसी में] उत्पत्ति समय में (वि) पृथक् स्थूलरूप (च) भी होता है । (सः) वह (विभूः विविध प्रकार व्याप्त हुआ (प्रजासु) प्रजाओं में (ओतः) ठाढे सूतों में जैसे वस्त्र (च) तथा (प्रोतः) आड़े सूतों में जैसे वस्त्र [ठहरता है] वैसे ओत प्रोत हो रहा है । वही सब को उपासना करने योग्य है ॥ ८ ॥

---

१. 'पश्यति स्थितम् (निहितम्) । (गुहा), इति विपर्यस्तः पूर्वमुद्रिते ।

२. 'ऊर्ध्वतन्तुः' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः । द्रष्टव्यः प्रोतपदार्थः ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! विद्वान् ही जिस को बुद्धि बल से जानते [हैं], जो सब आकाशादि पदार्थों का आधार, प्रलय समय सब जगत् जिस में लीन होता [है], और उत्पत्ति समय में जिससे निकलता है, और जिस व्याप्त ईश्वर के विना कुछ भी वस्तु नहीं खाली है, उस को छोड़ किसी अन्य को उपास्य ईश्वर मत जानो ॥ ८ ॥

प्र तदित्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । विद्वान् देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् । त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ ९ ॥

प्र । तत् । वोचेत् । अमृतम् । नु । विद्वान् । गन्धर्वः । धाम । विभृतमिति विऽभृतम् । गुहा । सत् ॥ त्रीणि । पदानि । निहितेति निऽहिता । गुहा । अस्य । यः । तानि । वेद । सः । पितुः । पिता । असत् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(प्र) । (तत्) चेतनं ब्रह्म । (वोचेत्) गुणकर्मस्वभावत उपदिशेत् । (अमृतम्) नाशरहितम् । (नु) सद्यः । (विद्वान्) पण्डितः । (गन्धर्वः) यो गां वेदवाचं धरति[1] सः । (धाम) मुक्तिसुखस्य स्थानम् । (विभृतम्) विशेषेण धृतम् । (गुहा) बुद्धौ । (सत्) नित्यम् । (त्रीणि) उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः, काला वा । (पदानि) ज्ञातुमर्हाणि । (निहिता) निहितानि । (गुहा) बुद्धौ । (अस्य) अविनाशिनः । (यः) । (तानि) । (वेद) जानाति । (सः) । (पितुः) जनकस्येश्वरस्य[2] वा । (पिता) ज्ञानप्रदानेनास्तिकत्वेन[2] वा रक्षकः । (असत्) भवेत् ॥ ९ ॥

---

१. गच्छतीति गं ब्रह्म, तद्धरतीति स गन्धर्वः इत्यार्याभिविनये (प्रकाश २, पृष्ठ ५५) ।

२. उभयत्र यथासंख्यं संबन्धोद्द्रष्टव्यः—जनकस्य ज्ञानप्रदानेन पिता, रक्षकः, ईश्वरस्य चास्तिकत्वेन पिता रक्षकः ।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो गन्धर्वो विद्वान् गुहा विभृतममृतं धाम तत् सन्नु प्रवोचेत् योऽस्य[1] गुहा [निहिता] निहितानि पदानि त्रीणि सन्ति तानि च वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ ९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! य ईश्वरस्य मुक्तिसाधकं बुद्धिस्थं स्वरूपमुपदिशेयुर्यथार्थतया पदार्थानां परमात्मनश्च गुणकर्मस्वभावान् विजानीयुस्ते वयोवृद्धानां पितॄणा[2]मपि पितरो भवितुं योग्याः सन्तीति विजानीत ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यः) जो (गन्धर्वः) वेदवाणी को धारण करने वाला (विद्वान्) पण्डित (गुहा) बुद्धि में (विभृतम्) विशेष धारण किये (अमृतम्) नाशरहित (धाम) मुक्ति के स्थान [रूप] (तत्) उस (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म का (नु) शीघ्र (प्र, वोचेत्) गुणकर्मस्वभावों के सहित उपदेश करे, और जो (अस्य) इस अविनाशी ब्रह्म के (गुहा) ज्ञान में (निहिता) स्थित (पदानि) जानने योग्य (त्रीणि) तीन—उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय वा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान काल हैं, (तानि) उन को (वेद) जानता है । (सः) वह (पितुः) अपने पिता वा सर्वरक्षक ईश्वर का (पिता) ज्ञान देने वा आस्तिकत्व से रक्षक (असत्) होवे ॥ ९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् लोग ईश्वर के मुक्तिसाधक, बुद्धिस्थ स्वरूप का उपदेश करें, ठीक २ पदार्थों के और ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव को जानें, वे अवस्था में बड़े पितादिकों के भी पिता होने[3] के योग्य होते हैं, ऐसा जानो ॥ ९ ॥

स न इत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है ॥

---

१. 'याम्यस्य' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः ।

२. 'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः' इति, 'अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्' इति चाह भगवान् मनुः (२ । १५६,१५३) ।

३. इस विषय में मनु ने भी कहा है—बाल सफेद होने से कोई पिता नहीं होता, अज्ञानी ही बालक होता है और उपदेशक ज्ञानी को ही पिता कहते हैं । (द्र० मनुस्मृति २ । १५६, १५३) ।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १० ॥

सः । नः । बन्धुः । जनिता । सः । विधातेति विऽधाता । धामानि । वेद । भुवनानि । विश्वा ॥ यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । तृतीये । धामन् । अध्यैरयन्तेत्यधिऽऐरयन्त ॥ १० ॥

पदार्थः—(सः)। (नः) अस्माकम् । (बन्धुः) भ्रातेव मान्यः सहायः । (जनिता) जनयिता । अत्र जनिता मन्त्रे (अ० ६ । ४ । ५३) इति णिलोपः । (सः)। (विधाता) सर्वेषां पदार्थानां कर्मफलानां च विधानकर्त्ता । (धामानि) जन्मस्थाननामानि[1] । (वेद) जानाति । (भुवनानि) लोकलोकान्तराणि । (विश्वा) सर्वाणि । (यत्र) यस्मिन् जगदीश्वरे । (देवाः) विद्वांसः । (अमृतम्) मोक्षसुखम् । (आनशानाः) प्राप्नुवन्तः । (तृतीये) जीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणे । (धामन्) धामन्याधारभूते । (अध्यैरयन्त) सर्वत्र स्वेच्छया विचरन्ति ॥ १० ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यत्र तृतीये धामन्नमृतमानशाना देवा अध्यैरयन्त यो विश्वा भुवनानि धामानि च वेद स नो बन्धुर्जनिता स विधाताऽस्तीति निश्चिनुत ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यस्मिञ्छुद्धस्वरूपे परमात्मनि योगिनो विद्वांसो मुक्तिसुखं प्राप्य मोदन्ते, स एव सर्वज्ञः सर्वोत्पादकः सर्वदा सहायकारी च मन्तव्यो नेतर इति ॥ १० ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्र) जिस (तृतीये) जीव और प्रकृति से विलक्षण (धामन्) आधाररूप जगदीश्वर में (अमृतम्) मोक्ष सुख को (आनशानाः) प्राप्त होते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) सर्वत्र अपनी इच्छापूर्वक विचरते हैं, जो (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तरों और (धामानि) जन्म स्थान नामों को (वेद) जानता है, (सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (बन्धुः) भाई के तुल्य, मान्य, सहायक (जनिता) उत्पन्न करने

१. धामानि त्रयाणि भवन्ति—स्थानानि नामानि जन्मानीति । निरु० ६ । २८ ॥

२५

द्वारा, (सः) वही (विधाता) सब पदार्थों और कर्मफलों का विधान करने वाला है, यह निश्चय करो ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस शुद्धस्वरूप परमात्मा में योगिराज विद्वान् लोग मुक्तिसुख को प्राप्त हो आनन्द करते हैं, उसी को सर्वज्ञ सर्वोत्पादक और सर्वदा सहायकारी मानना चाहिये, अन्य को नहीं ॥ १० ॥

परीत्येत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है ।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥

परीत्येति परिऽइत्य । भूतानि । परीत्येति परिऽइत्य । लोकान् । परीत्येति परिऽइत्य । सर्वाः । प्रदिश इति प्रऽदिशः । दिशः । च ॥ उपस्थायेत्युपऽस्थाय । प्रथमजामिति प्रथमऽजाम् । ऋतस्य । आत्मना । आत्मानम् । अभि । सम् । विवेश ॥ ११ ॥

पदार्थः—(परीत्य) परितः सर्वतोऽभिव्याप्य । (भूतानि) । (परीत्य) । (लोकान्) द्रष्टव्यान् पृथिवीसूर्यादीन् । (परीत्य) । (सर्वाः) । (प्रदिशः) आग्नेयाद्या उपदिशः । (दिशः) पूर्वाद्याः । (च) अधः उपरि च । (उपस्थाय) पठित्वा संसेव्य वा । (प्रथमजाम्) प्रथमोत्पन्नां वेदचतुष्टयीम् । (ऋतस्य) सत्यस्य । (आत्मना) स्वस्वरूपेणान्तःकरणेन च । (आत्मानम्) स्वरूपमधिष्ठानं वा । (अभि) आभिमुख्ये । (सम्) सम्यक् । (विवेश) प्रविशति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! त्वं यो भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च परीत्य ऋतस्यात्मानमभिसंविवेश, प्रथमजामुपस्थायात्मना तं प्राप्नुहि ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं धर्माचरणवेदयोगाभ्याससत्सङ्गादिभिः कर्मभिः शरीरपुष्टिमात्मान्तःकरणशुद्धिं च संपाद्य सर्वत्राभिव्याप्तं परमात्मानं लब्ध्वा सुखिनो भवत ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! आप जो (भूतानि) प्राणियों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के, (लोकान्) पृथिवी सूर्यादि लोकों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के, (च) और ऊपर नीचे (सर्वाः) सब (प्रदिशः) आग्नेयादि उपदिशा तथा (दिशः) पूर्वादि दिशाओं को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के, (ऋतस्य) सत्य के (आत्मानम्) स्वरूप वा अधिष्ठान को (अभि, सम्, विवेश) सन्मुखता से सम्यक् प्रवेश करते हैं, (प्रथमजाम्) प्रथम=कल्पादि में उत्पन्न चार वेदरूप वाणी को (उपस्थाय) पढ़ वा सम्यक् सेवन करके (आत्मना) अपने शुद्धस्वरूप वा अन्तःकरण से उस को प्राप्त हूजिये ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्म के आचरण, वेद और योग के अभ्यास तथा सत्संग आदि कर्मों से शरीर की पुष्टि और आत्मा तथा अन्तःकरण की शुद्धि को संपादन कर सर्वत्र अभिव्याप्त परमात्मा को प्राप्त हो के सुखी होओ ॥ ११ ॥

परीत्यस्य स्वयम्भु ब्रह्म ऋषिः । परमात्मा देवता । त्रिष्टुप्[1] छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः । ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ॥ १२ ॥

परि । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । सद्यः । इत्वा । परि । लोकान् । परि । दिशः । परि । स्वरिति स्वः । ऋतस्य । तन्तुम् । विततमिति विऽततम् । विचृत्येति विऽचृत्य । तत् । अपश्यत् । तत् । अभवत् । तत् । आसीत् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः । (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी । (सद्यः) शीघ्रम् । (इत्वा) प्राप्य । (परि) सर्वतः । (लोकान्) द्रष्टव्यान् सृष्टिस्थान् भूगोलान् । (परि) । (दिशः) पूर्वाद्याः । (परि) । (स्वः) सुखम् ।

---

१. निचृत् त्रिष्टुप् इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः, मन्त्रस्य चतुश्चत्वारिंशदक्षरत्वात् ।

(ऋतस्य) सत्यस्य । (तन्तुम्) कारणम् । (विततम्) विस्तृतम् । (विचृत्य) विविधतया ग्रन्थित्वा बध्वा । (तत्) । (अपश्यत्) पश्यति । (तत्) । (अभवत्) भवति । (तत्)। (आसीत्) अस्ति ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यः परमेश्वरो द्यावापृथिवी सद्य इत्वा पर्यपश्यद्, यो लोकान् सद्य इत्वा पर्यभवत्, यो दिशः सद्य इत्वा पर्यासीद्, यः स्वः सद्य इत्वा पर्यपश्यद्, य ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य तत्सुखमपश्यद् येन-तत्सुखमभवद्, यतस्तद्विज्ञानमासीत्, तं यथावद्विज्ञायोपासीरन् ॥ १२ ॥

भावार्थः—ये[1] मनुष्याः परमेश्वरमेव भजन्ति, तन्निर्मितां सृष्टिं सुखायोपयुञ्जते, त ऐहिकं पारमार्थिकं विद्याजन्यं सुखं च सद्यः प्राप्य सततमानन्दन्ति ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि को (सद्यः) शीघ्र (इत्वा) प्राप्त होके (परि, अपश्यत्) सब ओर से देखता है, जो (लोकान्) देखने योग्य सृष्टिस्थ भूगोलों को शीघ्र प्राप्त हो के (परि. अभवत्) सब ओर से प्रकट होता, जो (दिशः) पूर्वादि दिशाओं को शीघ्र प्राप्त हो के (परि, आसीत्) सब ओर से विद्यमान है, जो (स्वः) सुख को शीघ्र प्राप्त हो के (परि) सब ओर से देखता है, जो (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (तन्तुम्) कारण को (विचृत्य) विविध प्रकार से बांध के (तत्) उस सुख को देखता [है,] जिस से (तत्) वह सुख हुआ [है] और जिससे (तत्) वह विज्ञान हुआ है, उसको यथावत् जान के उपासना करो ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर ही का भजन करते और उस की रची सृष्टि को सुख के लिये उपयोग में लाते हैं, वे इस लोक, परलोक और विद्या से हुए सुख को शीघ्र प्राप्त हो के निरन्तर आनन्दित होते हैं ॥ १२ ॥

सदसस्पतिमित्यस्य मेधाकाम ऋषिः । इन्द्रो देवता । भुरिग्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ १३ ॥

---

1. 'हे मनुष्या' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठोऽनन्वितत्वात् ।

सदसः । पतिम् । अद्भुतम् । प्रियम् । इन्द्रस्य । काम्यम् ॥
सनिम् । मेधाम् । अयासिषम् । स्वाहा ॥ १३ ॥

पदार्थः—(सदसः) सभायाः, ज्ञानस्य, न्यायस्य, दण्डस्य वा । (पतिम्) पालकं स्वामिनम् (अद्भुतम्) आश्चर्यगुणकर्मस्वभावम् । (प्रियम्) प्रीतिविषयं, प्रसन्नकरं, प्रसन्नं वा । (इन्द्रस्य) इन्द्रियाणां स्वामिनो जीवस्य । (काम्यम्) कमनीयम् । (सनिम्) सनन्ति संविभजन्ति सत्याऽसत्ये यया, ताम् । (मेधाम्) संगतां प्रज्ञाम् । (अयासिषम्) प्राप्नुयाम् । (स्वाहा) सत्यया क्रियया वाचा वा ॥१३॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! अहं स्वाहा यं सदसस्पतिमद्भुतमिन्द्रस्य काम्यं प्रियं परमात्मानमुपास्य संसेव्य च सनिं मेधामयासिषं तं परिचर्यैतां यूयमपि प्राप्नुत ॥ १३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं परमात्मानं सेवन्ते ते सर्वा विद्याः प्राप्य शुद्धया प्रज्ञया सर्वाणि सुखानि लभन्ते ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! मैं (स्वाहा) सत्य क्रिया वा वाणी से जिस (सदसः) सभा, ज्ञान, न्याय वा दण्ड के (पतिम्) रक्षक [अथवा स्वामी] (अद्भुतम्) आश्चर्य गुण कर्म स्वभाव वाले (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के मालिक जीव के (काम्यम्) कमनीय (प्रियम्) प्रीति के विषय, प्रसन्न करने हारे वा प्रसन्नरूप परमात्मा की उपासना और सेवा करके (सनिम्) सत्य असत्य का जिस से सम्यक् विभाग किया जाय, उस (मेधाम्) उत्तम बुद्धि को (अयासिषम्) प्राप्त होऊं, उस ईश्वर की सेवा करके इस बुद्धि को तुम लोग भी प्राप्त होओ ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सेवन करते हैं, वे सब विद्याओं को पाकर शुद्ध बुद्धि से सब सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

यामित्यस्य मेधाकाम ऋषिः । परमात्मा देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैरीश्वराद् बुद्धिर्याचनीयेत्याह—

मनुष्यों को ईश्वर से बुद्धि की याचना करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १४ ॥

याम् । मे॒धाम् । दे॒व॒ग॒णा इति॑ दे॒व॒ऽग॒णाः । पि॒तर॑ः । च॒ । उ॒पास॑त॒ इत्यु॑प॒ऽआस॑ते ॥ तया॑ । माम् । अ॒द्य । मे॒धया॑ । अग्ने॑ । मे॒धा॒वि॑नम् । कु॒रु॒ । स्वाहा॑ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(याम्)। (मेधाम्) प्रज्ञां धनं वा। मेधेति धननामसु पठितम् (निघं० २। १०)। (देवगणाः) देवानां विदुषां समूहाः। (पितरः) पालयितारो विज्ञानिनः। (च)। (उपासते) प्राप्य सेवन्ते। (तया)। (माम्)। (अद्य)। (मेधया)। (अग्ने) स्वप्रकाशत्वेन विद्याविज्ञापक! (मेधाविनम्) प्रशस्ता मेधा विद्यते यस्य, तम्। (कुरु)। (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्नध्यापक! जगदीश्वर वा! देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते तया मेधया मामद्य स्वाहा मेधाविनं कुरु ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्याः परमेश्वरमुपास्याप्तं विद्वांसं संसेव्य, शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनञ्च प्राप्तुमिच्छेयुः, अन्यांश्चैवं प्रापयेयुः ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) स्वयं प्रकाशरूप होने से विद्या के जताने हारे ईश्वर! वा अध्यापक विद्वन्! (देवगणाः) अनेकों विद्वान् (च) और (पितरः) रक्षा करनेहारे ज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धि वा धन को (उपासते) प्राप्त होके सेवन करते हैं, (तया) उस (मेधया) बुद्धि वा धन से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (स्वाहा) सत्य वाणी से (मेधाविनम्) प्रशंसित बुद्धि वा धन वाला (कुरु) कीजिये ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग परमेश्वर की उपासना और आप्त विद्वान् की सम्यक् सेवा करके शुद्ध विज्ञान और धर्म से मिलनेवाले धन को प्राप्त होने की इच्छा करें और दूसरों को भी ऐसे ही प्राप्त करावें ॥ १४ ॥

मेधामित्यस्य मेधाकाम ऋषिः। परमेश्वरविद्वांसौ देवते। निचृद् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है॥

मे॒धां मे॒ वरु॑णो ददातु मे॒धाम॒ग्निः प्र॒जाप॑तिः। मे॒धामिन्द्र॑श्च वा॒युश्च॑ मे॒धां धा॒ता द॑दातु मे॒ स्वाहा॑ ॥ १५ ॥

मेधाम् । मे । वरुणः । ददातु । मेधाम् । अग्निः । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः ॥ मेधाम् । इन्द्रः । च । वायुः । च । मेधाम् । धाता । ददातु । मे । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(मेधाम्) शुद्धां धियं धनं वा । (मे) मह्यम् । (वरुणः) श्रेष्ठः । (ददातु) । (मेधाम्) । (अग्निः) विद्याप्रकाशितः । (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकः । (मेधाम्) । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । (च) । (वायुः) बलिष्ठो बलप्रदः । (च) । (मेधाम्) । (धाता) सर्वस्य संसारस्य राज्यस्य [धारकः] । (ददातु) । (मे) मह्यम् । (स्वाहा) धर्म्यया क्रियया ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वरुणः परमेश्वरो विद्वान् वा स्वाहा मे मेधां ददातु, अग्निः प्रजापतिर्मेधां ददातु, इन्द्रो मेधां ददातु, वायुश्च मेधां ददातु, धाता च मे मेधां ददातु, तथा युष्मभ्यमपि ददातु ॥ १५ ॥

भावार्थः—मनुष्या यथाऽऽत्मार्थं [शुद्धं] गुणकर्मस्वभावं सुखं चेच्छेयुस्तादृशमेवाऽन्यार्थम् । यथा स्वस्योन्नतये प्रार्थयेयुस्तथा परमेश्वरस्य विदुषाञ्च सकाशादन्येषा[1]मपि प्रार्थयेयुः । न केवलं प्रार्थनामेव कुर्युः, किं तर्हि सत्याचरणमपि । यदा यदा विदुषां समीपं गच्छेयुस्तदा तदा सर्वेषां कल्याणाय प्रश्नोत्तराणि कुर्युः ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (वरुणः) अति श्रेष्ठ परमेश्वर वा विद्वान् (स्वाहा) धर्मयुक्त क्रिया से (मे) मेरे लिये (मेधाम्) शुद्ध बुद्धि वा धन को (ददातु) देवे, (अग्निः) विद्या से प्रकाशित (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (मेधाम्) बुद्धि को देवे, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् (मेधाम्) बुद्धि को देवे, (च) और (वायुः) बलदाता, बलवान् बुद्धि को देवे, (च) और (धाता) सब संसार वा राज्य का धारण करने हारा ईश्वर वा विद्वान् (मे) मेरे लिये बुद्धि, धन को (ददातु) देवे, वैसे तुम लोगों को भी देवे ॥ १५ ॥

भावार्थः—मनुष्य जैसे अपने लिये [अच्छे] गुण, कर्म, स्वभाव और सुख को चाहें वैसे औरों के लिये भी चाहें । जैसे अपनी अपनी उन्नति की चाहना करें, वैसे परमेश्वर और विद्वानों के निकट से अन्यों की उन्नति की [भी] प्रार्थना करें । केवल प्रार्थना ही न करें, किन्तु सत्य आचरण भी करें । जब जब विद्वानों के निकट जावें तब तब सब के कल्याण के लिये प्रश्न और उत्तर किया करें ॥ १५ ॥

१. 'उन्नतये' इति शेषः ।

इदं म इत्यस्य श्रीकाम ऋषिः । विद्वद्राजानौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ १६ ॥

इदम् । मे । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । उभे इत्युभे । श्रियम् । अश्नुताम् ॥ मयि । देवाः । दधतु । श्रियम् । उत्तमामित्युत्ऽतमाम् । तस्यै । ते । स्वाहा ॥ १६ ॥

पदार्थः—(इदम्) । (मे) मम । (ब्रह्म) वेदेश्वरविज्ञानं तद्वत्कुलम् । (च) । (क्षत्रम्) राज्यं, धनुर्वेदविद्या, क्षत्रियकुलम् । (च) । (उभे) । (श्रियम्) राजलक्ष्मीम् । (अश्नुताम्) प्राप्नुताम् । (मयि) । (देवाः) विद्वांसः । (दधतु) धरन्तु । (श्रियम्) शोभां लक्ष्मीं च । (उत्तमाम्) अतिश्रेष्ठाम् । (तस्यै) श्रियै । (ते) तुभ्यम् । (स्वाहा) सत्याचरणया क्रियया ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! भवत्कृपया, हे विद्वन् ! तव पुरुषार्थेन च स्वाहा मे ममेदं ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । यथा देवा मय्युत्तमां श्रियं दधतु तथाऽन्येष्वपि । हे जिज्ञासो ! ते तुभ्यं तस्यै वयं प्रयतेमहि ॥ १६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालनेन विदुषां सेवया सत्कारेण सर्वेषां मनुष्याणां मध्याद्ब्राह्मणक्षत्रियौ सुशिक्ष्य, विद्यादिसद्गुणैः संयोज्य, सर्वेषामुन्नतिं विधाय, स्वात्मवत् सर्वेषु वर्त्तेरन्, ते सर्वपूज्याः स्युरिति ॥ १६ ॥

अत्र परमेश्वरविद्वत्प्रज्ञाधनप्राप्त्युपायगुणवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! आपकी कृपा और हे विद्वन् ! तेरे पुरुषार्थ से (स्वाहा) सत्याचरणरूप क्रिया से (मे) मेरे (इदम्) ये (ब्रह्म) वेद, ईश्वर का विज्ञान वा इनका ज्ञाता पुरुष (च) और (क्षत्रम्) राज्य, धनुर्वेद विद्या और क्षत्रिय कुल (च) भी ये (उभे) दोनों (श्रियम्) राज्य की लक्ष्मी को (अश्नुताम्) प्राप्त हों । जैसे (देवाः) विद्वान् लोग (मयि) मेरे निमित्त

(उत्तमाम्) अतिश्रेष्ठ (श्रियम्) शोभा वा लक्ष्मी को (दधतु) धारण करें [वैसे औरों के निमित्त भी धारण करें] । हे जिज्ञासु जन ! (ते) तेरे लिये भी (तस्यै) उस श्री के अर्थ हम लोग प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा [का] पालन और विद्वानों की सेवा सत्कार से सब मनुष्यों के बीच से ब्राह्मण क्षत्रिय को सुन्दर शिक्षा, विद्यादि सद्गुणों से संयुक्त और सब की उन्नति का विधान कर अपने आत्मा के तुल्य सब में वर्तें, वे सब को पूजने योग्य होवें ॥ १६ ॥

इस अध्याय में परमेश्वर, विद्वान् और बुद्धि तथा धन की प्राप्ति के उपायों का वर्णन होने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय में कहे अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतपरमविदुषां विरजानन्द-
सरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्येण
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य-
भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
द्वात्रिंशोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

---

* ओ३म् *

अथ चत्वारिंशाऽध्यायारम्भः ॥

ओ३म्, विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव।
यद्भ॒द्रं तं न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥

ईशावास्यमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ मनुष्याः परमात्मानं विज्ञाय किङ्कुर्युरित्याह—

अब चालीसवें अध्याय का आरम्भ है, इस के प्रथम मन्त्र में मनुष्य ईश्वर को जानके क्या करें, इस विषय का वर्णन में किया है ॥

ई॒शा वा॒स्य॒मि॒दꣳ सर्वं॒ यत् किं च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त्।
तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म् ॥ १ ॥

ई॒शा। वा॒स्य॒म्। इ॒दम्। सर्व॑म्। यत्। किम्। च॒। जग॑त्याम्। जग॑त् ॥ तेन॑। त्य॒क्तेन॑। भु॒ञ्जी॒थाः॒। मा। गृ॒धः॒। कस्य॑। स्वि॒त्। धन॑म् ॥ १ ॥

पदार्थः—(ईशा) ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना। (वास्यम्) आच्छादयितुं योग्यं, सर्वतोऽभिव्याप्यम्। (इदम्) प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तम्[1]। (सर्वम्) अखिलम्। (यत्)। (किम्)। (च)। (जगत्याम्) गम्यमानायां सृष्टौ। (जगत्) यद्गच्छति, तत्। (तेन)। (त्यक्तेन) वर्जितेन=तच्चित्तरहितेन। (भुञ्जीथाः) भोगमनुभवेः। (मा) निषेधे। (गृधः) अभिकाङ्क्षीः। (कस्य, स्वित्) कस्यापि, स्विदि[ति] प्रश्ने वा। (धनम्) वस्तुमात्रम् ॥ १ ॥

---

१. '०पृथिव्यन्तरम्' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः। भाषापदार्थोऽत्र द्रष्टव्यः।

अन्वयः—हे मनुष्य[1] ! त्वं यदिदं सर्वं जगत्यां जगद् ईशाऽऽवास्यमस्ति, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, किञ्च कस्य स्विद्धनं मा गृधः ॥ १ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या ईश्वराद् बिभ्यति, अयमस्मान् सर्वदा सर्वतः पश्यति, जगदिदमीश्वरेण व्याप्तं, सर्वत्रेश्वरोस्तीति व्यापकमन्तर्यामिणं निश्चित्य कदाचिदप्यन्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चिदपि द्रव्यं ग्रहीतुं नेच्छेयुः, ते धार्मिका भूत्वाऽत्र परत्राभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देयुः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी-पर्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) प्राप्त होने योग्य सृष्टि में (जगत्) चर प्राणीमात्र (ईशा) सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त सर्वशक्तिमान् परमात्मा से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् सब ओर से व्याप्त होने योग्य है, (तेन) उस (त्यक्तेन) त्याग किये हुए जगत् से (भुञ्जीथाः) पदार्थों के भोगने का अनुभव कर, किन्तु (कस्य, स्वित्) किसी के भी (धनम्) वस्तुमात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हम को सदा सब ओर से देखता है, यह जगत् ईश्वर से व्याप्त और सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है। इस प्रकार व्यापक अन्तर्यामी परमात्मा का निश्चय करके अन्याय के आचरण से [कभी भी] किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं किया चाहते, वे धर्मात्मा होकर इस लोक के सुख और परलोक में मुक्तिरूप सुख को प्राप्त कर के सदा आनन्द में रहें ॥ १ ॥

कुर्वन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ वैदिककर्मणः प्राधान्यमुच्यते—

अब वेदोक्त कर्म की उत्तमता अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

कुर्वन् । एव । इह । कर्माणि । जिजीविषेत् । शतम् । समाः ॥ एवम् । त्वयि । न । अन्यथा । इतः । अस्ति । न । कर्म । लिप्यते । नरे ॥ २ ॥

---

१. 'मनुष्या' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः ।

पदार्थः—(कुर्वन्) । (एव) । (इह) अस्मिन् संसारे । (कर्माणि) धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि[1] । (जिजीविषेत्) जीवितुमिच्छेत् । (शतम्) । (समाः) संवत्सरान् । (एवम्) अमुना प्रकारेण । (त्वयि) । (न) निषेधे । (अन्यथा) । (इतः) अस्मात् प्रकारात् । (अस्ति) भवति । (न) निषेधे । (कर्म) अधर्म्यमवैदिकं मनोरथ[2]सम्बन्धि [वा] कर्म । (लिप्यते) । (नरे) नयनकर्त्तरि ॥ २ ॥

अन्वयः—मनुष्य इह कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समा जिजीविषेद्, एवं धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे न कर्म लिप्यते, इतोऽन्यथा नास्ति लेपाभावः ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्या आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं, कर्त्तुमर्हां तदाऽज्ञां च मत्वा, शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीयाल्पमृत्युं[3] घ्नन्तु, युक्ताहारविहारेण शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु । यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते, तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धिर्निवर्त्तते, विद्यायुः सुशीलता च वर्द्धते ॥ २ ॥

पदार्थः—मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे । (एवम्) इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म में प्रवर्त्तमान (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों को चलाने हारे जीवन के इच्छुक होते [पुरुष में] हुए (कर्म) अधर्मयुक्त अवैदिक, काम्य कर्म (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता । (इतः) इस से जो [(अन्यथा)] प्रकार से कर्म लगने का (न, अस्ति) अभाव नहीं होता है ॥ २ ॥

---

१. कर्मशब्दो 'यत् कर्त्तुमर्हं तत् कर्म' इति व्युत्पत्त्या धर्म्याणां व्यवहाराणामेव वाचकः, नाधर्म्याणाम् । तच्च धर्म्यं कर्माऽपि द्विविधं निष्कामसकामभेदात् । यतो मन्त्रारम्भे 'कुर्वन्नेव' इति एवकारप्रयोगः, उत्तरार्धे च 'न कर्म लिप्यते नरे' इति चोपलभ्यते, तस्मात् पूर्वत्र कर्मशब्देन निष्कामकर्म एवोच्यते, उत्तरकर्मशब्देन च सकाम कर्म इति विज्ञायते ।

२. 'मनोर्थसंबन्धि' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः स्यात् ।

३. इह 'अपमृत्युं' इति पाठो युक्तः स्यात् । अकालमृत्योरर्थे वैदिकवाङ्मये 'अपमृत्यु' पदं प्रायेण प्रयुज्यते । अथवा 'अल्पे वयसि मृत्युः अल्पमृत्युः' मध्यपदलोपी समासो द्रष्टव्यः ।

भावार्थः—मनुष्य आलस्य को छोड़ के सब [को] देखने हारे न्यायाधीश परमात्मा और करने योग्य उस की आज्ञा को मानकर, अशुभ[1] कर्मों को छोड़ते हुए ब्रह्मचर्य के सेवने से विद्या और अच्छी शिक्षा को पाकर, उपस्थ इन्द्रिय के रोकने से पराक्रम को बढ़ाकर, अल्पमृत्यु[2] को हटावें. युक्त आहार विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें। जैसे जैसे मनुष्य सुकर्मों में चेष्टा करते हैं, वैसे वैसे ही पापकर्म से बुद्धि की निवृत्ति होती [है] और विद्या, अवस्था[3] और सुशीलता बढ़ती है ॥ २ ॥

असुर्या इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथात्महन्तारो जनाः कीदृशा इत्याह—

अब आत्मा के हननकर्ता अर्थात् आत्मा को भूले हुए जन कैसे होते हैं, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

असुर्या॒ नाम॒ ते लो॒का अ॒न्धेन॒ तम॒सावृ॑ताः। ताँस्ते प्रेत्यापि॑ गच्छन्ति॒ ये के चा॑त्म॒हनो॒ जना॑ः ॥ ३ ॥

अ॒सु॒र्याः। नाम॑। ते। लो॒काः। अ॒न्धेन॑। तम॑सा। आवृ॑ता॒ इत्या॒ऽवृ॑ताः ॥ तान्। ते। प्रेत्येति॒ प्रऽइ॑त्य। अपि॑। ग॒च्छ॒न्ति॒। ये। के। च॒। आ॒त्म॒ह॒न इत्या॑त्म॒ऽह॒नः। जना॑ः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(असुर्याः) असुराणां प्राणपोषणतत्पराणाम्, अविद्यादि-युक्तानामिमे सम्बन्धिनः, तत्सदृशः पापकर्माणः। (नाम) प्रसिद्धौ। (ते) (लोकाः) लोकन्ते पश्यन्ति, ते जनाः। (अन्धेन) अन्धकार-रूपेण। (तमसा) अत्यावरकेण। (आवृताः) समन्ताद्युक्ता आच्छादिताः। (तान्) दुःखान्धकारावृतान् भोगान्। (ते)। (प्रेत्य) मरणं प्राप्य। (अपि) जीवन्तोऽपि। (गच्छन्ति) प्राप्नुवन्ति। (ये) (के)। (च)। (आत्महनः) य आत्मानं घ्नन्ति तद्विरुद्धमाचरन्ति, ते। (जनाः) मनुष्याः ॥ ३ ॥

---

१. 'शुभ कर्मों' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः। २. अर्थात् अकालमृत्यु।

३. 'अवस्था' पाठ वह युक्त नहीं है। क्योंकि अवस्था शब्द शरीर के परिवर्तन (बाल्य युवत्व और वृद्धत्व) को प्रकट करता है। 'आयुः' पाठ होना चाहिए।

अन्वयः—ये लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ये के चात्महनो जनाः सन्ति, तेऽसुर्या नाम । ते प्रेत्यापि तान् गच्छन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थः—त एव असुरा दैत्या राक्षसाः पिशाचा दुष्टा मनुष्या, य आत्मन्यन्यद्, वाच्यन्यत्, कर्मण्यन्यदाचरन्ति, ते न कदाचिद् 'अविद्यादुःखसागरादुत्तीर्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति । ये च यदात्मना तन्मनसा, यन्मनसा तद्वाचा, यद्वाचा तत्कर्मणाऽनुतिष्ठन्ति, त एव देवा आर्याः सौभाग्यवन्तोऽखिलजगत् पवित्रयन्त इहामुत्रातुलं सुखमश्नुवते ॥ ३ ॥

पदार्थः—जो (लोकाः) देखनेवाले लोग (अन्धेन) अन्धकाररूप (तमसा) ज्ञान का आवरण[2] करनेहारे अज्ञान से (आवृताः) सब ओर से ढंपे हुए (च) और (ये) जो (के) कोई (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं, (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राणपोषण में तत्पर अविद्यादि दोषयुक्त लोगों के सम्बन्धी, उनके [सदृश] पापकर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध में होते हैं, (ते) वे (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुए भी (तान्) उन दुःख और अज्ञानरूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस तथा पिशाच आदि हैं जो आत्मा में और जानते, वाणी से और बोलते, और करते कुछ और ही हैं । वे कभी अविद्यारूप दुःखसागर से पार हो आनन्द को नहीं प्राप्त हो सकते । और जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म से निष्कपट एकसा आचरण करते हैं, वे ही देव आर्य सौभाग्यवान् सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

अनेजदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ब्रह्मा देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशो जन ईश्वरं साक्षात् करोतीत्याह—

कैसा जन ईश्वर को साक्षात् करता है, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ।

---

१. 'विद्या' इत्यपपाठः पूर्वमुद्रिते । २. 'श्रवण' यह पूर्वमुद्रित में अशुद्ध पाठ है ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

अनेजत्। एकम्। मनसः। जवीयः। न। एनत्। देवाः। आप्नुवन्। पूर्वम्। अर्षत् ॥ तत्। धावतः। अन्यान्। अति। एति। तिष्ठत्। तस्मिन्। अपः। मातरिश्वा। दधाति ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अनेजत्) न एजते कम्पते तदचलत्, स्वावस्थायाश्च्युतिः कम्पनं, तद्रहितम्। (एकम्) अद्वितीयं ब्रह्म। (मनसः) मनोवेगात्। (जवीयः) अतिशयेन वेगवत्। (न)। (एनत्)। (देवाः) चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा[1]। (आप्नुवन्) प्राप्नुवन्ति। (पूर्वम्) पुरःसरं पूर्णम्। (अर्षत्[2]) गच्छत्। (धावतः) विषयान् प्रति पततः। (अन्यान्) स्वस्वरूपाद् विलक्षणान् मनोवागिन्द्रियादीन्। (अति) उल्लङ्घने। (एति) प्राप्नोति, गच्छति। (तिष्ठत्) स्वस्वरूपेण स्थिरं सत्। (तस्मिन्) सर्वत्राऽभिव्याप्ते। (अपः) कर्म क्रियां वा। (मातरिश्वा) मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरति वायुः, तद्वद्वर्त्तमानो जीवः। (दधाति) ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः! यदेकमनेजन्मनसो जवीयः पूर्वमर्षद् ब्रह्माऽस्ति, एनद्देवा नाप्नुवन्, तत् स्वयं तिष्ठत् सत् स्वानन्तव्याप्त्या धावतोऽन्यानत्येति, तस्मिन् स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा वायुरिव जीवोऽपो दधातीति विजानीत ॥ ४ ॥

भावार्थः—ब्रह्मणोऽनन्तत्वाद् यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र पुरस्तादेवाऽभिव्याप्तमग्रस्थं ब्रह्म वर्त्तते, तद्विज्ञानं शुद्धेन मनसैव जायते, चक्षुरादिभिरविद्वद्भिश्च द्रष्टुमशक्यमस्ति। स्वयं निश्चलं सत्सर्वान् जीवान् नियमेन चालयति धरति च। तस्यातिसूक्ष्मत्वादतीन्द्रियत्वाद्धार्मिकस्य विदुषो योगिन एव साक्षात्कारो भवति, नेतरस्य ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो! जो (एकम्) अद्वितीय (अनेजत्) नहीं कम्पने वाला अर्थात् अचल, अपनी अवस्था से हटना कम्पन कहाता है, उस से

१. वापदेनात्र कस्य समुच्चयोऽभिप्रेत इति न विज्ञायते। मनसः सम्भवति। यद्वा वापदं प्रमादपठितं स्यात्। २. 'अर्शत्' इति माध्यन्दिनपाठः।

रहित (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अति वेगवान् (पूर्वम्) सब से आगे (अर्षत्) चलता हुआ अर्थात् जहां कोई चलकर जावे वहां प्रथम ही सर्वत्र व्याप्ति से पहुंचा हुआ ब्रह्म है। (एनत्) इस पूर्वोक्त ईश्वर को (देवाः) चक्षु आदि इन्द्रिय (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त होते। (तत्) वह परब्रह्म अपने आप (तिष्ठत्) स्थिर हुआ, अपनी अनन्त व्याप्ति से (धावतः) विषयों की ओर गिरते हुए (अन्यान्) आत्मा के स्वरूप से विलक्षण, मन वाणी आदि इन्द्रियों का (अति, एति) उल्लङ्घन कर जाता है [अर्थात् वहां पूर्व ही विद्यमान होता है]। (तस्मिन्) उस सर्वत्र अभिव्याप्त ईश्वर की स्थिरता में (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में प्राणों को धारण करने हारे वायु के तुल्य जीव (अप) कर्म वा क्रिया को (दधाति) धारण करता है, [अर्थात् उसके नियमों से ही कर्म करने में समर्थ होता है] यह जानो ॥ ४ ॥

भावार्थः—ब्रह्म के अनन्त होने से जहां जहां मन जाता है, वहां वहां प्रथम से ही अभिव्याप्त, पहिले से ही स्थिर ब्रह्म वर्त्तमान है। उसका विज्ञान शुद्ध मन से होता है, चक्षु आदि इन्द्रियों और अविद्वानों से देखने योग्य नहीं है। वह आप निश्चल हुआ सब जीवों को नियमों से चलाता और धारण करता है। उसके अतिसूक्ष्म इन्द्रियगम्य न होने के कारण धर्मात्मा विद्वान् योगी को ही उसका साक्षात् ज्ञान होता है, अन्य [साधारण जन] को नहीं ॥ ४ ॥

तदेजतीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृद् अनुष्टुप्[1] छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

विदुषां निकटेऽविदुषां च ब्रह्म दूरेऽस्तीत्याह—

विद्वानों के निकट और अविद्वानों से ब्रह्म दूर है, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं।

तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के। तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ॥ ५ ॥

तत्। एज॒ति। तत्। न। एज॒ति। तत्। दू॒रे। तत्। ऊँ॒ इत्यूँ॑। अन्ति॒के ॥ तत्। अ॒न्तः। अ॒स्य॒। सर्व॑स्य। तत्। ऊँ॒ इत्यूँ॑। सर्व॑स्य। अ॒स्य॒। बा॒ह्य॒तः ॥ ५ ॥

---

१. 'त्रिष्टुप्' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः, एकत्रिंशदक्षरवत्वान्मन्त्रस्य। स्वरनिर्देशश्च पूर्वत एव युक्तः।

पदार्थः—(तत्)। (एजति) कम्पते चलतिमूढदृष्ट्या। (तत्)। (न)। (एजति) कम्पते कम्प्यते[1] वा। (तत्)। (दूरे) अधर्मात्मभ्यो-ऽविद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः। (तत्)। (उ)। (अन्तिके) धर्मात्मनां विदुषां योगिनां समीपे। (तत्)। (अन्तः) आभ्यन्तरे। (अस्य)। (सर्वस्य) अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा। (तत्)। (उ)। (सर्वस्य) समग्रस्य। (अस्य) प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकस्य। (बाह्यतः) बहिरपि वर्त्तमानः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! तद् ब्रह्मैजत्ति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्याऽन्तस्तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतो वर्तत इति निश्चिनुत ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! तद् ब्रह्म मूढदृष्टौ कम्पत इव, तत्स्वतो व्यापकत्वात् कदाचिन्न चलति, ये तदाज्ञाविरुद्धास्ते इतस्ततो धावन्तोऽपि तन्न विजानन्ति। ये चेश्वराज्ञानुष्ठातारस्ते स्वात्मस्थमति-निकटं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति। यद् ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याऽभ्यन्तरा-ऽवयवानभिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पापपुण्या-त्मककर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं प्रयच्छति, एतदेव सर्वैर्ध्येयम्, अस्मादेव सर्वैर्भेतव्यमिति ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (तत्) वह ब्रह्म (एजति) मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता, (तत्, न, एजति) अपने स्वरूप से न चलायमान और न [2]चलाया जाता, (तत्) वह (दूरे) अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर अर्थात् क्रोड़ों वर्ष में भी नहीं प्राप्त होता, (तत्) वह (उ) ही (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप, । (तत्) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् वा जीवों के (अन्तः) भीतर (उ) और (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य) इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप जगत् के (बाह्यतः) बाहर भी वर्तमान है [ऐसा निश्चय करो] ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! वह ब्रह्म मूढ की दृष्टि में कम्पता जैसा है, वह आप व्यापक होने से कभी नहीं चलायमान होता। जो जन उसकी आज्ञा से विरुद्ध हैं, वे इधर उधर भागते हुए भी उसको नहीं जानते। और जो ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान करने वाले हैं, वे अपने आत्मा में स्थित अतिनिकट ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर भीतर [के] अवयवों में अभिव्याप्त हो के अन्तर्यामिरूप से सब जीवों के सब पाप पुण्यरूप कर्मों को जानता हुआ

---

१. कम्पयतेः कर्मणि। २. 'जलाया जाता' पूर्वमुद्रितेऽपपाठः

यथार्थ फल देता है, उसी का सब को ध्यान करना चाहिये[1] और उसी से सब को डरना चाहिये ॥ ५ ॥

यस्त्वित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथेश्वरविषयमाह—

अब ईश्वर विषयक वर्णन करते हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

यः। तु। सर्वाणि। भूतानि। आत्मन्। एव। अनुपश्यतीत्यनुऽपश्यति। सर्वभूतेष्विति सर्वऽभूतेषु। च। आत्मानम्। ततः। न। वि। चिकित्सति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यः) विद्वान् जनः। (तु) पुनरर्थे। (सर्वाणि) अखिलानि। (भूतानि) प्राण्यप्राणिरूपाणि। (आत्मन्) परमात्मनि। (एव)। (अनुपश्यति) विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते। (सर्वभूतेषु) सर्वेषु प्रकृत्यादिषु। (च)। (आत्मानम्) अतति सर्वत्र व्याप्नोति, तम्। (ततः) तदनन्तरम्। (न)। (वि)। (चिकित्सति) संशयं प्राप्नोति ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! य आत्मन्नेव सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति यस्तु सर्वभूतेष्वात्मानं च समीक्षते, स ततो न विचिकित्सतीति यूयं विजानीत ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! ये सर्वव्यापिनं न्यायकारिणं सर्वज्ञं सनातनं सर्वात्मानं सकलस्य द्रष्टारं परमात्मानं विदित्वा सुखदुःखहानिलाभेषु स्वात्मवत् सर्वाणि भूतानि विज्ञाय धार्मिका जायन्ते, त एव मोक्षमश्नुवते ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (यः) जो विद्वान् जन (आत्मन्) परमात्मा के भीतर (एव) ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी अप्राणियों को विद्या धर्म और योगाभ्यास करने (अनु पश्यति) पश्चात् ध्यानदृष्टि से देखता है, (तु) और जो (सर्वभूतेषु) सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) आत्मा को (च) भी

---

१. 'वही सब को ध्यान में रखना चाहिए' यह पूर्वमुद्रित पाठ है।

देखता है, वह विद्वान् (ततः) तिस पीछे[1] (न) नहीं (विचिकित्सति) संशय को प्राप्त होता [है], ऐसा तुम जानो ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो लोग सर्वव्यापी, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सब के आत्मा, अन्तर्यामी, सब के द्रष्टा परमात्मा को जान कर सुख दुःख हानि लाभों में अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को जानकर धार्मिक होते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

यस्मिन्नित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृदनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ केऽविद्यादिदोषान् जहतीत्याह—

अब कौन अविद्यादि दोषों को त्यागते हैं, इस विषय का वर्णन करते हैं ।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

यस्मिन् । सर्वाणि । भूतानि । आत्मा । एव । अभूत् । विजानत इति विऽजानतः ॥ तत्र । कः । मोहः । कः । शोकः । एकत्वमित्येकऽत्वम् । अनुपश्यत इत्यनुऽपश्यतः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यस्मिन्) परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे[2] वा । (सर्वाणि) । (भूतानि) । (आत्मा) आत्मवत् । (एव) । (अभूत्) भवन्ति । अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम् । (विजानतः) विशेषेण समीक्षमाणस्य । (तत्र) तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य । (कः) । (मोहः) मूढावस्था । (कः) । (शोकः) परितापः । (एकत्वम्) परमात्मनोऽद्वितीयत्वम् । (अनुपश्यतः) अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद् द्रष्टुः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्मिन् परमात्मनि विजानतः सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत्, तत्रैकत्वमनुपश्यतो योगिनः को मोहोऽभूत् कः शोकश्च ॥ ७ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसः संन्यासिनः परमात्मना सहचरितानि प्राणिजातानि स्वात्मवद्विजानन्ति, यथा स्वात्मनो हितमिच्छन्ति, तथैव तेषु वर्त्तन्ते, एकमेवाऽद्वितीयं[3] परमात्मानं शरणमुपागताः सन्ति, तान्

---

१. अर्थात् उक्त ज्ञान होने के पश्चात् । २. विषयसप्तमी द्रष्टव्या ।
३. शरणविशेषणम् यद्वाऽद्वितीयस्येति साधु स्यात्

मोहशोकलोभादयो दोषाः कदाचिन्नाप्नुवन्ति । ये च स्वात्मानं यथावद्विज्ञाय परमात्मानं विदन्ति, ते सदा सुखिनो भवन्ति ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान वा धर्म में (विजानतः) विशेषकर ध्यानदृष्टि से देखते हुए को (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणीमात्र (आत्मा, एव) अपने तुल्य ही सुख दुःखवाले (अभूत्) [प्रतीत] होते हैं, (तत्र) उस परमात्मा आदि में (एकत्वम्) अद्वितीय भाव को (अनुपश्यतः) अनुकूल योगाभ्यास से साक्षात् देखते हुए योगिजन को (कः) कौन (मोहः) मूढ़ावस्था और (कः) कौन (शोकः) शोक वा क्लेश होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणिमात्र को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं, अर्थात् जैसे अपना हित चाहते, वैसे ही अन्यों में भी वर्तते हैं, एक अद्वितीय परमेश्वर के शरण को प्राप्त होते हैं, उनको मोह शोक और लोभादि कदाचित् प्राप्त नहीं होते । और जो लोग अपने आत्मा को यथावत् जान कर परमात्मा को जानते हैं, वे सुखी सदा होते हैं ॥ ७ ॥

स पर्यगादित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । स्वराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः परमेश्वरः कीदृश इत्याह—

फिर परमेश्वर कैसा है, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

सः । परि । अगात् । शुक्रम् । अकायम् । अव्रणम् । अस्नाविरम् । शुद्धम् । अपापविद्धमित्यपापऽविद्धम् ॥ कविः । मनीषी । परिभूरिति परिऽभूः । स्वयम्भूरिति स्वयम्ऽभूः । याथातथ्यत इति याथाऽतथ्यतः । अर्थान् । वि । अदधात् । शाश्वतीभ्यः । समाभ्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(सः) परमात्मा । (परि) सर्वतः । (अगात्) व्याप्तोऽस्ति । (शुक्रम्) आशुकरं[1] सर्वशक्तिमत् । (अकायम्)

१. अत्र अ० ३२ मं० १ पठितस्य शुक्रपदस्य (पृष्ठ १८६) टिप्पणी द्रष्टव्या ।

स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम् । (अव्रणम्) अच्छिद्रमच्छेद्यम् । (अस्नाविरम्) नाड्यादिसम्बन्धबन्धरहितम् । (शुद्धम्) अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदा पवित्रम् । (अपापविद्धम्) यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति, तत् । (कविः) सर्वज्ञः । (मनीषी) सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता[1] । (परिभूः) यो दुष्टान् पापिनः परिभवति, तिरस्करोति, सः । (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूपो[2] यस्य, संयोगेनोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो मातापितरौ गर्भवासो जन्म वृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते । (याथातथ्यतः) यथार्थतया । (अर्थान्) वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् । (वि) विशेषेण । (अदधात्) विधत्ते । (शाश्वतीभ्यः) सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः । (समाभ्यः) प्रजाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद् ब्रह्म शुक्रमकायव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं पर्यगाद्, यः कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यो याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् स एव युष्माभिरुपासनीयः ॥ ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यद्यनन्तशक्तिमदजं निरन्तरं सदामुक्तं न्यायकारि निर्मलं सर्वज्ञं सर्वस्य साक्षि नियन्तृ अनादिस्वरूपं ब्रह्म कल्पादौ जीवेभ्यः स्वोक्तैर्वेदैः शब्दार्थसम्बन्धविज्ञापिकां विद्यां नोपदिशेत् तर्हि कोपि विद्वान्न भवेत्, न च धर्मार्थकाममोक्षफलं प्राप्तुं शक्नुयात्, तस्मादिदमेव सदैवोपाध्वम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित; (अव्रणम्) छिद्ररहित और नहीं छेद करने योग्य, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन से रहित, (शुद्धम्) अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और (अपापविद्धम्) जो पापयुक्त पापकारी और पाप में प्रीति करने वाला कभी नहीं होता, (परि, अगात्) सब ओर से व्याप्त है, जो (कविः) सर्वज्ञ[3] (मनीषी) सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला और (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूप, जिस की संयोग से उत्पत्ति, वियोग से विनाश, माता पिता, गर्भवास, जन्म, वृद्धि और मरण नहीं होते, वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन अनादिस्वरूप, अपने अपने स्वरूप से उत्पत्ति और

१. अस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् । २. अस्य पुंस्त्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।
३ 'सर्वत्र' पूर्वमुद्रित में पाठ है ।

विनाशरहित (समाभ्यः) प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ भाव से (अर्थान्) वेद द्वारा सब पदार्थों को (व्यदधात्) विशेष कर बताता है, वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने के योग्य है । ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अनन्त शक्तियुक्त, अजन्मा, निरन्तर, सदा मुक्त, न्यायकारी, निर्मल, सर्वज्ञ, सब का साक्षी, नियन्ता, अनादिस्वरूप ब्रह्म कल्प के आरम्भ में जीवों को अपने कहे वेदों से शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को जनाने वाली विद्या का उपदेश न करे, तो कोई विद्वान् न होवे और न धर्म अर्थ काम और मोक्ष के फलों के भोगने को समर्थ हो । इसलिये इसी ब्रह्म की सदैव उपासना करो ॥ ८ ॥

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

के जना अन्धन्तमः प्राप्नुवन्तीत्याह—

कौन मनुष्य अन्धकार को प्राप्त होते हैं, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ।

अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततो भूयइव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬं रताः ॥ ९ ॥

अन्धम् । तमः । प्र । विशन्ति । ये । असम्भूतिमित्यसम्ऽभूतिम् । उपासत इत्युपऽआसते । ततः । भूयइवेति भूयःऽइव । ते । तमः । ये । ऊँ इत्यूँ । सम्भूत्यामिति सम्ऽभूत्याम् । रताः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अन्धम्) आवरकम् । (तमः) अन्धकारम् । (प्र) प्रकर्षेण । (विशन्ति) । (ये) । (असम्भूतिम्) अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृताख्यं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं जडं वस्तु । (उपासते) उपास्यतया जानन्ति । (ततः) तस्मात् । (भूयइव) अधिकमिव । (ते) । (तमः) अविद्यामयमन्धकारम् । (ये) । (उ) वितर्केण सह । (संभूत्याम्) महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ । (रताः) ये रमन्ते, ते ॥ ९ ॥

अन्वयः—ये परमेश्वरं विहायाऽसम्भूतिमुपासते तेऽन्धन्तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्यां रतास्त उ ततो भूयइव तमः प्रविशन्ति[1] ॥ ९ ॥

---

१. सत्यपीह 'इव' पदस्य प्रयोगे उपमालङ्कारो नोक्तः । अन्धं तम (सं० १२) इत्युत्तरमन्त्रे 'उपमालङ्कार' इत्युच्यते ।

भावार्थः—ये जनाः सकलजडजगतोऽनादि नित्यं कारणमुपास्यतया स्वीकुर्वन्ति तेऽविद्यां प्राप्य सदा क्लिश्यन्ति। ये च तस्मात् कारणादुत्पन्नं पृथिव्यादिस्थूलं सूक्ष्मं कार्यकारणाख्य[1]मनित्यं संयोगजन्यं कार्यं जगदिष्टमुपास्यं मन्यन्ते, ते गाढामविद्यां प्राप्याधिकतरं क्लिश्यन्ति। तस्मात् सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानमेव सर्वे सदोपासीरन् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(ये) जो लोग परमेश्वर को छोड़ कर (असम्भूतिम्) अनादि अनुत्पन्न सत्त्व रज और तमोगुणमय प्रकृतिरूप जड़ वस्तु को (उपासते) उपास्यभाव से जानते हैं, वे (अन्धम्, तमः) आवरण करने वाले अन्धकार को (प्रविशन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होते [हैं] और (ये) जो (सम्भूत्याम्) महत्तत्त्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में (रताः) रमण करते हैं, (ते) वे (उ) वितर्क के साथ (ततः) उस से (भूय इव) अधिक जैसे, वैसे (तमः) अविद्यारूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य समस्त जड़ जगत् के अनादि नित्य कारण को उपासना भाव से स्वीकार करते हैं, वे अविद्या को प्राप्त होकर क्लेश को प्राप्त होते [हैं], और जो उस कारण से उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म कार्य कारणाख्य अनित्य[2] संयोगजन्य कार्य जगत् को इष्ट उपास्य मानते हैं, वे गाढ़ अविद्या को पाकर अधिकतर क्लेश को प्राप्त होते हैं, इसलिये सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की ही सब सदा उपासना करें ॥ ९ ॥

---

१. त्रिविधं जगत्। किञ्चित् कारणरूपम्, किञ्चित् कार्यरूपम्, किञ्चिच्च कार्यकारणोभयात्मकम्। तत्र मूलभूता प्रकृतिः कारणरूपैव, तस्याः कारणान्तराभावात्। स्थूलभूतानि कार्यरूपाण्येव ततो विलक्षणकार्यान्तराणामनुपत्तेः। स्थूलभूतेभ्यः प्राञ्चि तत्त्वान्युभयरूपाणि पूर्वपूर्वतत्त्वादुत्पत्तेः कार्यरूपाणि, परपरतत्त्वोत्पादकत्वात् कारणरूपाणि च।

२. जगत् तीन प्रकार का है कारणरूप, कार्यरूप, कार्यकारण रूप। मूलभूत प्रकृति कारण रूप ही है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है जिस से वह उत्पन्न हुई हो। अन्तिम स्वरूप में निष्पन्न स्थूल भूत कार्यरूप ही हैं क्योंकि उनके पश्चात् कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, जिस के वे कारण बनें। अन्य तत्त्व कारण-कार्य उभयरूप हैं। पूर्वपूर्व तत्त्व से उनकी उत्पत्ति होने से वे कार्यरूप हैं, और अगले अगले तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, अतः वे उन के कारण होते है। इसलिए 'कार्य कारणाख्य अनित्य संयोग' पद रखे हैं।

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह—

फिर मनुष्य क्या करें, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १०॥

अन्यत्। एव। आहुः। सम्भवादिति सम्ऽभवात्। अन्यत्। आहुः। असम्भवादित्यसम्ऽभवात्। इति। शुश्रुम। धीराणाम्। ये। नः। तत्। विचचक्षिर इति विऽचचक्षिरे॥ १०॥

पदार्थः—(अन्यत्) कार्यं फलं वा[1]। (एव)। (आहुः) कथयन्ति। (सम्भवात्) संयोगजन्यात् कार्यात्। (अन्यत्) भिन्नम्। (आहुः) कथयन्ति। (असम्भवात्) अनुत्पन्नात् कारणात्। (इति) अनेन प्रकारेण। (शुश्रुम) शृणुमः। (धीराणां) मेधाविनां विदुषां योगिनाम्। (ये)। (नः) अस्मान् प्रति। (तत्) तयोर्विवेचनम्। (विचचक्षिरे) व्याचक्षते॥ १०॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा वयं धीराणां सकाशाद् यद् वचः शुश्रुम ये नस्तद्विचचक्षिरे, ते सम्भवादन्यदेवाहुरसम्भवादन्यदाहुरिति यूयमपि शृणुत॥ १०॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यथा विद्वांसः कार्यात् कारणाद् वस्तुनो भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारं गृह्णन्ति ग्राहयन्ति, तद्गुणान् विज्ञाय विज्ञापयन्ति, एवमेव यूयमपि निश्चिनुत॥ १०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे हम लोग (धीराणाम्) मेधावी योगी विद्वानों से जो वचन (शुश्रुम) सुनते हैं, (ये) जो वे लोग (नः) हमारे प्रति (विचचक्षिरे) व्याख्यानपूर्वक कहते हैं, वे लोग (सम्भवात्) संयोगजन्य कार्य से (अन्यत्, एव) और ही कार्य वा फल (आहुः) कहते [हैं], (असम्भवात्) उत्पन्न नहीं होने वाले कारण से (अन्यत्) और (आहुः) कहते हैं, (इति) इस बात को तुम भी सुनो॥ १०॥

[1] 'कार्यफलं वा' इति पूर्वमुद्रिते। अस्माभिस्तु भाषानुवादानुसार पाठः संशोधितः।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्यकारणरूप वस्तु से भिन्न भिन्न वक्ष्यमाण उपकार लेते और लिवाते हैं, तथा उन कार्यकारण के गुणों को जानकर जनाते हैं। ऐसे ही तुम लोग भी निश्चय करो ॥ १० ॥

सम्भूतिमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः कार्यकारणाभ्यां किं किं साधनीयमित्याह—

फिर मनुष्यों को कार्यकारण से क्या क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

सम्भूतिमिति सम्ऽभूतिम् । च । विनाशमिति विऽनाशम् । च । यः । तत् । वेद । उभयम् । सह ॥ विनाशेनेति विऽनाशेन । मृत्युम् । तीर्त्वा । सम्भूत्येति सम्ऽभूत्या । अमृतम् । अश्नुते ॥ ११ ॥

पदार्थः—(सम्भूतिम्) सम्भवन्ति यस्यां, तां कार्याख्यां सृष्टिम् । (च) तस्या गुणकर्मस्वभावान् । (विनाशम्) विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन्, [तं कारणरूपं जगत्] । (च) तद्गुणकर्मस्वभावान् । (यः) । (तत्) । (वेद) जानाति । (उभयम्) कार्यकारणस्वरूपं जगत् । (सह) । (विनाशेन) नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन[1] सह । (मृत्युम्) शरीरवियोगजन्यं दुःखम् । (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य । (सम्भूत्या) शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपयोत्पन्नया कार्यरूपया धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या । (अमृतम्) मोक्षम् । (अश्नुते) प्राप्नोति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो विद्वान् सम्भूतिं च विनाशं च सहोभयं तद्वेद स विनाशेन सह मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या सहामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! कार्यकारणाख्ये वस्तुनि निरर्थके न स्तः, किन्तु कार्यकारणयोर्गुणकर्मस्वभावान् विदित्वा, [ते] धर्मादिमोक्षसाध-

---

१. पूर्वया 'विनश्यन्त्यदृश्या भवन्ति पदार्था यस्मिन् तत् कारणरूपं जगत्' इति व्युत्पत्त्या विनाशशब्दो नित्यस्वरूपायाः प्रकृतेर्वाचकः ।

नेषु संप्रयोज्य, स्वात्मकार्यकारणयोर्विज्ञातेन[1] नित्यत्वेन मृत्युभयं त्यक्त्वा मोक्षसिद्धिं सम्पादयतेति कार्यकारणाभ्यामन्यदेव फलं निष्पादनीयमिति। अनयोर्निषेधो हि परमेश्वरस्थान उपासनाप्रकरणे वेदितव्यः ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते [हैं] उस कार्यरूप सृष्टि, (च) और उसके गुण, कर्म, स्वभावों को तथा (विनाशम्) जिस में [सब] पदार्थ नष्ट [=लीन] होते [हैं] उस कारणरूप जगत्, (च) और उसके गुण कर्म, स्वभावों को (सह) एक साथ (उभयम्) दोनों (तत्) उन कार्य और कारण स्वरूपों को (वेद) जानता है, वह विद्वान् (विनाशेन) नित्यस्वरूप[2] [से] जाने हुए कारण के साथ (मृत्युम्) शरीर छूटने के दुःख से (तीर्त्वा) पार होकर, (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप उत्पन्न हुई कार्यरूप धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ (अमृतम्) मोक्षसुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! कार्यकारणरूप वस्तु निरर्थक नहीं है, किन्तु कार्य कारण के गुण, कर्म और स्वभावों को जान कर [उन्हें] धर्म आदि मोक्ष के साधनों में संयुक्त करके अपने शरीरादि[3] के कार्य कारण को नित्यत्व से जान के

---

१. इह पाठे व्यत्यासः कश्चित् समजनीति प्रतिभाति। संस्कृतपाठे आत्मशब्दः पठ्यते। तस्य नित्यत्वात् कः कार्यकारणभावः ?। भाषापाठे 'शरीरादि' पदं श्रूयते। तस्य कार्यकारणभावे सत्यपि कथं कार्यस्य नित्यता ?। यद्यत्राऽऽत्मशब्देन शरीरादिनां ग्रहणं विज्ञायेत, यथा भाषानुवाद उपलभ्यते, तदा 'नित्यत्वेन' इत्यस्य स्थाने 'नित्यत्वानित्यत्वे' इति पाठे प्रकल्पिते यथासामर्थ्य सम्बन्धे कृते सत्ययं भावः सम्पद्यते—शरीरादीनां यत्कारणं तस्य विज्ञातेन नित्यत्वेन मृत्युभयं तीर्त्वा, यत्कार्यरूपं तस्य विज्ञातेनानित्यत्वेन मोक्षमश्नुत इति।

२. 'विनाश' शब्द का अर्थ 'जिसमें सब पदार्थ लीन होते हैं, वह कारण' किया है। वह कारण=प्रकृति नित्यस्वरूप है। अत एव यहाँ 'विनाश' का अर्थ सीधा 'नित्यस्वरूप' लिखा है।

३. यहां पाठ में कुछ गड़बड़ी हुई प्रतीत होती है। संस्कृत पाठ में 'आत्मा' शब्द है, शरीर नहीं। आत्मा के नित्य होने से उसका कार्य कारण भाव क्या होगा ?। शरीरादि का कार्य कारण भाव होने पर 'कार्य कारण को नित्यत्व से जानकर' पाठ संबद्ध नहीं होता। क्योंकि कारण तो नित्य है, परन्तु कार्यभाव नित्य नहीं है। हमारे विचार में यदि 'कार्यकारण को अनित्यत्व और नित्यत्व से जानकर' पाठ की कल्पना की जाए तो इसका भाव होगा—'शरीर इन्द्रिय आदि के कारण की नित्यता को जान कर मृत्यु का भय छोड़कर, शरीरादि के कार्यरूप की अनित्यता को जानकर मोक्ष फल को प्राप्त होता है'।

मरण का भय छोड़ कर मोक्ष की सिद्धि करो। इस प्रकार कार्य कारण से अन्य ही फल सिद्ध करना चाहिये। इन कार्य कारण का निषेध परमेश्वर के स्थान में, जो उपासना प्रकरण है, उस में जानना चाहिये ॥ ११ ॥

अन्धन्तम इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥
अथ विद्याऽविद्योपासनफलमाह—

अब विद्या और अविद्या की उपासना का फल कहते हैं।

अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूयइव ते तमो य उ विद्यायांꣳ रताः ॥ १२ ॥

अन्धम्। तमः। प्र। विशन्ति। ये। अविद्याम्। उपासत इत्युपऽआसते ॥ ततः। भूयइवेति भूयःऽइव। ते। तमः। ये। ऊँ इत्यूँ। विद्यायाम्। रताः ॥ १२ ॥

पदार्थ—(अन्धम्) दृष्टयावरकम्। (तमः) गाढमज्ञानम्। (प्र)। (विशन्ति)। (ये)। अविद्याम्) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या [योग २।५] इति ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम्। (उपासते) अभ्यस्यन्ति। (ततः)। (भूयइव) अधिकमिव। (ते)। (तमः) अज्ञानम्। (ये) पण्डितंमन्यमानाः। (उ)। (विद्यायाम्) शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे। (रताः) रममाणाः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! [ये] अविद्यामुपासते तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति, ये विद्यायां रतास्त उ ततो भूयइव तमः प्रविशन्ति ॥ १२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यद्यच्चेतनं ज्ञानादिगुणयुक्तं वस्तु तज्ज्ञातृ, यदविद्यारूपं तज्ज्ञेयम्। यच्च चेतनं ब्रह्म विद्वदात्मस्वरूपं वा तदुपासनीयं सेवनीयं च, यदतो भिन्नं तन्नोपासनीयं किन्तूपकर्त्तव्यम्। ये मनुष्या अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशैः क्लेशै[1]र्युक्तास्ते परमेश्वरं विहायातो भिन्नं जडं वस्तूपास्य महति दुःखसागरे मज्जन्ति। ये च

---

१. द्रष्टव्यम्—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगदर्शन २।३ ॥

शब्दार्थान्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषणपक्षपातरहितन्यायाचरणाख्यं धर्मं नाचरन्त्यभिमानारूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याविद्यामेव मन्यन्ते ते चाऽधिकतमसि दुःखार्णवे सततं पीडिता जायन्ते ॥ १२ ॥

पदार्थः—(ये) जो मनुष्य (अविद्याम्) अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख और अनात्मा शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप अविद्या[1] [होती है] उस की अर्थात् ज्ञानादि गुणरहित [कार्य] कारणरूप, परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं, वे (अन्धम्, तमः) दृष्टि के रोकने वाले अन्धकाररूप अत्यन्त अज्ञान को (प्र, विशन्ति) प्राप्त होते हैं, और (ये) जो अपने आत्मा को पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण[2] में (रताः) रमण करते [हैं] (ते) वे (उ) भी (ततः) उस से (भूयइव) अधिकतर (तमः) अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जो जो चेतन ज्ञानादि गुणयुक्त वस्तु है वह जानने वाला [और] जो अविद्यारूप है वह जानने योग्य है। और जो चेतन ब्रह्म तथा विद्वान् आत्मा है वह उपासना [और सेवा] के योग्य है। जो इससे भिन्न है, वह उपास्य नहीं है, किन्तु उपकार लेने योग्य है। जो मनुष्य अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों[3] से युक्त हैं, वे परमेश्वर को छोड़ इससे भिन्न जड़ वस्तु की उपासना कर महान् दुःखसागर में डूबते हैं। और जो शब्द अर्थ का अन्वयमात्र संस्कृत पढ़कर सत्यभाषण पक्षपातरहित न्याय का आचरण रूप धर्म नहीं करते, अभिमान में आरूढ़ हुए विद्या का तिरस्कार कर अविद्या को ही मानते हैं, वे अत्यन्त तमोगुणरूप दुःखसागर में निरन्तर पीड़ित होते हैं ॥ १२ ॥

---

१. द्र० अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योग २।५॥

२. वेद स्वयं कहता है 'यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ० १।१६४।३९) अर्थात् जो व्यक्ति वेद के अक्षर मात्र जानता है, ब्रह्म को नहीं जानता वह ऋग्वेद के शाब्दिक ज्ञान से क्या करेगा ? अर्थात् वह उसके कुछ काम न आएगा। इसलिए केवल शब्दार्थ सम्बन्ध का जानना अवैदिक आचरण है। अथवा 'अवैदिक' पद से पूर्व 'और' पद के जोड़ने से अभिप्राय होगा—'जो शब्दार्थ सम्बन्ध मात्र के ज्ञान और अवैदिक आचरण में रमण करते हैं। भावार्थ से द्वितीय अभिप्राय की पुष्टि होती है।

३. द्र० अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। यो० द० २।३॥

अन्यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अथ जडंचेतनयोर्विभागमाह—

अब जड़ चेतन का भेद कहते हैं ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अन्यत् । एव । आहुः । विद्यायाः । अन्यत् । आहुः । अविद्यायाः ॥ इति । शुश्रुम । धीराणाम् । ये । नः । तत् । विचचक्षिर इति विऽचचक्षिरे ॥ १३ ॥

पदार्थः—(अन्यत्) अन्यदेव कार्यं फलं वा । (एव) । (आहुः) कथयन्ति । (विद्यायाः) पूर्वोक्तायाः । (अन्यत्) । (आहुः) । (अविद्यायाः) पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः । (इति) । (शुश्रुम) श्रुतवन्तः । (धीराणाम्) आत्मज्ञानां विदुषां सकाशात् । (ये) । (नः) अस्मभ्यम् । (तत्) विद्याऽविद्याजं फलं, द्वयोः स्वरूपं वा । (विचचक्षिरे) व्याख्यातवन्तः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! ये विद्वांसो नो विचचक्षिरे, [ते] विद्याया अन्यदाहुरविद्याया अन्यदेवाहुरिति तेषां धीराणां तद् वचो वयं शुश्रुमेति विजानीत ॥ १३ ॥

भावार्थः—ज्ञानादिगुणयुक्तस्य चेतनस्य सकाशाद् य उपयोगो भवितुं योग्यो, न स अज्ञानयुक्तस्य जडस्य सकाशात् । यच्च जडात् प्रयोजनं सिध्यति, न तच्चेतनादिति । सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वत्संगेन विज्ञानेन योगेन धर्माचरणेन चानयोर्विवेकं कृत्वोभयोरुपयोगः कर्तव्यः ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! [ये] जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिये (विचचक्षिरे) व्याख्यापूर्वक कहते हैं[1] [वे] (विद्यायाः) पूर्वोक्त विद्या का (अन्यत्) अन्य ही कार्य वा फल (आहुः) कहते हैं, (अविद्यायाः) पूर्व मन्त्र से प्रतिपादन की अविद्या का (अन्यत्) अन्य फल (आहुः) कहते हैं । इस प्रकार उन

---

१. पूर्व मुद्रित में 'थे' पाठ है । हिन्दी की वाक्य रचना की दृष्टि से पाठ शोधा है । संस्कृत में 'आहुः' का वर्तमानकालिक 'कहते हैं' अर्थ किया है । यहां पर भी अगले 'आहु' के अर्थ में यही पाठ है ।

(धीराणाम्) आत्मज्ञानी विद्वानों से (तत्) उस वचन को हम लोगों ने (शुश्रुम) सुना है,[१] ऐसा जानो ॥ १३ ॥

भावार्थः—ज्ञानादि[२] गुणयुक्त चेतन से जो उपयोग होने योग्य है वह अज्ञानयुक्त जड़ से कदापि नहीं, और जो जड़ से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतन से नहीं। सब मनुष्यों को विद्वानों के सङ्ग, योग, विज्ञान और धर्माचरण से इन दोनों का विवेक करके दोनों से उपयोग लेना चाहिये ॥ १३ ॥

विद्यामित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
स्वराडुष्णिक्[३] छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन करते हैं ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयᳬ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

विद्याम् । च । अविद्याम् । च । यः । तत् । वेद । उभयम् । सह ॥ अविद्यया । मृत्युम् । तीर्त्वा । विद्यया । अमृतम् । अश्नुते ॥ १४ ॥

पदार्थः—(विद्याम्) पूर्वोक्ताम् । (च) तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् । (अविद्याम्) । प्रतिपादितपूर्वाम् । (च) एतदुपयोगिसाधनकलापम् । (यः) । (तत्) । (वेद) विजानीत । (उभयम्) । (सह) । (अविद्यया) शरीरादि जडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन । (मृत्युम्) मरणदुःखभयम् । (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य । (विद्यया) आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन । (अमृतम्) नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा । (अश्नुते) ॥ १४ ॥

अन्वयः— यो विद्वान् विद्यां चाऽविद्यां च तदुभयं सह वेद, सोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

---

१. 'हम लोग (शुश्रुम) सुनते थे' पाठ पूर्व मुद्रित में है।
२. 'अनादि' पाठ पूर्व मुद्रित में है।
३. स्वराडुष्णिहि त्रिंशदक्षराणि भवन्ति, तावन्त्येव विराडनुष्टुभि। अनुष्टुम्प्रायत्वात् (=प्रकरणात्) विराडनुष्टुप् छन्दो गान्धारः स्वरश्च युक्ततरः स्यात्।

भावार्थः—ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायाऽनयोर्जडचेतनौ साधकौ वर्त्तेते इति निश्चित्य, सर्वं शरीरादिजडं चेतनमात्मानं च धर्मार्थकाममोक्षसिद्धये सहैव संप्रयुञ्जते, लौकिकं दुःखं विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति। यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादिकार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं जीवः कर्मोपासने ज्ञानं च कर्त्तुं कथं शक्नुयात्, तस्मान्न केवलेन जडेन, न च केवलेन चेतनेन, अथवा न केवलेन कर्मणा, न केवलेन ज्ञानेन च कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्त्तुं समर्थो भवति ॥ १४ ॥

पदार्थः—(यः) जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वोक्त विद्या (च) और उस के सम्बन्धी साधन उपसाधनों, (अविद्याम्) पूर्व कही अविद्या (च) और इसके उपयोगी साधन समूह को, और (तत्) उस ध्यानगम्य मर्म (उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ ही (वेद) जानता है, वह (अविद्यया) शरीरादि जड़ पदार्थसमूह से किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) मरणदुःख के भय को (तीर्त्वा) उल्लंघन कर (विद्यया) आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म, उस से उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शनरूप विद्या से (अमृतम्) नाशरहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जानकर, इन के जड़ चेतन साधक हैं, ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ ही प्रयोग करते हैं, वे लौकिक दुःख को छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं। जो जड़ प्रकृति आदि कारण वा शरीरादि कार्य न हों तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म उपासना और ज्ञान के करने को कैसे समर्थ हों। इससे न केवल जड़, [और] न केवल चेतन से अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता है ॥ १४ ॥

वायुरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
स्वराडुष्णिक्[१] छन्दः। ऋषभः स्वरः॥
अथ देहान्ते किं कार्यमित्याह—
अथ देहान्त के समय क्या करना चाहिये, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं।

---

१. पूर्वमन्त्रस्था टिप्पणी द्रष्टव्या।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्। ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १५ ॥

वायुः। अनिलम्। अमृतम्। अथ। इदम्। भस्मान्तमिति भस्मऽअन्तम्। शरीरम् ॥ ओ३म्। क्रतो इति क्रतो। स्मर। क्लिबे। स्मर। कृतम्। स्मर ॥ १५ ॥

पदार्थः—(वायुः) धनञ्जयादिरूपः। (अनिलम्) कारणरूपं वायुम्। (अमृतम्) नाशरहितं कारणम्। (अथ)। (इदम्)। (भस्मान्तम्) भस्म अन्ते यस्य, तत्। (शरीरम्) यच्छीर्यते हिंस्यते, तदाश्रयम्। (ओ३म्) एतन्नामवाच्यमीश्वरम्। (क्रतो) यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ। (स्मर)[1] पर्यालोचय। (क्लिबे)। स्वसामर्थ्याय। (स्मर)। (कृतम्) यदनुष्ठितं। तत्।[2] (स्मर) ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे क्रतो! त्वं शरीरत्यागसमये "ओ३म्" स्मर क्लिबे परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर कृतं स्मर। अत्रस्थो वायुरनिलमनिलोऽमृतं धरति। अथेदं शरीरं भस्मान्तं भवतीति विजानीत ॥ १५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा मृत्युसमये चित्तवृत्तिर्जायते शरीरादात्मनः पृग्भावश्च भवति, तथैवेदानीमपि विज्ञेयम्। एतच्छरीरस्य भस्मान्ता क्रिया कार्या, नातो दहनात् परः कश्चित् संस्कारः कर्त्तव्यः। वर्त्तमानसमय एकस्य परमेश्वरस्यैवाज्ञापालनमुपासनं स्वसामर्थ्यवर्द्धनं चैव कार्यम्। कृतं कर्म विफलं न भवतीति मत्वा धर्मे रुचिरधर्मेऽप्रीतिश्च कर्त्तव्या ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव! तू शरीर छूटते समय (ओ३म्) इस नामवाच्य ईश्वर को (स्मर) स्मरण कर। (क्लिबे) अपने

१. इह मन्त्रे आमन्त्रितं क्रतो पदमाद्युदात्तं पठ्यते। तच्चापादादि। तस्याद्युदात्तत्वाय ओम् पदस्याविद्यमानवद्भावस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। महीधरस्तु 'हे ओम्' इति संबोधनमाह। तथा सति, आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' इति (अ० ८।१।७२) नियमेनाविद्यमानवद् भावे क्रतो पदस्याद्युदात्तत्वे सिद्धे स्मरापेक्षया पूर्वयोरुभयोरप्यामन्त्रितयोरविद्यमानवद् भावे (यथा इडे रन्ते हव्ये काम्ये-य०-८।४३ परपरापेक्षया पूर्वपूर्वाणां सर्वेषामविद्यमानवद्भावः) स्मर पदस्य सर्वनिघातत्वं न सिद्धयति।

२. पूर्वमुद्रिते 'यदनुष्ठितम् (स्मर) तत्' इत्यव्यवस्थितः पाठः।

सामर्थ्य के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप का (स्मर) स्मरण कर। (कृतम्) अपने किये का (स्मर) स्मरण कर। इस संसार का (वायुः) धनञ्जयादिरूप वायु (अनिलम्) कारणरूप वायु को [और] कारणरूप वायु (अमृतम्) अविनाशी कारण को धारण करता है। (अथ) इसके अनन्तर (इदम्) यह (शरीरम्) नष्ट होने वाला सुखादि का आश्रय शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है, ऐसा जानो ॥ १५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जैसी मृत्यु समय में चित्त की वृत्ति होती है और शरीर से आत्मा का पृथक् होना होता है, वैसे ही इस समय भी जानें। इस शरीर की जलाने पर्यन्त क्रिया करें, जलाने [के] पश्चात् शरीर का कोई संस्कार न करें। वर्त्तमान समय में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन, उपासना और अपने सामर्थ्य की वृद्धि करें। किया हुआ कर्म निष्फल नहीं होता, ऐसा मान कर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति किया करें ॥ १५ ॥

अग्ने नयेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥
ईश्वरः कान् अनुगृह्णातीत्याह—
ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है, इस विषय का
वर्णन अगले मन्त्र में किया है।

अग्ने नय॑ सुपथा॑ राये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्। यु॒यो॒ध्य॑स्मज्जु॑हुराणमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम ॥ १६ ॥

अग्ने॑। नय॑। सुपथेति॑ सुऽपथा॑। राये। अ॒स्मान्। विश्वा॑नि। दे॒व। व॒युना॑नि। वि॒द्वान् ॥ यु॒यो॒धि। अ॒स्मत्। जु॒हु॒रा॒णम्। एनः॑। भूयि॑ष्ठाम्। ते॒। नम॑उक्ति॒मिति॒ नमः॑ऽउक्तिम्। वि॒धे॒म ॥ १६ ॥

पदार्थः—(अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! (नय) गमय। (सुपथा) धर्म्येण मार्गेण। (राये) विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय। (अस्मान्) जीवान्। (विश्वानि) अखिलानि। (देव) दिव्यस्वरूप ! (वयुनानि) प्रशस्यानि प्रज्ञानानि। वयुनमिति, प्रशस्यनामसु पठितम् (निघं० ३।८) प्रज्ञानामसु (निघं० ३।९) [च]। (विद्वान्) यः सर्वं वेत्ति, सः। (युयोधि) पृथक्कुरु। (अस्मत्) अस्माकं सकाशात्। (जुहुरा-

णम्) कौटिल्यम् । (एनः) पापाचरणम् । (भूयिष्ठाम्) बहुतमाम् । (ते) तुभ्यम् । (नमउक्तिम्) सत्कारपुरःसरां प्रशंसाम् । (विधेम) परिचरेम ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे देवाग्ने परमेश्वर ! यतो वयं ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम, तस्माद्विद्वांस्त्वमस्मज्जुहुराणमेनो युयोधि, अस्मान् राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय प्रापय ॥ १६ ॥

भावार्थः—ये सत्यभावेन परमेश्वरमुपासते, यथासामर्थ्यं तदाज्ञां पालयन्ति, सर्वोपरि सत्कर्त्तव्यं परमात्मानं मन्यन्ते, तान् दयालुरीश्वरः पापाचरणमार्गात् पृथक्कृत्य धर्म्यमार्गे चालयित्वा विज्ञानं दत्त्वा धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं समर्थान् करोति । तस्मात् सर्वे एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय कस्याप्युपासनं कदाचिन्नैव कुर्युः ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) प्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! जिससे हम लोग (ते) आप के लिये (भूयिष्ठाम्) अत्यधिक[1] (नमउक्तिम्) सत्कारपूर्वक प्रशंसा का (विधेम) कथन[2] करें । इससे (विद्वान्) सबको जानने वाले आप (अस्मत्) हम लोगों से (जुहुराणम्) कुटिलतारूप (एनः) पापाचरण को । (युयोधि) पृथक् कीजिये, (अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान, धन वा धन से होने वाले[3] सुख के लिये (सुपथा) धर्मानुकूल मार्ग से (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त ज्ञानों को (नय) प्राप्त कराइये[4] ॥ १६ ॥

भावार्थः—जो [मनुष्य] सत्यभाव से परमेश्वर की उपासना करते, यथाशक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा को मानते हैं, उनको दयालु ईश्वर पापाचरण मार्ग से पृथक् कर धर्मयुक्त मार्ग में चला के, विज्ञान देकर, धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिये समर्थ करता है । इससे एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ किसी की उपासना कदापि न करें ॥ १६ ॥

हिरण्मयेनेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता ।
अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अथान्ते मनुष्यानीश्वर उपदिशति—
अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है ॥

---

१. 'अधिकतर' यह पूर्व पाठ है । २. 'सेवन करें' यह पूर्व पाठ है ।
३. 'धन से हुए सुख' यह पूर्व पाठ है । ४. 'प्राप्त कीजिये' यह पूर्व पाठ है ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

हिरण्मयेन। पात्रेण। सत्यस्य। अपिहितमित्यपिऽहितम्। मुखम्॥ यः। असौ। आदित्ये। पुरुषः। सः। असौ। अहम्। ओ३म्। खम्। ब्रह्म॥ १७॥

पदार्थः—(हिरण्मयेन) ज्योतिर्मयेन। (पात्रेण) रक्षकेण। (सत्यस्य) अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य। (अपिहितम्) आच्छादितम्। (मुखम्) मुखवदुत्तमाङ्गम्। (यः)। (असौ)। (आदित्ये) प्राणे, सूर्यमण्डले वा। (पुरुषः) पूर्णः परमात्मा। (सः)। (असौ)। (अहम्)। (ओ३म्) योऽवति सकलं जगत्, तदाख्या। (खम्) आकाशवद् व्यापकम्। (ब्रह्म) सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत्॥ १७॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! येन हिरण्मयेन पात्रेण मया सत्यस्यापिहितं मुखं विकाश्यते, योऽसावादित्ये पुरुषोऽस्ति सोऽसावहं खम्ब्रह्मास्म्यो३मिति विजानीत॥ १७॥

भावार्थः—सर्वान् मनुष्यान् प्रतीश्वर उपदिशति—हे मनुष्याः! योऽहमत्रास्मि स एवान्यत्र सूर्यादौ, योऽन्यत्र सूर्यादावस्मि स एवाऽत्राऽस्मि, सर्वत्र परिपूर्णः खंवद् व्यापको, न मत्तः किञ्चिदन्यद् बृहद्, अहमेव सर्वेभ्यो महानस्मि, मदीयं सुलक्षणपुत्रवत् प्राणप्रियं निजस्य नामौ३मिति वर्तते। यो मम प्रेमसत्याचरणभावाभ्यां शरणं गच्छति, तस्यान्तर्यामिरूपेणाहमविद्यां विनाश्य, तदात्मानं प्रकाश्य, शुभगुणकर्मस्वभावं कृत्वा, सत्यस्वरूपावरणं स्थापयित्वा, शुद्धं योगजं विज्ञानं दत्वा, सर्वेभ्यो दुःखेभ्यः पृथक्कृत्य, मोक्षसुखं प्रापयामीत्यो३म्॥ १७॥

अत्रेश्वरगुणवर्णनम्, अधर्मत्यागोपदेशः, सर्वदा सत्कर्मानुष्ठानावश्यकत्वम्, अधर्माचरणनिन्दा, परमेश्वरस्यातिसूक्ष्मस्वरूपवर्णनं, विदुषा ज्ञेयत्वम्, अविदुषामविज्ञेयत्वं, सर्वत्रात्मभावेनाहिंसाधर्मपालनं, तेन मोहशोकादित्याग, ईश्वरस्य जन्मादिदोषराहित्यं, वेदविद्योपदेशनं, कार्यकारणात्मकस्य जडस्योपासननिषेधः, ताभ्यां कार्यकारणाभ्यां मृत्युं निवार्य मोक्षसिद्धिकरणं, जडवस्तुन उपासननिषेधः, चेतनोपासनविधिः, तदुभयस्वरूपविज्ञानाऽऽवश्यकत्वं, शरीरस्वभाववर्णनं, समाधिना

परमेश्वरमात्मनि निधाय शरीरत्यागकरणं, शरीरदाहादूर्ध्वमन्यक्रियानुष्ठाननिषेधोऽधर्मत्यागाय धर्मवर्द्धनाय परमेश्वरप्रार्थनम्, ईश्वरस्वरूपवर्णनं, सर्वेभ्यो नामभ्य ओ३मित्यस्य प्राधान्यप्रतिपादनं च कृतम्, अत एतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जिस (हिरण्मयेन) ज्योतिःस्वरूप (पात्रेण) रक्षक मुझ से (सत्यस्य) अविनाशी यथार्थ कारण के (अपिहितम्) आच्छादित (मुखम्) मुख के तुल्य उत्तम अङ्ग का प्रकाश किया जाता [है], (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण वा सूर्यमण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है, (सः) वह (असौ) परोक्षरूप (अहम्) मैं (खम्) आकाश के तुल्य व्यापक (ब्रह्म) सब से गुण कर्म और स्वरूप करके अधिक हूं, (ओ३म्) सब का रक्षक जो मैं उसका 'ओ३म्' ऐसा नाम जानो ॥ १७ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! जो मैं यहां हूं वही अन्यत्र सूर्यादि लोक में, जो अन्य स्थान सूर्यादि लोक में हूं वही यहां हूं, सर्वत्र परिपूर्ण, आकाश के तुल्य व्यापक, मुझ से भिन्न कोई बड़ा नहीं, मैं ही सब से बड़ा हूँ। मेरे सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य प्राणों से प्यारा मेरा निज का नाम "ओ३म्" यह है। जो मेरा प्रेम और सत्याचरण से शरण लेता [है] उसकी अन्तर्यामीरूप से मैं अविद्या का विनाश कर, उसके आत्मा का प्रकाश करके शुभ गुण कर्म स्वभाव वाला कर, सत्यस्वरूप का आवरण स्थिर कर, योग से हुए विज्ञान को दे और सब दुःखों से अलग करके मोक्षसुख को प्राप्त कराता हूं। इति ॥ १७ ॥

इस अध्याय में ईश्वर के गुणों का वर्णन, अधर्म त्याग का उपदेश, सब काल में सत् कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता, अधर्माचरण की निन्दा, परमेश्वर के अतिसूक्ष्म स्वरूप का वर्णन, विद्वान् को जानने योग्य का होना, अविद्वान् को अज्ञेयपन का होना, सर्वत्र आत्मा-भाव से अहिंसा धर्म की रक्षा, उससे मोह शोकादि का त्याग, ईश्वर का जन्मादि दोषरहित होना, वेदविद्या का उपदेश, कार्य कारण रूप जड़ जगत् की उपासना का निषेध, उन कार्य कारणों से मृत्यु का निवारण करके मोक्षादि सिद्धि करना, जड़ वस्तु की उपासना का निषेध, चेतन की उपासना की विधि, उन जड़ चेतन दोनों के स्वरूप के जानने की आवश्यकता, शरीर के स्वभाव का वर्णन, समाधि से परमेश्वर को अपने आत्मा में धर के शरीर त्यागना, शरीर दाह के पश्चात् अन्य क्रिया के अनुष्ठान का निषेध, अधर्म के त्याग और धर्म के बढ़ाने के लिये परमेश्वर की प्रार्थना, ईश्वर के स्वरूप का वर्णन और सब नामों से "ओ३म्" इस नाम की उत्तमता का प्रतिपादन किया है।

इससे इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्वाध्याय में कहे अर्थ के साथ सङ्गति है यह जानना चाहिये ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीपरमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दया-नन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिते संस्कृतार्य-भाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वे-दभाष्ये चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

मार्गशीर्ष कृष्णा १ शनौ संवत् १९३९ में समाप्त किया[1] ।
वैशाख शुक्ला ११ शनौ संवत् १९४६ में छप कर समाप्त हुआ[2] ।

---

१. यजुर्वेद भाष्य की उपक्रमणिका के अनुसार इस भाष्य का आरम्भ सं० १९३४ पौष शुक्ला १३ गुरुवार के दिन हुआ था । तदनुसार इस भाष्य की रचना में लगभग चार वर्ष और दस मास लगे थे । यह ध्यान रहे कि यजुर्वेद भाष्य के साथ साथ ऋग्वेदभाष्य की रचना भी होती रही । उस का आरम्भ सं० १९३४ मार्गशीर्ष शु० ६ मंगलवार के दिन हुआ था । अर्थात् यजुर्वेद भाष्य के आरम्भ से ३७ दिन पूर्व ऋषि ने ऋग्वेदभाष्य का आरम्भ किया था । ऋग्वेद का भाष्य ऋषि अपने जीवन काल में सप्तम मण्डल के ६२ वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र तक ही कर पाए ।

२. यजुर्वेद भाष्य का मुद्रण सं० १९३५ के श्रावण मास में आरम्भ हुआ था । तदनुसार इस भाष्य के छपने में लगभग ११ वर्ष लगे थे ।

यजुर्वेद तथा ऋग्वेद भाष्य और ऋषि के समस्त ग्रन्थों के ऐतिह्य ज्ञान के लिए तथा उनके हस्तलेखों के पूर्णविवरण के ज्ञान के लिए हमारा 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' देखना चाहिए ।

प्रकीर्ण मन्त्रभाष्य

अध्याय २२, मन्त्र २२

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ २२ ॥

आ। ब्रह्मन्। ब्राह्मणः। ब्रह्मवर्चसीति ब्रह्मऽवर्चसी। जायताम्। आ। राष्ट्रे। राजन्यः। शूरः। इषव्यः। अतिव्याधीत्यतिऽव्याधी। महारथ इति महाऽरथः। जायताम्। दोग्ध्री। धेनुः। वोढा। अनड्वान्। आशुः। सप्तिः। पुरन्धिरिति पुरम्ऽधिः। योषा। जिष्णुः। रथेष्ठाः। रथेस्था इति रथेऽस्थाः। सभेयः। युवा। आ। अस्य। यजमानस्य। वीरः। जायताम्। निकामेनिकाम इति निकामेऽनिकामे। नः। पर्जन्यः। वर्षतु। फलवत्य इति फलऽवत्यः। नः। ओषधयः। पच्यन्ताम्। योगक्षेम इति योगऽक्षेमः। नः। कल्पताम् ॥ २२ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात्। (ब्रह्मन्) विद्यादिना सर्वेभ्यो महन् परमात्मन्। (ब्राह्मणः) वेदेश्वरवित्। (ब्रह्मवर्चसी) वेदविद्याप्रदीप्तः। (जायताम्) उत्पद्यताम्। (आ)। (राष्ट्रे) राज्ये। (राजन्यः) राजपुत्रः। (शूरः) निर्भयः। (इषव्यः) इषुषु साधुः। (अतिव्याधी) अतिशयेन व्यद्धुं शत्रूंस्ताडयितुं शीलं यस्य, सः। (महारथः) महान्तो रथा वीरा वा यस्य, सः। (जायताम्)। (दोग्ध्री) प्रपूरिका। (धेनुः)

गौः। (वोढा) वाहकः। (अनड्वान्) वृषभः। (आशुः) शीघ्रगामी। (सप्तिः) अश्वः। (पुरन्धिः) या पुरून् बहून् दधाति, सा। (योषा)। (जिष्णुः) जयशीलः। (रथेष्ठाः) यो रथे तिष्ठति, सः। (सभेयः) सभायां साधुः। (युवा) प्राप्तयौवनः। (आ)। (अस्य)। (यजमानस्य) यो यजते देवान् विदुषः सत्करोति संगच्छते सुखानि ददाति वा, तस्य। (वीरः) विज्ञानवान्[1] शत्रूणां प्रक्षेप्ता। (जायताम्)। (निकामेनिकामे) निश्चिते [काले], प्रत्येककामनायाम्। (नः) अस्माकम्। (पर्जन्यः) मेघः। (वर्षतु)। (फलवत्यः) बहूत्तमफला। (नः) अस्मभ्यम्। (ओषधयः) यवादयः[2]। (पच्यन्ताम्) परिपक्वा भवन्तु। (योगक्षेमः) अप्राप्तस्य प्राप्तिलक्षणो योगः, तस्य रक्षणं क्षेमः। (नः) अस्मभ्यम्। (कल्पताम्) समर्थो भवतु ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मन् यथा नो राष्ट्रे ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण आजायताम्, इषव्योऽतिव्याधी महारथः शूरो राजन्य आजायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा रथेष्ठा जिष्णुः सभेयो युवाऽऽजायताम्, अस्य यजमानस्य राष्ट्रे वीरो जायताम्, नो निकामेनिकामे पर्जन्यो वर्षतु, ओषधयः फलवत्यो नः पच्यन्ताम्, नो योगक्षेमो कल्पताम्, तथा विधेहि ॥ २२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। विद्वद्भिरीश्वरप्रार्थनया सहैवमनुष्ठेयम्, यतः पूर्णविद्याः शूरवीरा मनुष्या स्त्रियश्च, सुखप्रदाः पशवः, सभ्या मनुष्याः, इष्टा वृष्टिर् मधुरफलयुक्ता अन्नौषधयो भवन्तु, कामश्च पूर्णः स्यात् इति ॥ २२ ॥

पदार्थः—हे (ब्रह्मन्) विद्यादि गुणों करके सबसे बड़े परमेश्वर ! जैसे हमारे (राष्ट्रे) राज्य में (ब्रह्मवर्चसी) वेदविद्या से प्रकाश को प्राप्त (ब्राह्मणः) वेद और ईश्वर को अच्छे प्रकार जानने वाला ब्राह्मण (आ जायताम्) सब प्रकार से उत्पन्न हो। (इषव्यः) बाण चलाने में उत्तम गुणवान् (अतिव्याधी) अतीव शत्रुओं का व्यधने अर्थात् ताड़ना देने का स्वभाव वाला (महारथः) जिसके बड़े बड़े रथ और अत्यन्त बली वीर हैं ऐसा (शूरः) निर्भय (राजन्यः) राजपुत्र (आ जायताम्) सब प्रकार से उत्पन्न हो। (दोग्ध्री)[3] दूध से पूर्ण करने वाली

---

१. वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु इत्यास्मात् क्विपि वीः=ज्ञानम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति वा रो मत्वर्थीयः, मधुरादिवत्।

२. ओषध्यः फलपाकान्ताः (मनु १।४६) इति वचनात् यवव्रीहिगोधूम-मुद्गमसूरादयोऽन्नविशेषा ओषध्य उच्यन्ते।

३. 'कामना वा दूध'...' यह पूर्व मुद्रित में पाठ है। संस्कृत में यह अंश नहीं है।

(धेनुः) गौ[1] (वोढा) भार ले जाने में समर्थ (अनड्वान्) बड़ा बलवान् बैल, (आशुः) शीघ्र चलने हारा (सप्तिः) घोड़ा, (पुरन्धिः) जो बहुत व्यवहारों को धारण करती है, वह (योषा) स्त्री तथा (रथेष्ठाः) रथ पर स्थिर होने और (जिष्णुः) शत्रुओं को जीतने वाला (सभेयः) सभा में उत्तम सभ्य (युवा) जवान पुरुष (आ जायताम्) उत्पन्न हो । (अस्य यजमानस्य) जो यह विद्वानों का सत्कार करता वा सुखों की संगति करता वा सुखों को देता है, इस राजा के राज्य में (वीरः) विशेष ज्ञानवान्[2] [तथा] शत्रुओं को हटाने वाला पुरुष उत्पन्न हो । (नः) हमलोगों के (निकामेनिकामे) निश्चित समय में तथा प्रत्येक आवश्यकता के समय में[3] (पर्जन्यः) मेघ (वर्षतु) बरसे । (ओषधयः) ओषधियां [=गेहूँ जौ आदि अन्न] (फलवत्यः) बहुत उत्तम फलवाली (नः) हमारे लिए (पच्यन्ताम्) पकें । (नः) हमारा (योगक्षेमः) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कराने वाले योग और प्राप्त की रक्षा क्षेम अर्थात्[4] हमारे निर्वाह के योग्य पदार्थों की प्राप्ति (कल्पताम्) समर्थ हो, वैसा विधान करो अर्थात् वैसे व्यवहार को प्रकट कराइये ॥ २२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है । विद्वानों को ईश्वर की प्रार्थना के सहित ऐसा अनुष्ठान करना चाहिए कि जिससे पूर्ण विद्यावाले शूरवीर मनुष्य, तथा वैसे ही गुणवाली स्त्री, सुख देने हारे पशु, सभ्य मनुष्य, चाही हुई वर्षा, मीठे फलों से युक्त अन्न और ओषधियाँ हों, तथा [हमारी सब] कामना पूर्ण हो ॥

---

१. 'वाणी वा गौ' यह पूर्व मुद्रित में पाठ है । संस्कृत में नहीं है । ये दोनों पाठ प्रकृत में संगत भी नहीं होते ॥
२. वी=ज्ञान, वह जिसमें हो वह वीर, जैसे मधु=मिठास जिसमें हो वह मधुर कहाता है । यहां मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय है ।
३. 'निश्चय युक्त काम काम में अर्थात् जिस जिस काम के लिए प्रयत्न करें उस उस काम में' यह पूर्वमुद्रित में पाठ है । यह अस्पष्ट है ।
४. 'प्राप्ति लखाने वाले योग की रक्षा अर्थात्' यह पूर्वमुद्रित पाठ अस्पष्ट है ।

❀ त्रयोविंशत्यध्यायस्था मन्त्राः ❀

केष्वन्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । पुरुषेश्वरो देवता ।
पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथेश्वरविषये प्रश्नावाह—

अब ईश्वर-विषय में दो प्रश्न कहते हैं ॥

केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि । एतद् ब्रह्मन्नुप वह्लामसि त्वा किंस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र ॥ ५१ ॥

केषु । अन्तरित्यन्तः । पुरुषः । आ । विवेश । कानि । अन्तरित्यन्तः । पुरुषे । अर्पितानि ॥ एतत् । ब्रह्मन् । उप । वह्लामसि । त्वा । किम् । स्वित् । नः । प्रति । वोचासि । अत्र ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(केषु) । (अन्तः) मध्ये । (पुरुषः) सर्वत्र पूर्णः । (आ) (विवेश) प्रविष्टोऽस्ति । (कानि) । (अन्तः) मध्ये । (पुरुषे) । (अर्पितानि) स्थापितानि । (एतत्) । (ब्रह्मन्) ब्रह्मविद्विद्वन् । (उप) । (वह्लामसि) प्रधाना भवामः । (त्वा) त्वाम् । (किम्) । (स्वित्) । (नः) अस्मान् । (प्रति) । (वोचासि) उच्याः । अत्र लेटि मध्यमैकवचने वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १।४।९ भाष्य] इत्युमागमः । (अत्र) ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मन् ! केषु पुरुषोऽन्तराविवेश, कानि पुरुषेऽन्तरर्पितानि, येन वयमुपवह्लामसि । एतत्त्वा त्वां पृच्छामस्तत्किंस्विदस्त्यत्र नः प्रतिवोचासि ॥ ५१ ॥

भावार्थः—चतुर्वेदविद्विद्वानितरैर्जनैरेवं प्रष्टव्यः—हे वेदविद्विद्वन् ! पूर्णः परमेश्वरः केषु प्रविष्टोऽस्ति, कानि च तदन्तर्गतानि सन्ति । एतत्पृष्टो भवान् याथार्थ्येन ब्रवीतु, येन वयं प्रधानपुरुषा भवेम ॥ ५१ ॥

पदार्थः—हे (ब्रह्मन्) वेदज्ञ विद्वन् (केषु) किन में (पुरुषः) सर्वत्र पूर्ण परमेश्वर (अन्तः) (भीतर) (आ, विवेश) प्रवेश कर रहा है, और (कानि) कौन (पुरुषे) पूर्ण ईश्वर के (अन्तः) भीतर (अर्पितानि) स्थापन किये हैं। जिस ज्ञान से हम लोग (उप, वल्हामसि) प्रधान हों, (एतत्) यह (त्वा) आप को पूछते हैं, सो (किं, स्वित्) क्या है। (अत्र) इस [विषय] में (नः) हमारे (प्रति) प्रति (वोचासि) कहिये ॥ ५१ ॥

भावार्थः—इतर मनुष्यों को चाहिये कि चारों वेद के ज्ञाता विद्वान् को ऐसे पूछें कि [हे] वेदज्ञ विद्वन् ! पूर्ण परमेश्वर किन में प्रविष्ट है, और कौन उसके अन्तर्गत हैं। यह बात आप से पूछी है यथार्थता से कहिये, जिस के ज्ञान से हम उत्तम पुरुष हों ॥ ५१ ॥

पञ्चस्वन्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। परमेश्वरो देवता।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पूर्वमन्त्रोक्तप्रश्नयोरुत्तरमाह—

पूर्व मन्त्र में कहे प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में कहते हैं॥

पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि। एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥ ५२ ॥

पञ्चस्विति पञ्चऽसु। अन्तरित्यन्तः। पुरुषः। आ। विवेश। तानि। अन्तरित्यन्तः। पुरुषे। अर्पितानि॥ एतत्। त्वा। अत्र। प्रतिमन्वान इति प्रतिऽमन्वानः। अस्मि। न। मायया। भवसि। उत्तर इत्युत्ऽतरः। मत् ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(पञ्चसु) भूतेषु तन्मात्रासु वा। (अन्तः)। (पुरुषः) पूर्णः परमात्मा। (आ) (विवेश) स्वव्याप्त्याऽऽविष्टोऽस्ति। (तानि) भूतानि तन्मात्राणि वा। (अन्तः) मध्ये। (पुरुषे) पूर्णे परमात्मनि। (अर्पितानि) स्थापितानि। (एतत्)। (त्वा) त्वाम्। (अत्र)। (प्रतिमन्वानः) प्रत्यक्षेण विजानन्। (अस्मि)। (न)। (मायया)

प्रज्ञया। मायेति प्रज्ञानामसु पठितम् (निघं० ३।९)। (भवसि)। (उत्तरः) उत्कृष्टं तारयति समादधाति सः। (मत्) मम सकाशात् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासो! पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश, तानि पुरुषेऽन्तरर्पितानि। एतदत्र त्वा प्रतिमन्वानोऽहं समाधातास्मि यदि मायया युक्तस्त्वं भवसि तर्हि मदुत्तरः समाधाता कश्चिन्नास्तीति विजानीहि ॥ ५२ ॥

भावार्थः—परमेश्वर उपदिशति—हे मनुष्या मदुत्तरः कोऽपि नास्ति। अहमेव सर्वेषामाधारः सर्वमभिव्याप्य धरामि। मयि व्याप्ते सर्वाणि वस्तूनि स्वस्वनियमे स्थितानि सन्ति। हे सर्वोत्तमा योगिनो विद्वांसो भवन्तो ममेदं विज्ञानं विज्ञापयत ॥ ५२ ॥

पदार्थः—हे जानने की इच्छा वाले पुरुष! (पञ्चसु) पांच भूतों वा उन की सूक्ष्म मात्राओं के (अन्तः) भीतर (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (आ, विवेश) अपनी व्याप्ति से अच्छे प्रकार व्याप्त हो रहा है, (तानि) वे पञ्चभूत वा तन्मात्रा (पुरुषे) पूर्ण परमात्मा पुरुष के (अन्तः) भीतर (अर्पितानि) स्थापित हैं। (एतत्) यह (अत्र) इस जगत् में (त्वा) आप को (प्रतिमन्वानः) प्रत्यक्ष जानता हुआ मैं समाधान-कर्त्ता (अस्मि) हूं। जो (मायया) उत्तम बुद्धि से युक्त तू (भवसि) होता है तो (मत्) मुझ से (उत्तरः) उत्तम समाधान-कर्त्ता कोई भी (न) नहीं है, यह तू जान ॥ ५२ ॥

भावार्थः—परमेश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! मेरे ऊपर कोई भी नहीं है, मैं ही सब का आधार, सब में व्याप्त हो के धारण करता हूं, मेरे व्याप्त होने से सब पदार्थ अपने अपने नियम में स्थित हैं। हे सब से उत्तम योगी विद्वान् लोगो! आप लोग इस मेरे विज्ञान को जनाओ ॥ ५२ ॥

काखिदित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। प्रष्टा[2] देवता
अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः
पुनः प्रश्नानाह—

---

१. सृष्टिविज्ञाने स्वयं मन्त्रोऽन्यथा व्याख्यायते। सृष्टि विज्ञाने पुरुषशब्देन विराडपरनाम महदण्डमुच्यते। तदेव बृहदुक्थः (द० ऋ० ४।४।१।१४) प्रजापतिः, यज्ञः, हिरण्यगर्भः इत्येवमनेकैर्नामभिर्वैदिकवाङ्मये स्मर्यते। द्रष्टव्यः-श्रीपण्डितभगवद्दत्तविरचितो 'वेदविद्यानिदर्शन'नामा ग्रन्थः।

२. प्रश्नो देवतेति युक्तः स्यात्, 'या ते नोच्यते सा देवता' इति (ऋक्स० नियमात्। यद्वा भावे तृज् द्रष्टव्यः। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्।

फिर भी अगले मन्त्र में प्रश्नों को कहते हैं ॥

का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः किंᳬस्विदासीद् बृहद्वयः। का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पिशङ्गिला ॥ ५३ ॥

का। स्वित्। आसीत्। पूर्वचित्तिरिति पूर्वऽचित्तिः। किम्। स्वित्। आसीत्। बृहत्। वयः॥ का। स्वित्। आसीत्। पिलिप्पिला। का। स्वित्। आसीत्। पिशङ्गिला ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(का)। (स्वित्)। (आसीत्)। (पूर्वचित्तिः) पूर्वस्मिन्ननादौ सञ्चयनाख्या। (किम्)। (स्वित्)। (आसीत्) (बृहत्) महत्। (वयः) प्रजननात्मकम्। (का)। (स्वित्)। (आसीत्)। (पिलिप्पिला) आर्द्रीभूता। (का)। (स्वित्)। (आसीत्)। (पिशङ्गिला) अवयवान्तःकर्त्री ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! अत्र जगति का स्वित्पूर्वचित्तिरासीत् किं स्विद् बृहद्वय आसीत्, का स्वित् पिलिप्पिला आसीत्, का स्वित् पिशङ्गिला आसीदिति भवन्तं पृच्छामि ॥ ५३ ॥

भावार्थः—अत्र चत्वारः प्रश्नास्तेषां समाधानानि परस्मिन् मन्त्रे द्रष्टव्यानि ॥ ५३ ॥

पदार्थः—हे विद्वन्! इस जगत् में (का, स्वित्) कौन (पूर्वचित्तिः) पूर्व अनादि समय में संचित होनेवाली (आसीत्) है, (किं, स्वित्) क्या (बृहत्) बड़ा (वयः) उत्पन्न स्वरूप (आसीत्) है, (का स्वित्) कौन (पिलिप्पिला) पिलपिली चिकनी (आसीत्) है, और (का, स्वित्) कौन (पिशङ्गिला) अवयवों को भीतर करने वाली (आसीत्) है, यह आप को पूछता हूं ॥ ५३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं, उनके समाधान अगले मन्त्र में देखने चाहियें ॥ ५३ ॥

द्यौरासीदित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। समाधाता[1] देवता। निचृदनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

---

१. अत्रापि पूर्ववत् 'समाधानं' देवतेति युक्तः पाठः स्याद्, भावे तृज्वा। एवमग्रेऽपि।

पूर्वप्रश्नानामुत्तराण्याह—

पूर्व मन्त्र के प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

द्यौरा॑सीत् पू॒र्वचि॑त्ति॒रश्व॑ आसीद् बृ॒हद्वयः॑। अवि॑-
रासीत् पिलिप्पि॒ला रात्रि॑रासीत् पिशङ्गि॒ला ॥ ५४ ॥

द्यौः। आ॒सी॒त्। पू॒र्वचि॑त्ति॒रिति॑ पू॒र्वऽचि॑त्तिः। अश्वः॑। आ॒सी॒त्।
बृ॒हत्। वयः॑॥ अविः॑। आ॒सी॒त्। पि॒लि॒प्पि॒ला। रात्रिः॑।
आ॒सी॒त्। पि॒श॒ङ्गि॒ला ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(द्यौः) विद्युत्। (आसीत्)। (पूर्वचित्तिः) प्रथमं चयनम्। (अश्वः) महत्तत्त्वम्। (आसीत्)। (बृहत्) महत्। (वयः) प्रजननात्मकम्। (अविः) रक्षिका प्रकृतिः। (आसीत्)। (पिलिप्पला)। (रात्रिः) रात्रिवद्वर्त्तमानः प्रलयः। (आसीत्)। (पिशङ्गिला) सर्वेषामवयवानां निगलिका ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासो ! द्यौः पूर्वचित्तिरासीद्, अश्वो बृहद्वय आसीद्, अविः पिलिप्पिलाऽऽसीद्, रात्रिः पिशङ्गिलाऽऽसीद् इति त्वं विजानीहि ॥ ५४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! याऽतीवसूक्ष्मा विद्युत् सा प्रथमा परिणतिः, महदाख्यं द्वितीया परिणतिः, प्रकृतिर्मूलकारणमपरिणतिः, प्रलयः सर्वस्थूलविनाशकोऽस्तीति विजानीत ॥ ५४ ॥

पदार्थः—हे जिज्ञासु मनुष्य ! (द्यौः) बिजुली (पूर्वचित्तिः) पहिला संचय (आसीत्) है, (अश्वः) महत्तत्त्व (बृहत्) बड़ा (वयः) उत्पत्ति स्वरूप (आसीत्) है, (अविः) रक्षा करने वाली प्रकृति (पिलिपिप्ला) पिलपिली चिकनी (आसीत्) है, (रात्रिः) रात्रि के समान वर्त्तमान प्रलय (पिशङ्गिला) सब अवयवों को निगलने वाला (आसीत्) है, यह तू जान ॥ ५४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अतिसूक्ष्म विद्युत् है सो प्रथम परिणाम, महत्तत्त्वरूप द्वितीय परिणाम और प्रकृति सब का मूल कारण परिणाम से रहित है, और प्रलय सब स्थूल जगत् का विनाशरूप है, यह जानना चाहिये ॥ ५४ ॥

का ईमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। प्रष्टा देवता।
अनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

पुनः प्रश्नानाह—

फिर अगले मन्त्र में प्रश्न कहते हैं ॥

का ईमरे पिशङ्गिला का ईं कुरुपिशङ्गिला । क ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां वि सर्पति ॥ ५५ ॥

का । ईम् । अरे । पिशङ्गिला । का । ईम् । कुरुपिशङ्गिलेति कुरुऽपिशङ्गिला ॥ कः । ईम् । आस्कन्दमित्याऽस्कन्दम् । अर्षति । कः । ईम् । पन्थाम् । वि । सर्पति ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(का) । (ईम्) समुच्चये । (अरे) नीचसंबोधने[1] । (पिशङ्गिला) रूपावरणकारिणी । (का) । (ईम्) । (कुरुपिशङ्गिला)[2] । (कः) । (ईम्) । (आस्कन्दम्) । (अर्षति) प्राप्नोति । (कः) । (ईम्) उदकस्य । (पन्थाम्) मार्गम् । (वि) । (सर्पति) ॥ ५५ ॥

अन्वयः—अरे स्त्रि ! का ई पिशङ्गिला, का ई कुरुपिशङ्गिला, क ईमास्कन्दमर्षति, क ई पन्थां विसर्पतीति समाधेहि ॥ ५५ ॥

भावार्थः—केन रूपमाव्रियते, केन कृष्यादिर्नश्यते, कः शीघ्रं धावति, कश्च मार्गे प्रसरतीति, चत्वारः प्रश्नास्तेषामुत्तराणि परस्मिन् मन्त्रे वेदितव्यानि ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(अरे) हे विदुषि स्त्रि ! (का, ईम्) कौन बार बार (पिशङ्गिला) रूप का आवरण करने हारी, (का, ईम्) कौन बार बार (कुरुपिशङ्गिला) यवादि अन्नों से अवयवों को निगलने वाली, (क, ईम्) कौन बार बार (आस्कन्दम्) न्यारी न्यारी चाल को (अर्षति) प्राप्त होता, और (कः) कौन (ईम्) जल के (पन्थाम्) मार्ग को (वि, सर्पति) विशेष पसर के चलता है ॥ ५५ ॥

भावार्थः—किससे रूप का आवरण, किससे खेती आदि का विनाश होता, कौन शीघ्र भागता और कौन मार्ग में पसरता है, ये चार प्रश्न हैं । इनके उत्तर अगले मन्त्र में जानो ॥ ५५ ॥

---

१. यद्यपि लोके 'अरे' पदं नीचसंबोधने प्रयुज्यते, तथापीहोत्तरमन्त्रभाष्यवत् संबोधनमात्रे द्रष्टव्यः । कथं हि नाम यस्मात् समाधानेच्छया प्रश्नाः पृच्छ्यन्ते, स नीचः स्यात् । अत एव भाषा पदार्थे 'हे विदुषि स्त्रि !' इति संबोधनं युज्यते ।

२. अस्य पदार्थ इह नोक्तः । उत्तरमन्त्रभाष्य एवमुच्यते—'कुरोः कृतस्य कृष्यादेः पिशान्यङ्गानि गिलति सा' ।

अजेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । समाधाता देवता । स्वराडुष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥

पूर्वप्रश्नानामुत्तराण्याह—

पूर्व मन्त्र में कहे प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला । शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति ॥ ५६ ॥

अजा । अरे । पिशङ्गिला । श्वावित् । श्वविदिति श्वऽवित् । कुरुपिशङ्गिलेति कुरुऽपिशङ्गिला ॥ शशः । आस्कन्दमित्याऽस्कन्दम् । अर्षति । अहिः । पन्थाम् । वि । सर्पति ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(अजा) जन्मरहिता प्रकृतिः । (अरे) सम्बोधने । (पिशङ्गिला) । (श्वावित्) पशुविशेष इव[1] । (कुरुपिशङ्गिला) कुरोः कृतस्य कृष्यादेः पिशान्यङ्गानि गिलति, सा । (शशः) पशुविशेष इव वायुः । (आस्कन्दम्) समन्तादुत्प्लुत्य गमनम् । (अर्षति) प्राप्नोति । (अहिः) मेघः । (पन्थाम्) पन्थानम् । (वि, सर्पति) विविधतया गच्छति ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अरे मनुष्याः ! अजा पिशङ्गिला, श्वावित् कुरुपिशङ्गिलाऽस्ति, शश आस्कन्दमर्षति अहिः पन्थां विसर्पतीति विजानीत ॥ ५६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या अजा याऽजा[2] प्रकृतिः सर्वकार्यप्रलयाधिकारिणी कार्यकारणाख्या स्वकार्यं स्वस्मिन् प्रलाययति, या सेधा कृष्यादिकं विनाशयति, यो वायुः शश इव गच्छन् सर्वं शोषयति, यो मेघः सर्प इव गच्छति, तान् विजानीत ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(अरे) हे मनुष्यो ! (अजा) जन्मरहित प्रकृति (पिशङ्गिला) विश्व के रूप को प्रलय समय में निगलनेवाली, (श्वावित्) सेही (कुरुपिशङ्गिला) किये हुए खेती आदि के अवयवों का नाश करती है, (शशः) खरहा के तुल्य वेगयुक्त कृषि आदि को खरखराने (=सुखानेवाला) वाला वायु (आस्कन्दम्) एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को शीघ्र (अर्षति) प्राप्त होता, और (अहिः) मेघ

१. अत्रास्योपमानस्य क उपमेय इति न ज्ञायते । यथा तु भावार्थः भाषापदार्थश्च तथा 'इव' पदमिह निरर्थकं प्रतिभाति । पशुविशेषः सेधा नाम्ना प्रसिद्धः (सेही इति भाषा) । २. पदमिदं पुनरुक्तमिव भाति ।

(पन्थाम्) मार्ग में (वि, सर्पति) विविध प्रकार से जाता है, इस को तुम जानो ॥ ५६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो प्रकृति सब कार्यरूप जगत् का प्रलय करने हारी, कार्यों की कारणरूप, अपने कार्य को अपने में लय करने हारी है, जो सेही खेती आदि का विनाश करती है, जो वायु खरहा के समान चलता हुआ सब को सुखाता है और जो मेघ साँप के समान [पसरकर] चलता है, उन सब को जानो ॥ ५६ ॥

कत्यस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्रष्टा देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः प्रश्नानाह—

फिर भी अगले मन्त्र में प्रश्न कहते हैं ॥

कत्य॑स्य वि॒ष्ठाः कत्य॒क्षरा॑णि॒ कति॒ होमा॑सः कति॒धा समि॑द्धः । य॒ज्ञस्य॑ त्वा॑ वि॒दथा॑ पृच्छ॒मत्र॒ कति॒ होता॑र ऋतु॒शो य॑जन्ति ॥ ५७ ॥

कति॑ । अ॒स्य॒ । वि॒ष्ठाः । वि॒स्था इति॑ वि॒ऽस्थाः । कति॑ । अ॒क्षरा॑णि । कति॑ । होमा॑सः । क॒ति॒धा । समि॑द्ध॒ इति॒ सम्ऽइ॑द्धः ॥ य॒ज्ञस्य॑ । त्वा॒ । वि॒दथा॑ । पृ॒च्छ॒म् । अत्र॑ । कति॑ । होता॑रः । ऋ॒तु॒श इत्यृ॑तु॒ऽशः । य॒ज॒न्ति॒ ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(कति) । (अस्य) । (विष्ठाः) विशेषेण तिष्ठति यज्ञो यासु, ताः । (कति) । (अक्षराणि) उदकानि । अक्षरमित्युदकनामसु पठितम् (निघं० १।१२) । (कति) । (होमासः) दानाऽऽदानानि । (कतिधा) कतिप्रकारैः । (समिद्धः) ज्ञानादिप्रकाशकाः समिद्रूपाः । अत्र छान्दसो वर्णागमस्तेन धस्य द्वित्वं सम्पन्नम्[1] । (यज्ञस्य) संयोगादुत्पन्नस्य जगतः । (त्वा) त्वाम् । (विद्था) विज्ञानानि । (पृच्छम्) पृच्छामि । (अत्र) । (कति) । (होतारः) । ऋतुशः ऋतुमृतुं प्रति । (यजन्ति) संगच्छन्ते ॥ ५७ ॥

---

१. उत्तरमन्त्रे 'समिधो ह तिस्रः' इति वचनात् इहापि समिध एवाभिप्रेताः । अत एवेह वर्णागमरूपेण धकारस्य द्वित्वमुक्तम् ।

अन्वयः—हे विद्वन् ! अस्य यज्ञस्य कति विष्ठाः, कत्यक्षराणि, कति होमासः, कतिधा समिद्धः, कति होतार ऋतुशो यजन्तीत्यत्र विषये विदथा त्वाऽहं पृच्छम् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—इदं जगत्क तिष्ठति, कत्यस्य निर्माणसाधनानि, कति व्यापारयोग्यानि, कतिविधं ज्ञानादिप्रकाशकं, कति व्यवहर्त्तार इति पञ्च प्रश्नाः तेषामुत्तराण्युत्तरत्र वेद्यानि ॥ ५७ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! (अस्य) इस (यज्ञस्य) संयोग से उत्पन्न हुए संसाररूप यज्ञ के (कति) कितने (विष्ठाः) विशेष कर संसाररूप यज्ञ जिन में स्थित हो वे, (कति) कितने इस के (अक्षराणि) जलादि साधन, (कति) कितने (होमासः) देने लेने योग्य पदार्थ, (कतिधा) कितने प्रकार के (समिद्धः) ज्ञानादि के प्रकाशक पदार्थ समिधरूप, (कति) कितने (होतारः) होता अर्थात् देने लेने आदि व्यवहार के कर्त्ता, (ऋतुशः) वसन्तादि प्रत्येक ऋतु में (यजन्ति) संगम करते हैं । इस प्रकार (अत्र) इस विषय में (विदथा) विज्ञानों को (त्वा) आप से मैं (पृच्छम्) पूछता हूं ॥ ५७ ॥

भावार्थः—यह जगत् कहां स्थित है, कितने इस की उत्पत्ति के साधन, कितने व्यापार के योग्य वस्तु, कितने प्रकार के ज्ञानादि प्रकाशक वस्तु और कितने व्यवहार करने हारे हैं, इन पांच प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में जान लेना चाहिये ॥ ५७ ॥

षडस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । समाधाता[१] देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पूर्वप्रश्नानामुत्तराण्याह—

पूर्व मन्त्र में कहे प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

षड॑स्य वि॒ष्ठाः श॒तम॒क्षरा॑ण्यशी॒तिर्होमाः॑ स॒मिधो॑ ह ति॒स्रः । य॒ज्ञस्य॑ ते वि॒दथा॒ प्र ब्र॑वीमि स॒प्त होता॑र ऋतु॒शो य॑जन्ति ॥ ५८ ॥

षट् । अ॒स्य॒ । वि॒ष्ठाः । वि॒स्था इति॑ वि॒ऽस्थाः । श॒तम् । अ॒क्षरा॑णि । अ॒शी॒तिः । होमाः॑ । स॒मिध॒ इति॑ स॒म्ऽइधः॑ । ह॒ ।

---

२. 'समिधा' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः । अन्यत्र सर्वत्र उत्तराभिधायके मन्त्रे 'समाधाता देवता' इत्येव पठ्यते ।

३१

तिस्रः ॥ यज्ञस्य । ते । विदथा । प्र । ब्रवीमि । सप्त । होतारः । ऋतुश इति ऋतुऽशः । यजन्ति ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(षट्) ऋतवः । (अस्य) । (विष्ठाः) । (शतम्) । (अक्षराणि) उदकानि । (अशीतिः) उपलक्षणमेतदसंख्यस्य । (होमाः) । (समिधः) समिध्यते प्रदीप्यते ज्ञानं याभिस्ताः । (ह) किल । (तिस्रः) । (यज्ञस्य) । (ते) तुभ्यम् । (विदथा) विज्ञानानि । (प्र) प्रकर्षेण । (ब्रवीमि) । (सप्त) पञ्च प्राणा मन आत्मा च । (होतारः) दातार आदातारः । (ऋतुशः) यजन्ति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासवोऽस्य यज्ञस्य षट् विष्ठाः, शतमक्षराण्यशीतिर्होमास्तिस्रो ह समिधः, सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति, तस्य विदथा तेऽहं प्रब्रवीमि ॥ ५८ ॥

भावार्थः—हे ज्ञानेप्सवो जनाः ! यस्मिन् यज्ञे षड् ऋतवः स्थितिसाधकाः, असंख्यानि जलादीनि वस्तूनि व्यवहारसाधकानि, बहवो व्यवहारयोग्याः पदार्थाः, सर्वे प्राण्यप्राणिनो होत्रादयः संगच्छन्ते, यत्र च ज्ञानादिप्रकाशिका त्रिविधा[1] विद्याः सन्ति, तं यज्ञं यूयं विजानीत ॥ ५८ ॥

पदार्थः—हे जिज्ञासु लोगो ! (अस्य) इस (यज्ञस्य) संगत [हुए] जगत् के (षट्) छः ऋतु (विष्ठाः) विशेष स्थिति के आधार, (शतम्) असंख्य (अक्षराणि) जलादि उत्पत्ति के साधन, (अशीतिः) असंख्य (होमाः) देने लेने योग्य वस्तु, (तिस्रः) आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीन (ह) प्रसिद्ध (समिधः) ज्ञानादि की प्रकाशक विद्या, (सप्त) पांच प्राण, मन और आत्मा [ये] सात (होतारः) देने लेने आदि व्यवहार के कर्त्ता (ऋतुशः) प्रति वसन्तादि ऋतु में (यजन्ति) संगत होते हैं । उस जगत् के (विदथा) विज्ञानों को (ते) तेरे लिये मैं (प्रब्रवीमि) कहता हूं ॥ ५८ ॥

भावार्थः—हे ज्ञान चाहने वाले लोगो ! जिस जगत्रूप यज्ञ में छः ऋतु स्थिति के साधक, असंख्य जलादि वस्तु व्यवहारसाधक, बहुत व्यवहार के योग्य पदार्थ, और सब प्राणी अप्राणी होता आदि संगत होते हैं और जिस में ज्ञान आदि का प्रकाश करने वाली तीन प्रकार की विद्या[2] हैं, उस यज्ञ को तुम लोग जानो ॥ ५८ ॥

---

१. 'विविधाः' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः । भाषाभावार्थे 'तीन प्रकार की विद्या' इति विस्पष्टवचनात् । अपि च त्रय्यामेव सर्वा विद्या अन्तर्भवन्ति ।

२. ऋग्-यजुः-साम रूप ।

कोऽस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्रष्टा देवता ।
निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनः प्रश्नानाह—
फिर भी अगले मन्त्र में प्रश्नों को कहते हैं ॥

को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् । कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ५९ ॥

कः । अस्य । वेद । भुवनस्य । नाभिम् । कः । द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी । अन्तरिक्षम् ॥ कः । सूर्यस्य । वेद । बृहतः । जनित्रम् । कः । वेद । चन्द्रमसम् । यतोजा इति यतःऽजाः ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(कः) । (अस्य) । (वेद) जानाति । (भुवनस्य) सर्वाधिकरणस्य संसारस्य । (नाभिम्) मध्यमाङ्गं बन्धनस्थानम् । (कः) । (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी । (अन्तरिक्षम्) आकाशम् । (कः) । (सूर्यस्य) सवितृमण्डलस्य । (वेद) जानाति । (बृहतः) महतः । (जनित्रम्) कारणं जनकं वा । (कः) । (वेद) । (चन्द्रमसम्) चन्द्रलोकम् । (यतोजाः) यस्माज्जातः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! अस्य भुवनस्य नाभिं को वेद, को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वेद, को बृहतः सूर्यस्य जनित्रं वेद, यो यतोजास्तं चन्द्रमसं च को वेदेति समाधेहि ॥ ५९ ॥

भावार्थः—अस्य जगतो धारकं बन्धनं, भूमिसूर्यान्तरिक्षाणि, महतः सूर्यस्य कारणं, यस्मादुत्पन्नश्चन्द्रस्तं च को वेदेति चतुर्णां प्रश्नानामुत्तराणि परस्मिन् मन्त्रे सन्तीति वेदितव्यम् ॥ ५९ ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! (अस्य) इस (भुवनस्य) सब के आधारभूत संसार के (नाभिम्) बन्धन के स्थान मध्यभाग को (कः) कौन (वेद) जानता, (कः) कौन (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी तथा (अन्तरिक्षम्) आकाश को जानता, (कः) कौन (बृहतः) बड़े (सूर्यस्य) सूर्यमण्डल के (जनित्रम्) उपादान वा निमित्त कारण को (वेद) जानता, और जो (यतोजाः) जिससे उत्पन्न हुआ है उस चन्द्रमा के उत्पादक को और (चन्द्र-

मसम्) चन्द्रलोक को (कः) कौन (वेद) जानता है, इनका समाधान कीजिये ॥ ५९ ॥

भावार्थः—इस जगत् के धारणकर्त्ता बन्धन, भूमि सूर्य अन्तरिक्षों, महान् सूर्य के कारण और चन्द्रमा जिससे उत्पन्न हुआ है, उसको कौन जानता है इन चार प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में हैं, यह जानना चाहिये ॥ ५९ ॥

वेदाहमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। समाधाता देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पूर्वप्रश्नानामुत्तराण्याह—

पूर्व मन्त्र में कहे प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में कहते हैं॥

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्। वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥ ६०॥

वेद। अहम्। अस्य। भुवनस्य। नाभिम्। वेद। द्यावापृथिवी इति द्यावापृथिवी। अन्तरिक्षम्॥ वेद। सूर्यस्य। बृहतः। जनित्रम्। अथो इत्यथो। वेद। चन्द्रमसम्। यतोजा इति यतःऽजाः॥ ६०॥

पदार्थः—(वेद)। (अहम्) (अस्य)। (भुवनस्य)। (नाभिम्) बन्धनम्। (वेद)। (द्यावापृथिवी) प्रकाशाप्रकाशौ लोकसमूहौ। (अन्तरिक्षम्) आकाशम्। (वेद)। (सूर्यस्य)। (बृहतः) महत्परिमाणयुक्तस्य। (जनित्रम्)। (अथो)। (वेद)। (चन्द्रमसम्)। (यतोजाः)॥ ६०॥

अन्वयः—हे जिज्ञासोऽस्य भुवनस्य नाभिमहं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वेद बृहतः सूर्यस्य जनित्रं वेद। अथो यतोजास्तं चन्द्रमसञ्चाहं वेद॥ ६०॥

भावार्थः—विद्वान् ब्रूयात्—हे जिज्ञासोऽस्य जगतो बन्धनस्थितिकारणं, लोकत्रयस्य कारणं, सूर्याचन्द्रमसोश्चोपादाननिमित्ते, एतत् सर्वमहं जानामि। ब्रह्मैवास्य सर्वस्य निमित्तं कारणं प्रकृतिश्चोपादानमिति॥ ६०॥

पदार्थः—हे जिज्ञासो पुरुष ! (अस्य) इस (भुवनस्य) सब के अधिकरण जगत् के (नाभिम्) बन्धन के स्थान कारणरूप मध्यभाग परब्रह्म को (अहम्) मैं (वेद) जानता हूँ । तथा (द्यावापृथिवी) प्रकाशित और अप्रकाशित लोकसमूहों और (अन्तरिक्षम्) आकाश को भी (वेद) मैं जानता हूं. (बृहतः) बड़े (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (जनित्रम्) उपादान तैजस कारण और निमित्तकारण ब्रह्म को (वेद) मैं जानता हूं. (अथो) इसके अनन्तर (यतोजाः) जिस परमात्मा से उत्पन्न हुआ जो चन्द्र उस परमात्मा को तथा (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा को (वेद) मैं जानता हूं ॥ ६० ॥

भावार्थः—विद्वान् उत्तर देवे कि हे जिज्ञासु पुरुष ! इस जगत् के बन्धन अर्थात् स्थिति के कारण, प्रकाशित अप्रकाशित मध्यस्थ आकाश इन तीनों लोक के कारण, और सूर्य [तथा] चन्द्रमा के उपादान और निमित्तकारण इस सब को मैं जानता हूं । ब्रह्म ही इस सब का निमित्तकारण और प्रकृति उपादानकारण है ॥ ६० ॥

पृच्छामीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्रष्टा देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः प्रश्नानाह—ः

फिर भी अगले मन्त्र में प्रश्नों को कहते हैं ॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः । पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ ६१ ॥

पृच्छामि । त्वा । परम् । अन्तम् । पृथिव्याः । पृच्छामि । यत्र । भुवनस्य । नाभिः ॥ पृच्छामि । त्वा । वृष्णः । अश्वस्य । रेतः । पृच्छामि । वाचः । परमम् । व्योमेति विऽओम ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(पृच्छामि) । (त्वा) त्वाम् । (परम्) । परभागस्थम् । (अन्तम्) सीमानम् । (पृथिव्याः) । (पृच्छामि) । (यत्र) । (भुवनस्य) । (नाभिः) मध्याकर्षणेन बन्धकम् । (पृच्छामि) । (त्वा) त्वाम् । (वृष्णः) सेचकस्य । (अश्वस्य) बलवतः । (रेतः)

वीर्यम् । (पृच्छामि) । (वाचः) वाण्याः । (परमम्) प्रकृष्टम् । (व्योम) आकाशरूपं[1] स्थानम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! अहं त्वा त्वां पृथिव्या अन्तं परं पृच्छामि, यत्र भुवनस्य नाभिरस्ति तं पृच्छामि, यद् वृष्णोऽश्वस्य रेतोऽस्ति तत्पृच्छामि, वाचः, परमं व्योम त्वा पृच्छामीति वदोत्तराणि ॥ ६१ ॥

भावार्थः—पृथिव्याः सीमा, लोकस्याकर्षणेन बन्धनं, बलिनो जनस्य पराक्रमो, वाक्पारगश्च कोऽस्तीत्येतेषां प्रश्नानामुत्तराणि परस्मिन् मन्त्रे वेदितव्यानि ॥ ६१ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् जन ! मैं (त्वा) आप से (पृथिव्याः) पृथिवी के (अन्तम्, परम्) परभाग अवधि को (पृच्छामि) पूछता, (यत्र) जहां इस (भुवनस्य) लोक का (नाभिः) [जो] मध्य से खेंच के बन्धन करता है, उसको (पृच्छामि) पूछता, जो (वृष्णः) सेचनकर्त्ता (अश्वस्य) बलवान् पुरुष का (रेतः) पराक्रम है, उस को (पृच्छामि) पूछता, और (वाचः) तीन वेदरूप वाणी के (परमम्) उत्तम (व्योम) आकाशरूप[2] स्थान को (त्वा) आप से (पृच्छामि) पूछता हूं । आप उत्तर कहिये ॥ ६१ ॥

भावार्थः—पृथिवी की सीमा क्या, जगत् का आकर्षण से बन्धन कौन, बली जन का पराक्रम कौन, और वाणी का पारगन्ता कौन है, इन चार प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में जानने चाहियें ॥ ६१ ॥

इयमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । समा ाता देवता ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पूर्वप्रश्नानामुत्तराण्याह—
पूर्व मन्त्र में कहे प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

इ॒यं वेदि॒: परो॒ अन्त॑: पृथि॒व्या अ॒यं य॒ज्ञो भुव॑नस्य॒ नाभि॑: । अ॒यꣳ सोमो॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ रेतो॑ ब्र॒ह्मायं वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म ॥ ६२ ॥

---

१. रूपशब्द उपमावाची (द्र० निघ० ३।१३), आकाशमिव स्थानम् ।
२. संस्कृत में प्रयुक्त 'रूप' शब्द उपमावाची है । अतः 'आकाश के समान' अनुवाद होना चाहिए ।

इयम् । वेदिः । परः । अन्तः । पृथिव्याः । अयम् । यज्ञः । भुवनस्य । नाभिः ॥ अयम् । सोमः । वृष्णः । अश्वस्य । रेतः । ब्रह्मा । अयम् । वाचः । परमम् । व्योमेति विऽओम ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(इयम्) । (वेदिः) मध्यरेखा । (परः) । (अन्तः) । (पृथिव्याः) भूमेः । (अयम्) । (यज्ञः) सर्वैः पूजनीयो जगदीश्वरः । (भुवनस्य) संसारस्य (नाभिः) । (अयम्) । (सोमः) ओषधिराजः । (वृष्णः) वीर्यकरस्य । (अश्वस्य) बलेन युक्तस्य जनस्य । (रेतः) । (ब्रह्मा) चतुर्वेदवित् । (अयम्) । (वाचः) वाण्याः । (परमम्) । (व्योम) स्थानम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासो ! इयं वेदिः पृथिव्याः परोऽन्तोऽयं यज्ञो भुवनस्य नाभिरयं सोमो वृष्णोऽश्वस्य रेतोऽयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योमास्तीति विद्धि ॥६२॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यद्यस्य भूगोलस्य मध्यस्था रेखा क्रियेत, तर्हि सा उपरिष्टाद् भूमेरन्तं प्राप्नुवती सती व्याससंज्ञां लभते । अयमेव भूमेरन्तोऽस्ति । सर्वेषां मध्याकर्षणं जगदीश्वरः, सर्वेषां प्राणिनां वीर्यकर ओषधिराजः सोमो, वेदपारगो वाक्पारगोऽस्तीति यूयं विजानीत ॥६२॥

पदार्थः—हे जिज्ञासु जन ! (इयम्) यह (वेदिः) मध्यरेखा (पृथिव्याः) भूमि के (परः) परभाग की (अन्तः) सीमा है, (अयम्) यह प्रत्यक्ष गुणोंवाला (यज्ञः) सब को पूजनीय जगदीश्वर (भुवनस्य) संसार की (नाभिः) नियत स्थिति का बन्धक है, (अयम्) यह (सोमः) ओषधियों में उत्तम अंशुमान् आदि सोम (वृष्णः) पराक्रमकर्ता (अश्वस्य) बलवान् जन का (रेतः) पराक्रम है, और (अयम्) यह (ब्रह्मा) चारों वेद का ज्ञाता (वाचः) तीन वेदरूप वाणी का (परमम्) उत्तम (व्योम) स्थान है, तू इसको जान ॥ ६२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो इस भूगोल की मध्यस्थ रेखा खींची जावे तो वह ऊपर से भूमि के अन्त को प्राप्त होती हुई व्याससंज्ञक होती है, यही भूमि की सीमा है । सब लोकों के मध्य आकर्षणकर्त्ता जगदीश्वर है । सब प्राणियों को पराक्रमदेनेहारा औषधियों में उत्तम अंशुमान् आदि सोम है और वेदपारग पुरुष वाणी का पारगन्ता है, यह तुम जानो ॥ ६२ ॥

सुभूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । समाधाता देवता ।
विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ईश्वरः कीदृश इत्याह—

ईश्वर कैसा है, इस विषय को अगले मन्त्र में कहते हैं।

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥ ६३॥

सुभूरिति सुऽभूः। स्वयम्भूरिति स्वयम्ऽभूः। प्रथमः। अन्तः। महति। अर्णवे॥ दधे। ह। गर्भम्। ऋत्वियम्। यतः। जातः। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः॥ ६३॥

पदार्थः—(सुभूः) यः सुष्ठु भवतीति। (स्वयम्भूः) यः स्वयम्भवत्युत्पत्तिनाशरहितः। (प्रथमः) आदिमः। (अन्तः) मध्ये। (महति)। (अर्णवे) यत्रार्णांस्युदकानि संबद्धानि सन्ति, तस्मिन् संसारे। (दधे) दधाति। (ह) किल। (गर्भम्) बीजम्। (ऋत्वियम्) ऋतुः सम्प्राप्तोऽस्य, तम्। (यतः) यस्मात्। (जातः)। (प्रजापतिः) प्रजापालकः सूर्यः॥ ६३॥

अन्वयः—हे जिज्ञासो ! यतः प्रजापतिर्जातो यश्च सुभूः स्वयम्भूः प्रथमो जगदीश्वरो महत्यर्णवेऽन्तर्ऋत्वियं गर्भं दधे तं ह सर्वे जना उपासीरन्॥६३॥

भावार्थः—यदि ये मनुष्याः सूर्यादीनां परं कारणं प्रकृतिं तत्र बीजधारकं परमात्मानं च विजानीयुस्तर्हि तेऽस्मिन् संसारे विस्तीर्णसुखा भवेयुः॥ ६३॥

पदार्थः—हे जिज्ञासु जन ! (यतः) जिस जगदीश्वर से (प्रजापतिः) विश्व का रक्षक सूर्य (जातः) उत्पन्न हुआ है और जो (सुभूः) अच्छे प्रकार[1] विद्यमान, (स्वयम्भूः) जो अपने आप प्रसिद्ध, उत्पत्तिनाश-रहित, (प्रथमः) सब से प्रथम जगदीश्वर (महति) बड़े विस्तृत (अर्णवे) जलों से सम्बद्ध हुए संसार के (अन्तः) बीच (ऋत्वियम्) समयानुकूल प्राप्त (गर्भम्) बीज को (दधे) धारण करता है, (ह) उसी की सब लोग उपासना करें। ६३॥

भावार्थः—यदि मनुष्य लोग सूर्यादि लोकों के उत्तम कारण प्रकृति को और उस प्रकृति में उत्पत्ति की शक्ति को धारण करनेहारे परमात्मा को जानें तो वे जन इस जगत् में विस्तृत सुख वाले होवें॥ ६३॥

१. '(सुभूः) सुन्दर विद्यमान' इति पूर्वमुद्रिते पाठः।

होता यक्षदित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
विराडुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वर ॥
ईश्वरः कथमुपास्य इत्याह—
ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश
अगले मन्त्र में किया है ।

होता यक्षत् प्रजापतिꣳ सोमस्य महिम्नः । जुषतां पिबतु सोमꣳ होतर्यज ॥ ६४ ॥

होता । यक्षत् । प्रजापतिमिति प्रजाऽपतिम् । सोमस्य । महिम्नः ॥ जुषताम् । पिबतु । सोमम् । होतः । यज ॥ ६४ ॥

पदार्थः—(होता) आदाता । (यक्षत्) यजेत् पूजयेत् । (प्रजापतिम्) विश्वस्य पालकं स्वामिनम् । (सोमस्य) सकलैश्वर्ययुक्तस्य । (महिम्नः) महतो भावस्य सकाशात् । (जुषताम्) । (पिबतु) । (सोमम्) सर्वौषधिरसम् । (होतः) दातः । (यज) पूजय ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे होतर्यथा होता सोमस्य महिम्नः प्रजापतिं यक्षज्जुषतां च सोमं च पिबतु, तथा त्वं यज पिब च ॥ ६४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! यथा विद्वांसोऽस्मिञ्जगति रचनादिविशेषैः परमात्मनो महिमानं विदित्वैनमुपासते, तथैतं यूयमप्युपाध्वम् । यथेमे युक्त्यौषधानि सेवित्वाऽरोगा जायन्ते, तथा भवन्तोऽपि भवन्तु ॥ ६४ ॥

पदार्थः—हे (होतः) दान देनेहारे जन ! जैसे (होता) ग्रहीता पुरुष (सोमस्य) सब ऐश्वर्य से युक्त (महिम्नः) बड़प्पन के होने से (प्रजापतिम्) विश्व के पालक स्वामी की (यक्षत्) पूजा करे, वा उस को (जुषताम्) सेवा से प्रसन्न करे, और (सोमम्) सब उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवे, वैसे तू (यज) उस की पूजा कर और उत्तम ओषधि के रस को पिया कर ॥ ६४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग इस जगत् में रचना आदि विशेष चिह्नों से परमात्मा कीम हिमा को जान के इस की उपासना करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी इस की उपासना करो । जैसे ये विद्वान् युक्तिपूर्वक पथ्य पदार्थों का सेवन कर नीरोग होते हैं, वैसे आप लोग भी हों ॥ ६४ ॥

प्रजापते नेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । ईश्वरो देवता ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६५ ॥

प्रजापत इति प्रजाऽपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि । परि । ता । बभूव ॥ यत्कामा इति यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६५ ॥

पदार्थः—(प्रजापते) सर्वस्याः प्रजायाः पालक स्वामिन्नीश्वर ! (न)। (त्वत्) तव सकाशात् । (एतानि) पृथिव्यादीनि भूतानि । (अन्यः) भिन्नः । (विश्वा) सर्वाणि । (रूपाणि) स्वरूपयुक्तानि । (परि)। (ता) तानि । (बभूव) भवति । (यत्कामाः) यः पदार्थः कामो येषां, ते । (ते) तव । (जुहुमः) प्रशंसामः । (तत्) कमनीयं वस्तु । (नः) अस्मभ्यम् । (अस्तु) भवतु । (वयम्)। (स्याम) भवेम । (पतयः) स्वामिनः, पालकाः । (रयीणाम्) विद्यासुवर्णादिधनानाम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे प्रजापते ! परमात्मन् कश्चित् ! त्वदन्यस्ता तान्येतानि विश्वा रूपाणि वस्तूनि न परि बभूव । यत्कामा वयं त्वां जुहुमस्तन्नोऽस्तु, ते कृपया वयं रयीणां पतयः स्याम ॥ ६५ ॥

भावार्थः—यदि परमेश्वरादुत्तमं वृहदैश्वर्ययुक्तं सर्वशक्तिमद्वस्तु किंचिदपि नास्ति, तर्हि तुल्यमपि न । यो विश्वात्मा विश्वस्रष्टाऽखिलैश्वर्यप्रद ईश्वरोऽस्ति, तस्यैव भक्तिविशेषेण पुरुषार्थेनैहिकमैश्वर्यं, योगाभ्यासेन पारमार्थिकं सामर्थ्यं प्राप्नुयाम ॥ ६५ ॥

अत्र परमात्ममहिमा, सृष्टिगुणवर्णनं, योगप्रशंसा, प्रश्नोत्तराणि, सृष्टिपदार्थप्रशंसनं, राजप्रजागुणवर्णनं, शास्त्राद्युपदेशोऽध्ययनमध्यापनं,

स्त्रीपुरुषगुणवर्णनं, पुनः प्रश्नोत्तराणि, परमेश्वरगुणवर्णनं, यज्ञव्याख्या, रेखागणितादि चोक्तमत एतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥

पदार्थः—हे (प्रजापते) सब प्रजा के रक्षक स्वामिन् ईश्वर ! कोई भी (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न (ता) उन (एतानि) इन पृथिव्यादि भूतों तथा (विश्वा) सब (रूपाणि) स्वरूपयुक्त वस्तुओं पर (न) नहीं (परि, बभूव) बलवान् है । (यत्कामाः) जिस जिस पदार्थ की कामना वाले होकर (वयम्) हम लोग आप की (जुहुमः) प्रशंसा करें (तत्) वह वह कामना के योग्य वस्तु (नः) हम को (अस्तु) प्राप्त हो । (ते) आप की कृपा से हम लोग (रयीणाम्) विद्या सुवर्ण आदि धनों के (पतयः) रक्षक स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६५ ॥

भावार्थः—जो परमेश्वर से उत्तम, बड़ा, ऐश्वर्ययुक्त, सर्वशक्तिमान् पदार्थ कोई भी नहीं है, तो उस के तुल्य भी कोई नहीं । जो सब का आत्मा, सब का रचने वाला, समस्त ऐश्वर्य का दाता ईश्वर है, उसकी भक्ति विशेष और अपने पुरुषार्थ से इस लोक के ऐश्वर्य और योगाभ्यास के सेवन से परलोक के सामर्थ्य को हम लोग प्राप्त हों ॥ ६५ ॥

इस अध्याय में परमात्मा की महिमा, सृष्टि के गुण, योग की प्रशंसा, प्रश्नोत्तर, सृष्टि के पदार्थों की प्रशंसा, राजा प्रजा के गुण, शास्त्र आदि का उपदेश, पठन पाठन, स्त्री पुरुषों के परस्पर गुण, फिर प्रश्नोत्तर, ईश्वर के गुण, यज्ञ की व्याख्या और रेखागणित आदि का वर्णन किया है इससे इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ के संगति जाननी चाहिये ॥

❋ अध्याय ३४ के मन्त्र ❋

(१—६, ३४—३८)

यज्जाग्रत इत्यस्य शिवसंकल्प ऋषिः । मनो देवता ।
विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ मनसो वशीकरणविषयमाह—

अब मन को वश करने का विषय कहते हैं ॥

यज्जाग्र॑तो दू॒रमु॒दैति॒ दैव॒न्तदु॑ सु॒प्तस्य॒ तथै॒वैति॑ । दू॒र॒ङ्ग॒मं ज्योति॑षां॒ ज्योति॒रेक॒न्तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

यत् । जाग्र॑तः । दू॒रम् । उ॒दैतीत्यु॑त्ऽऐति॑ । दैव॑म् । तत् । ऊँ इत्यूँ । सु॒प्तस्य॑ । तथा॑ । ए॒व । एति॑ ॥ दू॒र॒ङ्ग॒ममिति॑ दूरम्ऽग॒मम् । ज्योति॑षाम् । ज्योतिः॑ । एक॑म् । तत् । मे॒ । मनः॑ । शि॒वस॑ङ्कल्प॒मिति॑ शि॒वऽस॑ङ्कल्पम् । अ॒स्तु॒ ॥ १ ॥

पदार्थः—(यत्) । (जाग्रतः) । (दूरम्) । (उदैति) उद्गच्छति । (दैवम्) देव आत्मनि भवं, देवस्य जीवात्मनः साधनमिति वा । (तत्) यत् । व्यत्ययः । (उ) । (सुप्तस्य) शयानस्य । (तथा) तेनैव प्रकारेण । (एव) । (एति) अन्तर्गच्छति । (दूरङ्गमम्) यद् दूरं गच्छति गमयति वाऽनेकपदार्थान् गृह्णाति तत् । (ज्योतिषाम्) शब्दादिविषयप्रकाशकानामिन्द्रियाणाम् । (ज्योतिः) प्रकाशकं प्रवर्त्तकम् । आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति [न्यायभाष्य १ । १ । ४] महर्षिवात्स्यायनोक्तेः । (एकम्) असहायम् । (तत्) । (मे) मम । (मनः) संकल्पविकल्पात्मकम् । (शिवसंकल्पम्) शिवः कल्याणकारी धर्मविषयः संकल्प इच्छा यस्य, तत् । (अस्तु) भवतु ॥ १ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन् वा ! भवदनुग्रहेण यद्दैवं दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं जाग्रतो दूरमुदैति, तदु सुप्तस्य तथैवान्तरेति, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञासेवनं, विद्वत्संगं कृत्वा, अनेकविधसामर्थ्ययुक्तं मनः शुद्धं सम्पादयन्ति, यज्जागृतावस्थायां विस्तृतव्यवहारं, तत्सुषुप्तौ शान्तं भवति, यद्वेगवतां वेगवत्तरं, ज्ञानस्य साधकत्वादिन्द्रियाणामपि प्रवर्त्तकं निगृह्णन्ति तेऽशुभव्यवहारं विहाय शुभाचरणे प्रेरयितुं शक्नुवन्ति ॥ १ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर वा राजन् ! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) आत्मा में रहने, वा जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर जाने. मनुष्य को दूर तक लेजाने, वा अनेक पदार्थों का ग्रहण करने वाला (ज्योतिषाम्) शब्द आदि विषयों के प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रवृत्त करने हारा (एकम्) एक (जाग्रतः) जागृत अवस्था में (दूरम्) दूर दूर (उत्, ऐति) भागता है, (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा, एव) उसी प्रकार भीतर अन्तःकरण में (एति) जाता है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) संकल्प विकल्पात्मक मन (शिवसङ्कल्पम्) कल्याणकारी धर्म विषयक इच्छा वाला (अस्तु) हो ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन और विद्वानों का सङ्ग करके अनेकविध सामर्थ्ययुक्त मन को शुद्ध करते हैं, जो जागृतावस्था में विस्तृत व्यवहार वाला [है] वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है, जो वेग वाले पदार्थों में अति वेगवान्, ज्ञान के साधन होने से इन्द्रियों के प्रवर्त्तक मन को वश में करते हैं, वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रवृत्त कर सकते हैं ॥ १ ॥

येन कर्माणीत्यस्य शिवसंकल्प ऋषिः । मनो देवता ।
त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह—
फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

येन । कर्माणि । अपसः । मनीषिणः । यज्ञे । कृण्वन्ति । विदथेषु । धीराः ॥ यत् । अपूर्वम् । यक्षम् । अन्तरित्यन्तः ।

प्रजानामिति प्रऽजानाम् । तत् । मे । मनः । शिवसंकल्पमिति शिवऽसंकल्पम् । अस्तु ॥ २ ॥

पदार्थः—(येन) मनसा । (कर्माणि) कर्त्तुरीप्सिततमानि क्रियमाणानि । (अपसः) अपः कर्म, तद्वन्तः, सदा कर्मनिष्ठाः । (मनीषिणः) मनस ईषिणो दमनकर्त्तारः । (यज्ञे) अग्निहोत्रादौ, धर्मेण सङ्गतव्यवहारे, योगाभ्यासे वा । (कृण्वन्ति) कुर्वन्ति । (विदथेषु) विज्ञानयुद्धादिव्यवहारेषु । (धीराः) ध्यानवन्तो मेधाविनः । धीर इति मेधाविनामसु पठितम् (निघं० ३ । १५) । (यत्) । (अपूर्वम्) अनुत्तमगुणकर्मस्वभावम् । (यक्षम्) पूजनीयं संगतं वा । अत्रौणादिकः सन्[1] प्रत्ययः । (अन्तः) मध्ये । (प्रजानाम्) प्राणिमात्राणाम् । (तत) । (मे) मम । (मनः) मननविचारात्मकम् । (शिवसङ्कल्पम्) धर्मेष्टम् । (अस्तु) ॥ २ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर वा विद्वन् ! भवत्सङ्गेन येनापसो मनीषिणो धीरा यज्ञे विदथेषु च [कर्माणि] कृण्वन्ति यदपूर्वं प्रजानामन्तर्यक्षं वर्त्तते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरस्योपासनेन सुविचारविद्यासत्सङ्गैरन्तःकरणमधर्माचारान्निवर्त्य धर्माचारे प्रवर्त्तनीयम् ॥ २ ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर वा विद्वन् ! जब आप के संग से (येन) जिस [के द्वारा] (अपसः) सदा कर्म=धर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मन का दमन करने वाले (धीराः) ध्यान करने वाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्रादि वा धर्मसंयुक्त व्यवहार वा योगरूपी यज्ञ में और (विदथेषु) विज्ञानसम्बन्धी और युद्धादि व्यवहारों में (कर्माणि) अत्यन्त इष्ट कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं, (यत्) जो (अपूर्वम्) सर्वोत्तम, गुणकर्मस्वभाव वाला (प्रजानाम्) प्राणिमात्र के (अन्तः) हृदय में (यक्षम्) पूजनीय या संगत एकीभूत हो रहा है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मनन विचार करना रूप मन (शिवसङ्कल्पम्) धर्मेष्ट (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना, सुन्दर विचार, विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें ॥ २ ॥

---

१. 'स' इति युक्तः पाठोऽन्तोदात्तत्वदर्शनात् । स च वृतृवदिवचि० (उ० ३।६२) इत्यादिना बाहुलकाद् द्रष्टव्यः ।

यत् प्रज्ञानमित्यस्य शिवसङ्कल्प ऋषिः । मनो देवता ।
स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह—
फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

यत् । प्रज्ञानमिति प्रऽज्ञानम् । उत । चेतः । धृतिः । च । यत् । ज्योतिः । अन्तः । अमृतम् । प्रजास्विति प्रऽजासु ॥ यस्मात् । न । ऋते । किम् । चन । कर्म । क्रियते । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिवऽसङ्कल्पम् । अस्तु ॥ ३ ॥

पदार्थः—(यत्) । (प्रज्ञानम्) प्रजानाति येन, तद् बुद्धिस्वरूपम् । (उत) अपि । (चेतः) चेतति स्मरति येन, तत् । (धृतिः) धैर्यरूपम् । (च) चकाराल्लज्जादीन्यपि कर्माणि येन क्रियन्ते । (यत्) । (ज्योतिः) द्योतमानम् । (अन्तः) अभ्यन्तरे । (अमृतम्) नाशरहितम् । (प्रजासु) जनेषु । (यस्मात्) मनसः । (न) । (ऋते) विना । (किम्, चन) किञ्चिदपि । (कर्म) । (क्रियते) । (तत्) । (मे) जीवात्मनो मम । (मनः) सर्वकर्मसाधनम् । (शिवसंकल्पम्) शिवे कल्याणकरे परमात्मनि संकल्प इच्छाऽस्य, तत् (अस्तु) भवतु ॥३॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर परमयोगिन् विद्वन् ! भवज्ज्ञापनेन यत्प्रज्ञानं चेत उत धृतिर्यच्च प्रजास्वन्तरमृतं ज्योतिर्यस्मादृते किञ्चन कर्म न क्रियते, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यदन्तःकरणबुद्धिचित्ताऽहङ्कारवृत्तित्वाच्चतुर्विधमन्तःप्रकाशं, प्रजानां सर्वकर्मसाधकं, नाशरहितं, मनोऽस्ति तन्न्यायसत्याचरणे च प्रवर्त्य, पक्षपाताऽन्यायाऽधर्माचरणाद्यूयं निवर्त्तयत ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर वा परमयोगिन् विद्वन् ! आप के जताने से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेष कर ज्ञान का उत्पादक बुद्धिरूप (उत) और भी (चेतः) स्मृति का साधन (धृतिः) धैर्यस्वरूप (च) और लज्जादि

कर्मों का हेतु (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) अन्तःकरण में आत्मा का साथी होने से (अमृतम्) नाशरहित (ज्योतिः) प्रकाशकरूप (यस्मात्) जिस से (ऋते) विना (किम्, चन) कोई भी (कर्म) काम (न, क्रियते) नहीं किया जाता, (तत्) वह (मे) मुझ जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधनरूप मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला (अस्तु) हो ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप वृत्ति वाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करने वाला, प्राणियों के सब कर्मों का साधक, अविनाशी मन है, उस को न्याय और सत्य आचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात, अन्याय और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो ॥ ३ ॥

येनेदमित्यस्य शिवसंकल्प ऋषिः । मनो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

येन । इदम् । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । परिगृहीतमिति परिऽगृहीतम् । अमृतेन । सर्वम् ॥ येन । यज्ञः । तायते । सप्तहोतेति सप्तऽहोता । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिवऽसङ्कल्पम् । अस्तु ॥ ४ ॥

पदार्थः—(येन) मनसा । (इदम्) वस्तुजातम् । (भूतम्) अतीतम् । (भुवनम्) भवतीति भुवनम्, वर्त्तमानकालस्य सम्बन्धि । औणादिकः क्युः । [1](भविष्यत्) यदुत्पत्स्यमानं, भावि । (परिगृहीतम्) परितः सर्वतो गृहीतं ज्ञातम् । (अमृतेन) नाशरहितेन परमात्मना

---

१. क्युन् इति युक्तः पाठः । भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि (उ० २ । ८०) इत्यनेन क्युनो विधानात्, आद्युदात्तत्वदर्शनाच्च ।

सह युक्तेन। (सर्वम्) समग्रम्। (येन)। (यज्ञः) अग्निष्टोमादिर्विज्ञानमयो व्यवहारो वा। (तायते) तन्यते विस्तीर्यते। (सप्तहोता) [पञ्च प्राणा, जीवात्मा अव्यक्तश्च सप्त होतारो दातारो ग्रहीतारो वा यस्मिन्, स][1] अग्निष्टोमेऽपि सप्त होतारो भवन्ति। (तत्)। (मे) मम (मनः) योगयुक्तं चित्तम्। (शिवसंकल्पम्) शिवो मोक्षरूपसंकल्पो यस्य, तत्। (अस्तु) भवतु॥ ४॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! येनामृतेन भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वमिदं परिगृहीतं भवति, येन सप्तहोता यज्ञस्तायते, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ ४॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यच्चित्तं योगाभ्याससाधनोपसाधनसिद्धं, भूतभविष्यद्वर्त्तमानज्ञं, सर्वसृष्टिविज्ञातृ, कर्मोपासनाज्ञानसाधकं वर्त्तते तत्सदैव कल्याणप्रियं कुरुत॥ ४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होने वाले मन से (भूतम्) व्यतीत हुआ, (भुवनम्) वर्त्तमान काल सम्बन्धी और (भविष्यत्) होने वाला (सर्वम्, इदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत होता अर्थात् जाना जाता है, (येन) जिस से (सप्तहोता) सात मनुष्य होता, वा पांच प्राण छठा जीवात्मा और अव्यक्त सातवां ये सात लेने देने वाले जिस में हों, वह (यज्ञः) अग्निष्टोमादि वा विज्ञानरूप व्यवहार (तायते) विस्तृत किया जाता है। (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) योगयुक्त चित्त (शिवसङ्कल्पम्) मोक्षरूप संकल्प वाला (अस्तु) होवे॥ ४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों काल का ज्ञाता, सब सृष्टि का जानने वाला, कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है, उस को सदा ही कल्याण में प्रिय करो॥ ४॥

यस्मिन्नित्यस्य शिवसंकल्प ऋषिः। मनो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।
धैवतः स्वरः॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है॥

---

१. एतदर्थकः कश्चित् पाठो लेखकप्रमादान्नष्ट इति भाषापदार्थाज्ज्ञायते।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥

यस्मिन्। ऋचः। साम। यजूꣳषि। यस्मिन्। प्रतिष्ठिता। प्रतिस्थितेति प्रतिऽस्थिता। रथनाभाविवेति रथनाभौऽइव। अराः॥ यस्मिन्। चित्तम्। सर्वम्। ओतमित्याऽउतम्। प्रजानामिति प्रऽजानाम्। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिवऽसङ्कल्पम्। अस्तु ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यस्मिन्) मनसि। (ऋचः) ऋग्वेदः। (साम) सामवेदः। (यजूंषि) यजुर्वेदः। (यस्मिन्)। (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठितानि। (रथनाभाविव) यथा रथस्य रथचक्रस्य मध्यमे काष्ठे सर्वेऽवयवा लग्ना भवन्ति, तथा। (अराः) रथचक्रावयवाः। (यस्मिन्)। (चित्तम्) सर्वपदार्थविषयि ज्ञानम्। (सर्वम्) समग्रम्। (ओतम्) सूत्रे मणिगणा इव प्रोतम्। (प्रजानाम्)। (तत्)। (मे) मम। (मनः)। (शिवसङ्कल्पम्) शिवः कल्याणकारो वेदादिसत्यशास्त्रप्रचारसङ्कल्पो यस्मिँस्तत्। (अस्तु) भवतु॥ ५॥

अन्वयः—रथनाभाविवारा यस्मिन्मनसि ऋचः साम यजूंषि प्रतिष्ठिता यस्मिन्नथर्वाणः प्रतिष्ठिता भवन्ति यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तमोतमस्ति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ[1]। हे मनुष्याः! युष्माभिर्यस्य स्वास्थ्य एव वेदादिपठनपाठनव्यवहारो घटते, तत् मन एव वेदादिविद्याधारं, यत्र सर्वेषां व्यवहाराणां ज्ञानं सञ्चितं भवति, तदन्तःकरणं विद्याधर्माचरणेन पवित्रं संपादनीयम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यस्मिन्) जिस मन में (रथनाभाविव, अराः) जैसे रथ के पहिये के बीच के काष्ठ में अरा लगे होते हैं, वैसे (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूंषि) यजुर्वेद (प्रतिष्ठिता) सब ओर से स्थित और (यस्मिन्) जिसमें अथर्ववेद स्थित हैं, (यस्मिन्) जिस में (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) समग्र (चित्तम्) सर्व पदार्थसम्बन्धी ज्ञान (ओतम्) सूत में मणियों के समान

१. उपमा—रथनाभाविव। वाचकलुप्तोपमा—सूत्रे मणिगणा इव।

संयुक्त है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसङ्कल्पम्) कल्याणकारी वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचाररूप संकल्प वाला (अस्तु) हो ॥ ५ ॥

भावार्थः—[इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं ।][1] हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये, जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि [के पठन पाठन का व्यवहार उपपन्न होता है, वही मन वेदादि][1] विद्याओं का आधार और जिस में सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है, उस अन्तःकरण को विद्या और धर्म के आचरण से पवित्र करो ॥ ५ ॥

सुषारथिरित्यस्य शिवसङ्कल्प ऋषिः । मनो देवता ।
स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह—
फिर उसी विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

सुषारथिः । सुसारथिरिति सुऽसारथिः । अश्वानिवेत्यश्वान्ऽइव । यत् । मनुष्यान् । नेनीयते । अभीशुभिरित्यभीशुऽभिः । वाजिनइवेति वाजिनःऽइव ॥ हृत्प्रतिष्ठम् । हृत्प्रतिस्थमिति हृत्ऽप्रतिस्थम् । यत् । अजिरम् । जविष्ठम् । तत् । मे । मनः । शिवसंकल्पमिति शिवऽसंकल्पम् । अस्तु ॥ ६ ॥

पदार्थः—(सुषारथिः) शोभनश्चासौ सारथिर्यानचालयिता, तथा । (यत्) । (मनुष्यान्) मनुष्यग्रहणमुपलक्षकं[2] प्राणिमात्रस्य । (नेनीयते) भृशमितस्ततो नयति गमयति । (अभीशुभिः) रश्मिभिः । अभीशव इति रश्मिनामसु पठितम् (निघं० १ । ५) । (वाजिनइव) सुशिक्षितानश्वानिव । (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य, तत् । (यत्) ।

---

१. यह पाठ लेखक अथवा मुद्रक के प्रमाद से छूट गया है ।
२. 'उभयलक्षकम्' इति पूर्वमुद्रिते प्रमादपाठः ।

(अजिरम्) विषयादिषु प्रक्षेपकं, जराद्यवस्थारहितं[1] वा । (जविष्ठम्) अतिशयेन वेगवत्तरम् । (तत्) । (मे) मम । (मनः) । (शिवसङ्कल्पम्) मङ्गलनियमेष्टम् । (अस्तु) भवतु ॥ ६ ॥

अन्वयः—यत् सुषारथिरश्वानिव मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव नियच्छति च यद् हृत्प्रतिष्ठमजिरं जविष्ठमस्ति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारौ । यत्रासक्तं तत्रैव बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति[2] [तं विद्वान्] प्रग्रहैः सारथिः तुरङ्गानिव वशे स्थापयति । सर्वेऽविद्वांसो यदनुवर्त्तन्ते, विद्वांसश्च यत्स्ववशं कुर्वन्ति, यच्छुद्धं सत् सुखकारि, अशुद्धं सद् दुःखकारि, यज्जितं सिद्धिं, यदजितमसिद्धिं प्रयच्छति, तन्मनो मनुष्यैः स्ववशं सदा रक्षणीयम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यत्) जो मन (सुषारथिः) जैसे सुन्दर चतुर सारथि गाड़ीवान् (अश्वानिव) लगाम से घोड़ों को सब ओर से चलाता है, वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र शीघ्र इधर उधर घुमाता है, और (अभीशुभिः) जैसे रस्सियों [=लगामों] से (वाजिनः) वेग वाले घोड़ों को सारथि वश में करता, वैसे नियम में रखता [है] । (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक वा वृद्धादि अवस्था रहित और (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) मंगलमय नियम में इष्ट (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं । जो मन[3] जिस पदार्थ में आसक्त है वहीं, जैसे सारथि घोड़ों को [ले जाता है] वैसे बल से प्राणियों को ले जाता और [उसको विद्वान्] लगाम से सारथि घोड़ों को जैसे [वश में रखता है] वैसे वश में रखता [है] । सब मूर्खजन जिसके अनुकूल वर्तते और विद्वान् अपने वश

---

१. अजिरं पदं द्विधा व्युत्पाद्यते । प्रक्षेपणार्थकाद् अजधातोः किरच्-प्रत्यये (द्र० उ० १ । ५३) नास्ति जिरं जीर्णं (जरावस्थेति यावत्), यस्मिन्, तत् । अत उभावर्थौ प्रतिपादितौ ।

२. 'बलात्'⋯⋯'नयति' अयं पाठः पूर्वमुद्रिते अन्वये 'नियच्छति च' इत्यस्मादनन्तरं पठ्यते । न च तत्रान्वेति । भाषाभावार्थे तस्यानुवाददर्शनाद् अत्र च यथा कथंचिद् अन्वयसंभवाद् इहानीतः ।

३. 'जो मनुष्य' इति पूर्वमुद्रिते पाठः । संस्कृत तथा भाषा भावार्थ दोनों अस्पष्ट हैं । उन्हें यत्र तत्र पद जोड़कर और 'मनुष्य' के स्थान पर 'मन' पाठ बनाकर यथा सम्भव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध हुआ दुःखदायी, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को देता है, वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये ॥ ६ ॥

(३४—३८)

प्रातरित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । अग्न्यादयो लिङ्गोक्ता देवताः ।
निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह—

फिर मनुष्य क्या करें, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रꣳ हुवेम ॥ ३४ ॥

प्रातः । अग्निम् । प्रातः । इन्द्रम् । हवामहे । प्रातः । मित्रावरुणा । प्रातः । अश्विना ॥ प्रातः । भगम् । पूषणम् । ब्रह्मणः । पतिम् । प्रातरिति प्रातः[1] । सोमम् । उत । रुद्रम् । हुवेम ॥३४॥

पदार्थः—(प्रातः) प्रभाते । (अग्निम्) पवित्रं स्वप्रकाशं परमात्मानं, पावकमग्निं वा । (प्रातः) । (इन्द्रम्) परमैश्वर्यम् । (हवामहे) आह्वयाम, आह्वयेम वा । (प्रातः) । (मित्रावरुणा) प्राणोदानौ । (प्रातः) । (अश्विना) अध्यापकोपदेशकौ । (प्रातः) । (भगम्) भजनीयं भागम् । (पूषणम्) पुष्टिकरं भोगम् । (ब्रह्मणः) धनस्य वेदस्य [वा] । (पतिम्) स्वामिनं पालकम् । (प्रातः) । (सोमम्) ओषधिगणम् । (उत) अपि । (रुद्रम्) जीवम् । (हुवेम) गृह्णीयाम ॥ ३४ ॥

---

१. पदकाराणामियं शैली वर्तते, यत्र रेफान्तः शब्दो रेफान्त एव श्रूयते, यथा 'प्रातरग्निं, प्रातर्मित्रावरुणा' न तत्र इतिपदेन द्विरुच्चारयन्ति । यत्र तु रेफान्तः शब्दो विसर्गान्तः श्रूयते तत्र स विसर्गः किं रेफस्योत प्रथमैकवैचनस्येति सन्देह निवृत्यर्थमितिपदेन सह द्विरुच्चारयन्ति । यथा 'प्रातः सोमम्' इत्यत्र प्रातरिति प्रातः । सन्त्यनेके शब्दाः समानानुपूर्विका अकारान्ता रेफान्ताश्च । यथा—अन्त अन्तर् । तेषां विसर्गान्ते प्रयोगे सन्देहनिवृत्यर्थमियं शैली पदकारैराहता ।

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा वयं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना हवामहे प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं च हुवेम, तथा यूयमप्याचरत[1] ॥ ३४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः प्रातः परमेश्वरोपासनम्, अग्निहोत्रम्, ऐश्वर्योन्नत्युपायं, प्राणापानपुष्टिकरणम्, अध्यापकोपदेशकानां विदुषाम् ओषधीनां च सेवनं[2] परमेश्वरं जीवं च प्राप्तुं ज्ञातुं च प्रयतन्ते ते सर्वैः सुखैरलङ्कृताः स्युः ॥ ३४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे हम लोग (प्रातः) प्रातः काल (अग्निम्) पवित्र वा स्वयंप्रकाशस्वरूप परमात्मा, वा अग्नि को (प्रातः) प्रातः समय (इन्द्रम्) उत्तम ऐश्वर्य को (प्रातः) प्रभात समय (मित्रावरुणा) प्राण और उदान को (प्रातः) प्रभात समय (अश्विना) अध्यापक तथा उपदेशक को (हवामहे) ग्रहण करें, वा बुलावें, (प्रातः) प्रातः समय (भगम्) सेवन करने योग्य भाग (पूषणम्) पुष्टिकारक भोग (ब्रह्मणस्पतिम्) धन को वा वेद के रक्षक को (प्रातः) प्रभात समय (सोमम्) सोमादि ओषधिगण (उत) और (रुद्रम्) जीव को (हुवेम) ग्रहण, वा स्वीकृत करें, वैसे तुम लोग भी आचरण करो[3] ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य प्रातःकाल परमेश्वर की उपासना, अग्निहोत्र, ऐश्वर्य की उन्नति का उपाय, प्राण और अपान की पुष्टि करना, अध्यापक, उपदेशक, विद्वानों तथा ओषधि का सेवन, [परमेश्वर[4]] और जीवात्मा को प्राप्त होने वा जानने को प्रयत्न करते हैं वे सब सुखों से सुशोभित होते हैं ॥ ३४ ॥

प्रातर्जितमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भगो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

मनुष्या ऐश्वर्यं सम्पादयेयुरित्याह—

मनुष्य लोग ऐश्वर्य का सम्पादन करें, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में करते हैं ॥

---

१. अत्र यथातथाप्रयोगाद् वाचकलुप्तोपमालङ्कारो द्रष्टव्यः ।
२. 'अध्यापकोपदेशकान् विदुष ओषधिसेवनं जीवं च' इति पूर्वमुद्रितेऽपपाठः । अस्माभिर्हिन्दीभावार्थानुसारं संशोधितम् ।
३. यहां 'जैसे वैसे' पदों का प्रयोग होने से वाचकलुप्तोपमालङ्कार जानना चाहिए ।
४. द्रष्टव्य दयानन्द ऋग्भाष्य ७ । ४१ । १ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ३५ ॥

प्रातर्जितमिति प्रातःऽजितम् । भगम् । उग्रम् । हुवेम । वयम् । पुत्रम् । अदितेः । यः । विधर्त्तेति विऽधर्त्ता ॥ आध्रः । चित् । यम् । मन्यमानः । तुरः । चित् । राजा । चित् । यम् । भगम् । भक्षि । इति । आह ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(प्रातः) प्रभाते । (जितम्) स्वपुरुषार्थेन लब्धम् । (भगम्) ऐश्वर्यम् । (उग्रम्) अत्युत्कृष्टम् । (हुवेम) गृह्णीयाम । (वयम्) । (पुत्रम्) । (अदितेः) अविनाशिनः कारणस्येव मातुः । (यः) । (विधर्त्ता) यो विविधान् पदार्थान् धरति सः । (आध्रः) अपुत्रस्य पुत्रः[1] । (चित्) अपि । (यम्) । (मन्यमानः) विजानन् । (तुरः) त्वरमाणः । (चित्) अपि । (राजा) राजमानः । (चित्) । (यम्) । (भगम्) ऐश्वर्यम् । (भक्षि) सेवस्व । (इति) अनेन प्रकारेण । (आह) परमेश्वर उपदिशति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयं प्रातर्यो विधर्त्ता आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजाऽस्ति, यं भगं चिद्भक्षीत्याह, तमदितेः पुत्रं जितमुग्रं भागं हुवेम, तथा यूयमपि स्वीकुरुत ॥ ३५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! युष्माभिः सदा प्रातरारभ्य शयनपर्यन्तं यथाशक्ति सामर्थ्येन विद्यया पुरुषार्थेनैश्वर्योन्नतिं विधायाऽऽनन्दो भोक्तव्यो दरिद्रेभ्यः [च] सुखं देयमित्याहेश्वरः ॥ ३५ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे (वयम्) हम लोग (प्रातः) प्रभात समय (यः) जो (विधर्त्ता) विविध पदार्थों को धारण करने हारा (आध्रः) न्यायादि

[1]. अत्र संस्कृतपदार्थे भाषापदार्थे च व्यत्यासदर्शनात् कः सम्यक् पाठ इति न वक्तुं शक्यते । ऋग्भाष्ये ७ । ४१ । २ 'यः सर्वैः समन्ताद्ध्रियते' इत्येवं व्याख्यायते । भाष्यकारेण संस्कारविधौ गृहाश्रमप्रकरणे 'विशेषतो धारकः' इत्यर्थ उच्यते । अन्ये भाष्यकृतो दुर्बलोऽतृप्तो दरिद्र इति व्याचक्षते ।

में तृप्ति न करने वाले का पुत्र[1] (चित्) भी (यम्) जिस ऐश्वर्य को (मन्यमानः) विशेष कर जानता हुआ (तुरः) शीघ्रकारी (चित्) भी (राजा) शोभायुक्त है, (यम्) जिस (भगम्) ऐश्वर्य को (चित्) भी (भक्षि, इति, आह) तू सेवन कर इस प्रकार ईश्वर उपदेश करता है, उस (अदितेः) अविनाशी कारण के समान माता के (पुत्रम्) पुत्र=रक्षक (जितम्) अपने पुरुषार्थ से प्राप्त (उग्रम्) उत्कृष्ट (भगम्) ऐश्वर्य को (हुवेम) ग्रहण करें, वैसे तुम लोग स्वीकार करो ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो ! तुम लोगों को सदा प्रातःकाल से लेकर सोते समय तक यथाशक्ति सामर्थ्य, विद्या और पुरुषार्थ से ऐश्वर्य की उन्नति कर आनन्द भोगना और दरिद्रों के लिये सुख देना चाहिये यह ईश्वर ने कहा है ॥ ३५ ॥

भग इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। भगवान् देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथेश्वरप्रार्थनादिकविषयमाह—

अब ईश्वर की प्रार्थना आदि विषयों का वर्णन करते हैं॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः। भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३६ ॥

भग। प्रणेतः। प्रनेतरिति प्रऽनेतः। भग। सत्यराध इति सत्यऽराधः। भग। इमाम्। धियम्। उत्। अव। ददत्। नः॥ भग। प्र। नः। जनय। गोभिः। अश्वैः। भग। प्र। नृभिरिति नृऽभिः। नृवन्त इति नृऽवन्तः। स्याम॥ ३६ ॥

---

१. संस्कृतपदार्थ में 'अपुत्र का पुत्र' अर्थ है। भाषापदार्थ में अन्य अर्थ है। इससे प्रतीत होता है कि यहां पाठ में कुछ गड़बड़ हुई है। ऋग्भाष्य ७।४१।२ में 'जोसब और से धारण सा किया जाता है' अर्थ लिखा है भाष्यकार ने संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में 'विशेष रूप से धारण करने हारा' अर्थ किया है। अन्य वेदभाष्यकार दुर्बल, अतृप्त अथवा दरिद्र अर्थ करते हैं।

पदार्थः—(भग) ऐश्वर्ययुक्त ! (प्रणेतः) पुरुषार्थं प्रति प्रेरक ! (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (सत्यराधः) सत्सु साधूनि राधांसि धनानि यस्य, तत्सम्बुद्धौ । (भग) भजनीय ! (इमाम्) वर्तमानाम् । (धियम्) प्रज्ञाम् । (उत्) । (अव) रक्ष । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः (अ० ६।३।१३५) इति दीर्घः । (ददत्) ददानः । (नः) अस्माकम् । (भग) विद्यैश्वर्यप्रद ! (प्र) । (नः) अस्मान् । (जनय) प्रकटय । (गोभिः) धेन्वादिभिः । (अश्वैः) अश्वादिभिः । (भग) भजमान ! (प्र) । (नृभिः) नायकैः । (नृवन्तः) । (स्याम) भवेम ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भग त्वं नोऽस्माकमिमां धियं ददत्सदुदव । हे भग त्वं गोभिरश्वैर्नृभिस्सह नोऽस्मान् प्रजनय । हे भग येन वयं नृवन्तः प्रस्याम तथा विधेहि ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यदा यदेश्वरस्य प्रार्थना विदुषां सङ्गः क्रियेत तदा [तदा] प्रज्ञैव याचनीयोतापि सन्त पुरुषाः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—हे (भग) ऐश्वर्ययुक्त ! (प्रणेतः) पुरुषार्थ के प्रति प्रेरक ईश्वर वा हे (भग) ऐश्वर्य के दाता ! (सत्यराधः) विद्यमान पदार्थों में उत्तम धनों वाले (भग) सेवने योग्य विद्वान् आप (नः) हमारी (इमाम्) इस वर्तमान (धियम्) बुद्धि को (ददत्) देते हुए [उसकी] (उत्, अव) उत्कृष्टता से रक्षा कीजिये । हे (भग) विद्यारूप ऐश्वर्य के दाता ईश्वर वा विद्वान् ! आप (गोभिः) गौ आदि पशुओं (अश्वैः) घोड़े आदि सवारियों और (नृभिः) नायक कुलनिर्वाहक मनुष्यों के साथ (नः) हम को (प्र, जनय) प्रकट कीजिये । हे (भग) सेवा करते हुए विद्वान् ! जिससे हम लोग (नृवन्तः) प्रशस्त मनुष्यों वाले (प्र स्याम) अच्छे प्रकार हों, वैसे कीजिये ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जब जब ईश्वर की प्रार्थना तथा विद्वानों का संग करें तब तब बुद्धि की ही प्रार्थना वा श्रेष्ठ पुरुषों की [ही] चाहना किया करें ॥ ३६ ॥

उतेदानीमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भगो देवता । पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथैश्वर्योन्नतिविषयमाह—

अब ऐश्वर्य की उन्नति का विषय कहते हैं ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाꣳ सुमतौ स्याम ॥ ३७ ॥

उत । इदानीम् । भगवन्त इति भगऽवन्तः । स्याम । उत । प्रपित्व इति प्रऽपित्वे । उत । मध्ये । अह्नाम् ॥ उत । उदितेत्युत्ऽइता । मघवन्निति मघऽवन् । सूर्यस्य । वयम् । देवानाम् । सुमताविति सुऽमतौ । स्याम ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(उत) अपि । (इदानीम्) वर्तमानसमये । (भगवन्तः) सकलैश्वर्ययुक्ताः । (स्याम) । (उत) अपि । (प्रपित्वे) पदार्थानां प्रापणे । (उत) । (मध्ये) । (अह्नाम्) दिवसानाम् । (उत) । (उदिता) उदयसमये । (मघवन्) परमपूजितधनयुक्त ! (सूर्यस्य) । (वयम्) । (देवानाम्) विदुषाम् । (सुमतौ) । (स्याम) ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे मघवन् ! वयमिदानीमुत प्रपित्वे उत भविष्यति उताह्नां मध्ये भगवन्तः स्याम । उत सूर्यस्योदिता देवानां सुमतौ भगवन्तः स्याम ॥ ३७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वर्तमाने भविष्यति च योगैश्वर्यस्योन्नते[१] लौकिकस्य व्यवहारस्य वर्द्धने प्रशंसायाञ्च सततं प्रयतितव्यम् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—हे (मघवन्) उत्तम धनयुक्त ईश्वर वा विद्वन् ! (वयम्) हम लोग (इदानीम्) वर्तमान समय में (उत) और (प्रपित्वे) पदार्थों की प्राप्ति में (उत) और भविष्यत् काल में (उत) और (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) बीच (भगवन्तः स्याम) समस्त ऐश्वर्य से युक्त हों । (उत) और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) उदय समय तथा (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) उत्तम बुद्धि में समस्त ऐश्वर्य युक्त (स्याम) हों ॥ ३७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि वर्तमान और भविष्यत् काल में योग के ऐश्वर्यों की उन्नति से लौकिक व्यवहार के बढ़ाने और प्रशंसा में निरन्तर प्रयत्न करें ॥ ३७ ॥

भग इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भगवान् देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

---

१. यथा भाषानुवादस्तथा 'योगैश्वर्यस्योन्नत्या' पाठेन भाव्यम् ॥

पुनस्तमेव विषयमाह—

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहते हैं ॥

भग एव भगवाँ२ ऽअस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ॥ ३८ ॥

भगः। एव। भगवानिति भगऽवान्। अस्तु। देवाः। तेन। वयम्। भगवन्त इति भगऽवन्तः। स्याम॥ तम्। त्वा। भग। सर्वः। इत्। जोहवीति। सः। नः। भग। पुरएतेति पुरःऽएता। भव। इह॥ ३८॥

पदार्थः—(भग) भजनीयः सेवनीयः। (एव)। (भगवान्) प्रशस्तैश्वर्ययुक्तः। (अस्तु) भवतु। (देवाः) विद्वांसः। (तेन) भगस्वरूपेण भगवता परमेश्वरेण सह। (वयम्)। (भगवन्तः) सकलशोभायुक्ताः। (स्याम) भवेम। (तम्)। (त्वा) त्वाम्। (भग) अखिलशोभायुक्त! (सर्वः) अखिलो जनः। (इत्) एव। (जोहवीति) भृशमाह्वयति। (सः)। (नः) अस्माकम्। (भग) सकलैश्वर्यप्रद! (पुरएता) यः पुरस्तादेति, सः। (भव)। (इह)॥ ३८॥

अन्वयः—हे देवाः! यो भग एव भगवानस्तु, तेन वयं भगवन्तः स्याम। हे भग! तं त्वा सर्व इज्जोहवीति। [हे] भग! स त्वमिह नः पुरएता भव॥ ३८॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यूयं यः सकलैश्वर्यसम्पन्नः परमेश्वरस्तेन, ये चास्योपासका विद्वांसस्तैस्सह सिद्धाः श्रीमन्तश्च भवत। यो जगदीश्वरो मातापितृवदस्मासु कृपयति, तद्भक्तिपुरःसरेणेह मनुष्या-नैश्वर्यवतः सततं कुरुत॥ ३८॥

पदार्थः—हे (देवाः) विद्वान् लोगो! जो (भग, एव) सेवनीय ही (भगवान्) प्रशस्त ऐश्वर्ययुक्त (अस्तु) होवे, (तेन) उस ऐश्वर्यरूप ऐश्वर्य वाले परमेश्वर के साथ (वयम्) हम लोग (भगवन्तः) समग्र शोभायुक्त (स्याम) होवें। हे (भग) संपूर्ण शोभायुक्त ईश्वर! (तम्, त्वा) उन आप को

(सर्वः, इत्) समस्त ही जन (जोहवीति) शीघ्र पुकारता है। हे (भग) सकल ऐश्वर्य के दाता ! (सः) सो आप (इह) इस जगत् में (नः) हमारे (पुरएता) अग्रगामी (भव) हूजिये ॥ ३८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग, जो समस्त ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर है उस के, और जो उस के उपासक विद्वान् हैं उन के साथ सिद्ध तथा श्रीमान् होओ। जो जगदीश्वर माता पिता के समान हम पर कृपा करता है; उसकी भक्तिपूर्वक इस संसार में मनुष्यों को ऐश्वर्य वाले निरन्तर किया करो ॥ ३८ ॥

इति पञ्जापप्रान्तीयविश्वविद्यालयस्य शास्त्रिपरीक्षायां भगवद्दयानन्द-विरचित यजुर्वेदभाष्यस्थ निर्धारितोंऽशः पूर्तिमगात् ॥

अपाणिनीय-पद-विमर्श

अर्थात्

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में प्रयुक्त
अपाणिनीय पदों पर विचार

* ओ३म् *

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में प्रयुक्त अपाणिनीय पदों पर विचार

पूर्व मुद्रित भाष्य में लगभग ५०-६० पद ऐसे प्रयुक्त हैं, जिन्हें लक्ष्यैकचक्षुः साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु अथवा अपशब्द मानते हैं। हमने उन पदों के साधुत्व के सम्बन्ध में समूहावलम्बन से विचार करना उचित समझा। इसलिये हमने उन पदों पर टिप्पणी लिखी—

अस्य पदस्य साधुत्वं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

अर्थात्—इस पद का साधुत्व परिशिष्ट में देखें।

अतः हम यहाँ उन पूर्वसंकेतित सभी पदों के साधुत्व का विस्तार से प्रतिपादन करेंगे। उक्त शब्दों के साधुत्व के विषय में क्रमशः लिखने की अपेक्षा उनका वर्गीकरण करके लिखना अधिक लाभदायक होगा। इसलिये हम उन प्रयोगों का वर्गीकरण करके उनको निम्न विभागों में विभक्त करते हैं—

धातु-सम्बद्ध पद—

१—अपठित धातु का प्रयोग।

२—आत्मनेपद परस्मैपद का अस्थान में प्रयोग।

३—गण-अपठित प्रयोग।

४—स्वार्थिक णिच् का अभाव।

५—ल्यप् आदेश का अभाव तथा प्रत्ययान्तर कल्पना।

६—धातुस्थ अनुनासिक लोप का अभाव।

७—अस्थान में णिलोप।

८—अस्थान में इट् का आगम तथा उसका अभाव।

९—अप्रयोज्य क्रियापद का प्रयोग।

नाम-सम्बद्ध पद—

१०—असिद्ध प्रातिपदिक का प्रयोग।

११—असिद्ध विभक्ति-रूप का प्रयोग।

१२—अन्य विभक्ति के स्थान में अन्य विभक्ति का प्रयोग।

१३—समानवाक्य में विभक्ति भेद।

१४—लिङ्गभेद।

१५—अस्थान में समासान्त आदि कार्य अथवा उनका अभाव।

१६—भाव विशिष्ट अर्थ में मूल प्रातिपदिक का प्रयोग।

इस प्रकार वर्गीकरण करके पूर्व संकेतित पदों के साधुत्वज्ञापन में जहाँ हमें सुगमता होगी (एक ही हेतु को बार बार दोहराना न पड़ेगा), वहां पढ़नेवालों को भी समझने में सरलता होगी। इतना ही नहीं, इस प्रकार वर्गीकरण करके असाधु समझे जाने वाले प्रयोगों पर प्रकाश डालने से रामायण-महाभारत आदि समस्त आर्ष वाङ्मय में प्रयुक्त इन जैसे सहस्रों पदों के साधुत्व का ज्ञान भी अनायास हो जाएगा।

साधुत्व ज्ञापन के प्रकार

किसी प्रयोग के साधुत्व ज्ञापन के दो प्रधान प्रकार हैं—

१—प्राचीन-शिष्ट-प्रयोग-निदर्शन।[1]

२—पाणिनीय आदि व्याकरण शास्त्रों का अनुगमन।[1]

इनमें से प्राचीन शिष्ट प्रयोगों का निदर्शन तत्तत् शब्दों के साधुत्व ज्ञापन में मुख्य प्रमाण है। महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं—

"यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणं, किमष्टाध्याय्या क्रियते ? शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी। ६। ३। १०९॥

अर्थात्—यदि शिष्टपुरुष ही शब्दों के साधुत्व विषय में प्रमाण हैं, तो अष्टाध्यायी से क्या किया जाता है ? (=अष्टाध्यायी का क्या प्रयोजन है ?) [उत्तर] शिष्टों के परिज्ञान के लिये अष्टाध्यायी है।

यह है शिष्ट-प्रयोगों के विषय में वैयाकरणवाङ्मय के प्रमाणीभूत आचार्य पतञ्जलि की सम्मति। परन्तु आजकल के लक्षणैकचक्षुः वैयाकरण रामायण-महाभारत आदि आर्ष वाङ्मय में प्रयुक्त जिन शिष्ट आर्ष प्रयोगों के परिज्ञान के लिये भगवान् पाणिनि ने अपने शास्त्र का प्रवचन किया, न केवल उन शिष्ट प्रयोगों को ही असाधु कहते हैं, अपि तु वे भगवान् पाणिनि के सूत्रपाठ में प्रयुक्त पचासों प्रयोगों को भी असाधु=अपशब्द कहने से नहीं चूकते। उनके मत में

---

१. ऋषि दयानन्द की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' के कतिपय प्रयोगों को तात्कालिक पण्डितों (गुरुप्रसाद-हृषीकेश-भगवान्दास-महेशप्रसाद-अम्बिकादत्त व्यास) ने अशुद्ध बताया था। उनके साधुत्व-प्रतिपादन के लिये ऋषि दयानन्द ने उपर्युक्त दोनों प्रकारों का आश्रय लिया था। प्रथम प्रकार के लिये देखिये 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' (द्वि० सं०) पृष्ठ २२२ पर छपा 'पुस्तक अबोध-निवारण की अशुद्धियां' लेख और द्वितीय प्रकार के लिये वही पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ६२, ६३।

भगवान् पाणिनि पर 'घोटकारूढस्य घोटक एव विस्मृतः' आभाणक पूर्णतया चरितार्थ होता है। इसलिये शब्दसाधुत्व विषय में शिष्ट-प्रयोग-निदर्शन के मुख्य प्रमाण होने पर भी, हम उसे सहायक रूप से ही अपनाएंगे। अर्थात् केवल शिष्ट-प्रयोग निदर्शन मात्र से किसी पद के साधुत्व का प्रतिपादन नहीं करेंगे।

व्याकरणानुगमन द्वारा साधुत्व प्रतिपादन के निम्न प्रधान प्रकार हैं—

१—प्रकृत्यन्तर-सद्भाव को द्योतित करना।
२—प्रत्ययान्तर-सद्भाव को द्योतित करना।
३—गण[1]कार्य के उपलक्षणत्व को प्रकट करना।
४—प्रयोक्ता के अभिप्राय का अन्य प्रकार से ज्ञापन होने पर तद्वाचक अंश के प्रयोग की अविवक्षा।

व्याकरण-शास्त्र का अनुगमन करते हुए शिष्ट-प्रयोगों के साधुत्व प्रतिपादन के जो चार प्रकार लिखे हैं, उन पर कुछ लिखने से पूर्व पाणिनीय व्याकरण की व्याख्या के सम्बन्ध में कुछ संकेत करना आवश्यक है। क्योंकि उससे प्रकृत विचार में महती सहायता मिलेगी।

पाणिनीय शास्त्र की वर्तमान व्याख्या

सबसे प्रथम विद्वन्महानुभावों का ध्यान हम इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि पाणिनीय व्याकरण की जो व्याख्या विक्रम की ४ थी शती से लेकर आज तक की जाती है, वह नितान्त दूषित है। इस व्याख्या को प्रमाण मानने से जहाँ प्राचीन प्रामाणिक आर्ष वाङ्मय के सहस्रों शिष्ट-प्रयोग अशुद्ध ठहरते हैं, वहाँ पाणिनि के अपने शास्त्र में प्रयुक्त लगभग १०० एक शत प्रयोग भी असाधु मानने पड़ते हैं। पाणिनि जैसा प्रामाणिक वैयाकरण, जो दूसरों को साधु-असाधु शब्दों का परिज्ञान कराने के लिये शब्द-शास्त्र का प्रवचन करता है, वह स्वयं अपने ग्रन्थ में औत्तरकालिक व्याख्याकारों की मति के अनुसार, एक शत असाधु प्रयोग करेगा, यह बात किसी भी विचारवान् की समझ में कभी नहीं आ सकती। आधुनिक वैयाकरण पाणिनि के उन प्रयोगों को सीधे मुँह तो असाधु अथवा अपशब्द नहीं कहते, परन्तु छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति, सौत्रत्वात् साधु[2] इस प्रकार अस्पष्ट

---

१. इसके अन्तर्गत विकरण-इट्-अनिट्-आत्मनेपद-परस्मैपद आदि विधियों और प्रातिपदिक-गण संबन्धि समस्त कार्यों का संग्रह समझना चाहिये।

२. महाभाष्यकार ने भी इन वाक्यों का प्रयोग किया है, परन्तु उन का वह अभिप्राय नहीं, जो साम्प्रतिक वैयाकरण समझते हैं (द्र० पृष्ठ ४ टिप्पणी १)।

शब्दों में उन्हें असाधु अवश्य कहते हैं।[1] पाणिनि के कतिपय तथाविध प्रयोग हम नीचे उद्धृत करते हैं—

पाणिनि प्रयोग	दोष	साधु समझा जानेवाला प्रयोग
वृद्धिरादैच् (१।१।१)	कुत्व का अभाव	(आदैक्)
नाज्झलौ[2] (१ । १ । १०)	,, ,,	(नाग्घलौ)
अणुदित्० (१ । १ । ६६)	णुट् का अभाव	(अण्णुदित्०)[3]
भूवादयो० (१ । ३ । १)	मध्य में वकारागम	(भ्वादयो धातवः)[4]
अन्वच्यानु० (३ । ४ । ६४)	ऊत् का अभाव	(अनूच्यानु०)[5]
ऋहलोर्ण्यत् (३ । १ । १२४)	पञ्चम्यर्थ में षष्ठी	(ऋहल्भ्यां ण्यत्)
युवोरनाकौ (७ । १ । १)	समाहार में नपुंसकाभाव	(युवुनोऽनाकौ)[6]
	इतरेतरयोग में व-लोप	(युव्वोरनाकौ)[6]

पाणिनीय शास्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या

पाणिनीय व्याकरण तथा उपलब्ध समस्त व्याकरण वाङ्मय का और प्राचीन विविध संस्कृत वाङ्मय का वर्षों तक अनुशीलन करके हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि यदि पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या जावे तो उस व्याख्या से न केवल पाणिनीय प्रयोगों का ही साम्प्रतिक वैयाकरणों द्वारा उद्घोषित असाधुत्व दोष दूर हो जाता है, अपितु समस्त प्राचीन आर्ष वाङ्मय

---

१. अत्र हरदत्तः=छन्दोवद् ऋषयः कुर्वन्तीति । अस्यायमाशयः—असाधव एवैते त्रिशङ्क्वाद्ययाज्ययाजनवत् तपोमाहात्म्यशालिनां मुनीनामसाधुप्रयोगेऽपि नातीव बाधते। भट्टोजिदीक्षित, शब्दकौस्तुभ १।४।७॥ इतिहासपुराणेष्वपशब्दा अपि संभवन्ति। हरदत्त, पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७॥

२. इसी प्रकार 'सिद्धमनच्त्वात्' वार्तिककारीय प्रयोग (१ । १ । १०) । यदि ये प्रयोग असाधु अप्रयोगार्ह हों, तो 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१।१।७) की वृत्ति 'अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग संज्ञा भवन्ति' में सभी वैयाकरणों का 'अज्भिः' प्रयोग अपशब्द ही होगा।

३. तुलना करो—'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१ । १ । ६६)। 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' (८ । ३ । ३२) सूत्र से ङमुट् का नित्य विधान है।

४. इस विषय के लिये देखिये हमारा 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १ पृष्ठ २१-२४।

५. इसी प्रकार 'तिर्यच्यपवर्गे' (३ । ४ । ६०) में भी 'तिरश्च्यपवर्गे' पाठ होना चाहिये।

६. इस सूत्र के महाभाष्यादि व्याख्यान ग्रन्थ।

में प्रयुक्त सहस्रों शिष्ट-प्रयोगों का (जिन्हें साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु मानते हैं) साधुत्व भी व्यवस्थापित हो जाता है।

अन्य महान् लाभ—इसके द्वारा एक महान् लाभ यह होगा कि संस्कृत भाषा के उत्तरोत्तर संकोच अथवा ह्रास के कारण सहस्रों विलुप्त हुए नाम तथा धातुओं और उनसे निष्पन्न होनेवाले लाखों पदों का अनायास परिज्ञान हो जावेगा। देखिये, भट्ट कुमारिल क्या लिखता है—

'यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च। तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृष्ठ २३६, पूना सं०।

अर्थात्—[संस्कृत भाषा का] जितना स्वाभाविक शब्द समूह नष्ट हो गया है, उसके उपलक्षक व्याकरण शास्त्र के नियम अथवा तन्निर्दिष्ट रूप हैं।

जब मैंने भट्ट कुमारिल की यह पङ्क्ति पढ़ी, तो महान् आश्चर्य हुआ। हम लोग वर्षों परिश्रम करके जिन तत्त्वों को पाते हैं, वे प्राचीन आचार्यों को पूर्वतः परिज्ञात होते हैं। इसी कारण हमें बारम्बार 'मध्यकालीन वैयाकरण' पद का प्रयोग करना पड़ता है। अस्तु।

अपर महान् लाभ—संस्कृत भाषा के विलुप्त सहस्रों नाम तथा धातुओं और उनसे निष्पन्न लाखों शब्दों के प्रकाश में आ जाने पर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अति विस्तृत हो जाएगा। उससे भारोपीय (इण्डोयोरोपियन) अथवा सेमेटिक-हेमेटिक आदि परिवारों में विभाजित[1] भाषाओं और उपभाषाओं के शब्दों की तुलना से भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति उत्पन्न हो जावेगी[2]।

---

१. ये विभाग काल्पनिक हैं। "ग्रे" का मत है कि "एक समय देखा जायेगा कि वर्तमान में पृथक्-पृथक् माने गये प्रधान-प्रधान भाषा-परिवार (इण्डोयारोपियन हेमेटिक सेमेटिक अर्लिक आदि) एक ही वंश परम्परा के सिद्ध हों" (पृ० ३०२)। इस विषय के अधिक परिज्ञान के लिये देखिये पं० भगवद्दत्तजी कृत "भाषा का इतिहास" पृष्ठ २१६-२२२ (संस्क० २)।

२. थोड़े से स्वपरिज्ञात शब्दों के आधार पर विविध भाषाओं की तुलना करने का कैसा फल होता है, इसके लिये 'बॉप' जैसे प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक का लेख पढ़िये। वह लिखता है—"कतिपय शब्दों की तुलना से ज्ञात होता है कि योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अधिक दूर है। बंगला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्दों का संस्कृत के पितृ और स्वसृ शब्द से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।" द्रष्टव्य—वै० वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ६६, ६७ सं० २। वस्तुतः 'बॉप' का लेख अशुद्ध है। उस विचारे को पता ही नहीं कि संस्कृत में पिता के लिये 'वाप' और स्वसा के लिये 'भगिनी' शब्द भी हैं, जिनसे बंगला के बाप और बोहिनी शब्दों का सीधा सम्बन्ध है।

वैदेशिक तथा विना विचारे उनके पदचिह्नों पर चलने वाले हमारे भारतीय भाषाविज्ञों को भाषाविज्ञान पर नए सिरे से काम करना होगा। उनके पूर्व निर्धारित अनेक काल्पनिक सिद्धान्त अनायास धूलिसात् हो जाएंगे[1]। इससे संस्कृत भाषा का गौरव जिसे योरोपियन भाषा वैज्ञानिकों ने ईसाई और यहूदी पक्षपात के कारण नष्ट कर दिया है,[2] पुनः प्रतिष्ठापित होगा और उसकी संसार की सम्पूर्ण भाषाओं की जननी[3] कहाने की पूर्ण योग्यता प्रकाश में आ जावेगी।

वैज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप और उसका लाभ

हम यहाँ पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप और उस व्याख्या द्वारा प्रकट होने वाली विलुप्त प्रकृतियों (नाम तथा धातुओं) का दिग्दर्शन कराने के लिये पांच उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१ पाणिनि का सूत्र है—मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च। ४। १। १६१॥

वैयाकरण इसका अर्थ करते हैं—षष्ठी समर्थ (=षष्ठ्यन्त) 'मनु' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'अञ्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं, यदि जाति अर्थ जाना जाए, तथा प्रत्यय के साथ मनु प्रातिपादिक को 'षुक्' (अन्त में षकार) का आगम होता है। यथा—मनु की अपत्य रूप जाति—मानुष और मनुष्य।

प्रश्न होता है कि मनु शब्द में षकार नहीं है, तब उस से निष्पन्न मानुष और मनुष्य में कहाँ से और किस प्रकार आया? साम्प्रतिक वैयाकरणों के पास इसका कोई उत्तर नहीं। इसका यथार्थ उत्तर हमारी वैज्ञानिक व्याख्या ही दे सकती है।

---

१. मैकडानल और गुणे प्रभृति लेखकों ने 'ऋतस्पति' 'रथस्पति' में सकारागम 'बृहस्पति' के सादृश्य पर माना है। और बृहस्पति के पूर्वपद को षष्ठी का एकवचन लिखा है। ये दोनों ही मत नितान्त अशुद्ध हैं। स्वरशास्त्र के अनुसार बृहस्पति का पूर्वपद औणादिक 'कसुन्' प्रत्ययान्त है। इसी प्रकार ऋतस्पति का ऋतस् भी। इसकी विशद मीमांसा के लिये देखिये हमारा "वैदिक-स्वर-मीमांसा" ग्रन्थ पृष्ठ ८७, ८८।

२. देखिये, श्री० पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १. भारतीय इतिहास की विकृति के कारण, अ० ३। विशेष पृष्ठ ३५-४२ तक।

३. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ.....। मनु १। २१॥ 'वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है'। स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, शताब्दी सं० भाग १, पृ० ३१६ तथा पूना के व्याख्यान (उपदेशमञ्जरी नाम से प्रसिद्ध) में—'इस संस्कृत भाषा के सदृश मृदु मधुर और व्यापक सर्वभाषाओं की माता अन्य कौन सी है?'

वैज्ञानिक व्याख्या—संस्कृत भाषा में मानव मानुष और मनुष्य तीन प्रायः सदृश एकार्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनकी परस्पर में तुलना करने से विदित होता है कि मानव और मानुष के आदि (प्रकृति) भाग में कुछ भिन्नता है और अन्त्य (प्रत्यय) भाग 'अ' समान है (स्वर की दृष्टि से अण् और अञ् दो प्रत्यय होते हैं, परन्तु 'अ' अंश दोनों में समान है)। मानुष और मनुष्य के आदि (प्रकृति) भाग में समानता (प्रत्यय निमित्तक वृद्धि कार्य की उपेक्षा करके) है, और अन्त्य (प्रत्यय) भाग में विषमता है। इस अन्वयव्यतिरेक रूपी तुलना से स्पष्ट है कि इन तीनों शब्दों की एक मनु प्रकृति नहीं हैं। मानव की मनु प्रकृति है और मानुष तथा मनुष्य की षकारान्त मनुष्। इस अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध तत्त्व के प्रकाश में इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी—

षष्ठ्यन्त मनु प्रातिपदिक से जाति विशिष्ट अपत्य अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं तथा मनु को षुक् (अन्त में षकार) का आगम होता है। अर्थात्—मनु के अन्त में षकार का योग करके मूल प्रकृति भूत मनुष् रूप प्रातिपदिक बनाकर (=प्रकृत्यन्तर की कल्पना करके) उससे अञ् और यत् प्रत्यय करो।

इस व्याख्या के अनुसार प्रत्यय विधान साक्षात् मनु से न होकर मनुष् से होगा।

प्रकृत्यन्तर कल्पना का लाभ—हमारी व्याख्या के अनुसार जो 'मनुष्' प्रकृत्यन्तर की कल्पना की गई है, उसका एक लाभ यह भी है कि उससे निष्पन्न तथा पाणिनि से अविहित शब्दों का साधुत्व उपपन्न हो जाता है। पाणिनि की वर्तमान व्याख्या के अनुसार 'मानुष' शब्द का प्रयोग मानव जाति रूप अर्थ से अन्यत्र नहीं हो सकता। परन्तु हमारी व्याख्यानुसार जब पाणिनि स्वतन्त्र 'मनुष्' प्रकृति के अस्तित्व का ज्ञापन कर देते हैं, तब उस स्वतन्त्र 'मनुष्' प्रकृति से अन्य अर्थों में भी यथाविहित प्रत्यय होकर तस्य इदम् आदि अर्थों में भी मानुष् शब्द का साधुत्व उपपन्न हो जाता है। जातिरूप अपत्य अर्थ से अन्यार्थ में मानुष का प्रयोग प्रायः उपलब्ध होता है। यथा—

मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। शत० १।४।४।१॥

भोगांश्चातीव मानुषान्। महा० उद्यो० ६०।६६॥

यहाँ मनुष्य सम्बन्धी तस्येदम् (४।३।१२०) अर्थ में मानुष पद प्रयुक्त है।

मनुष् प्रकृति का सद्भाव—हमने अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा जिस 'मनुष्' प्रकृति की कल्पना की है वह शशशृङ्गायमाण नहीं है। मनुष्

षकारान्त प्रकृति वेद में बहुधा व्यवहृत है। इतना ही नहीं, मनुष्य की प्रकृति मनुष् है, ऐसा यास्क ने भी माना है। उन्होंने लिखा है—

मनुष्यः कस्मात्......मनोरपत्यं मनुषो वा। निरुक्त ३। ७॥

मनुष अकारान्त—षकारान्त मनुष् प्रकृति का सद्भाव दर्शा चुके। वेद में मनुष अकारान्त शब्द भी बहुत्र उपलब्ध होता है। अकारान्त मनुप भी आद्युदात्त है।

संस्कृत भाषा में शब्दों का वैपुल्य—संस्कृत भाषा में अकारान्त इकारान्त उकारान्त शब्द प्रायः सकारान्त अथवा षकारान्त भी देखे जाते हैं। इसी तथ्य का निर्देश वैयाकरणों ने 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः सुग् वक्तव्यः (७। १। ५१) दधिस्यति मधुस्यति वचन द्वारा किया है। तदनुसार दधिस् मधुस्[1] स्वतन्त्र प्रकृतियां हैं।[2] सकारान्त अथवा षकारान्त शब्द अकारान्त भी प्रयुक्त होते हैं। यथा ज्योतिष्—ज्योतिष, धनुष्, धनुष। इस प्रकार अनेक शब्द तीन प्रकार के उपलब्ध होते हैं। धनु उकारान्त, धनुष् षकारान्त, धनुष अकारान्त। इसी प्रकार मनु मनुष् मनुष।

२—कात्यायन का वार्त्तिक है—नयतेः षुक् च। ३। २। १३५॥ अर्थात् 'नी' धातु[3] से तच्छील आदि अर्थों में 'तृन्' प्रत्यय होता है और धातु को 'षुक्' (अन्त में षकार) का आगम होता है। यथा—नी+तृन्=ने+तृ=नेष्+तृ=नेष्टृ=नेष्टा।

यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि 'नी' धातु से 'तृन्' प्रत्यय करने पर नेतृ=नेता प्रयोग बनता है। नेष्टा में षकार कहाँ से आया? षकार न धातु में है और न प्रत्यय में।

संस्कृत भाषा में 'नेता' और 'नेष्टा' दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं। अतः जैसे नेता शब्द का सीधा सम्बन्ध 'नी' धातु से है, वैसे ही 'नेष्टा' का सम्बन्ध 'निष' धातु के साथ होना चाहिये। अप्रसिद्ध प्रकृतिवाले 'नेष्टा' शब्द में वास्तविक

---

१. तुलना करो—मधुषा संयौति। तै० सं० २। ४। ६॥ हमारे विचार में 'दधिष्यति मधुष्यति' पाठ होना चाहिए।

२. इसी प्रकार 'अग्निस्' भी स्वतन्त्र शब्द है। इसी के अपभ्रंश इण्डोयोरोपियन भाषाओं में 'इग्निस्' 'उड्निस्' आदि विविध रूपों में मिलते हैं।

३. दीर्घ 'नी' निर्देश साम्प्रतिक वैयाकरणों के अनुसार है। वस्तुतः वार्तिक स्वारस्य से 'नि' ह्रस्वान्त स्वतन्त्र धातु प्रतीत होता है। दीर्घ नी से षुक् करने पर नीष् अवस्था में गुण नहीं हो सकता। वैयाकरणों ने इस दोष की निवृत्ति के लिये व्यर्थ कल्पनाएं की हैं।

धातु के सम्बन्ध को बतलाने के लिये वार्त्तिककार ने लोकप्रसिद्ध 'नि' धातु के अन्त में षकार जोड़कर 'निष्' धातु रूप बनाकर 'तृन्' प्रत्यय करने का विधान किया है। इस प्रकार लुप्त-प्राय 'निष' धातु का उद्धार अथवा परिज्ञान अनायास हो जाता है।

इस व्याख्या का लाभ—इस व्याख्या का लाभ यह है कि वेद में प्रयुक्त नेषणि (ऋ० १० । १२६ । ३) नेषत् (ऋ० १ । १४१ । १२) नेषति (ऋ० ५ । ४६ । १) नेषि (ऋ० १ । ३१ । १८) नेष्ट्रात् (ऋ० १।१५।६) आदि विविध क्रिया और नाम पदों का साधुत्व अनायास उत्पन्न हो जाता है।

महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदन—हम सूत्र और वार्त्तिक आदि की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा जिस रहस्य का उद्घाटन करते हैं, उसका अनुमोदन महाभाष्य के अनेक स्थलों से होता है[1]। प्रकृत वार्त्तिक पर भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? धात्वन्तरं नेषतिः। कथं ज्ञायते? नेषतु नेष्टात् इति हि प्रयोगो दृश्यते। इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्॥

अर्थात्—नेष्टा शब्द की सिद्धि के लिये 'नी' धातु को षुक् का आगम कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'निष्' स्वतन्त्र धातु है। कैसे जाना जाता है? नेषतु नेष्टात् प्रयोग देखे जाते हैं (जो निष् धातु मानने पर ही उपपन्न हो सकते हैं, क्योंकि 'नी' को 'षुक्' आगम तृन् के योग में कहा है। वह नेषतु नेष्टात् में नहीं हो सकता)। यथा—इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि हम सूत्र-वार्त्तिकों की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा प्रकृत्यन्तर सद्भाव की जो कल्पना करते हैं, वह महाभाष्यकार को अभीष्ट है। महाभाष्य के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं—

१—वृह (नुम् रहित) प्रकृत्यन्तर १ । १ । ४ ॥ ६ ४ २४ ॥
२—निष प्रकृत्यन्तर ३ । १ । ३४ ॥ ३ । २ । १३५ ॥
३—पृण मृण (श्नम् रहित) धात्वन्तर ३ । १ । ७८ ॥
४—सुधातक, व्यासक, वरुडक, निषादक, चण्डालक, बिम्बक (अकङ् रहित) प्रकृत्यन्तर ४ । १ । ९७ ॥
५—पीतक (कन् रहित) प्रकृत्यन्तर ४ । २ । २ ॥

---

१. द्रष्टव्य महाभाष्य १ । १ । ४ ॥ १ । १ । ५७ न वेति० ॥ ३ । १ । ३४ ॥ ३ । १ । ७८ ॥ ३ । २ । १३५ ॥ ४ । १ । ९७ ॥ ४ । ३ । २२ ॥ ४ । ३ । ८४ ॥ ५ । २ । २६ ॥ ६ । १ । ६० ॥ ६ । ३ । ३५ ॥ ६ । ४ । २४ ॥ ७ । ३ । ८७ ॥

६—हेमन् (हेमन्त-तलोप रहित) प्रकृत्यन्तर ४ । ३ । २२ ॥

७—तैल (विकार प्रत्यय रहित) प्रकृत्यन्तर ५ । २ । २९ ॥

८—शीर्षन् (आदेश रहित) प्रकृत्यन्तर ६ । १ । ६० ॥

९—सपत्न (स्त्रीलिंग में विहित ४ । १ । ३५ नकारादेश रहित) प्रकृत्यन्तर ६ । ३ । ३५ ॥

१०—स्पश कश वश (स्पाश्र-काश्र-वाश्र उपधा ह्रस्वत्व रहित) प्रकृत्यन्तर ७ । ३ । ८७ ॥

इन उदाहरणों में प्रकृत्यंश में विहित लोप आगम वर्णविकार आदि के सभी प्रकार के उदाहरण संगृहीत हो गये हैं ।

३—पाणिनि का सूत्र है—कन्यायाः कनीन च । ४ । १ । ११६ ॥

इसका अर्थ किया जाता है—षष्ठी समर्थ (षष्ठ्यन्त) 'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है और कन्या को 'कनीन' आदेश हो जाता है । कन्या (कुंवारी) का पुत्र=कानीन ।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि 'कन्या' का 'कानीन' से दूर का भी सम्बन्ध नहीं, कन्या से अण् होकर कान्य प्रयोग होना चाहिये । कानीन की प्रकृति तो 'कनीना' ही हो सकती है ।

वैज्ञानिक व्याख्या—पाणिनि के उक्त सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी—'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है और कन्या के स्थान पर 'कनीन' (प्रातिपदिकमात्र, स्त्रीत्व विवक्षा में 'कनीना') आदेश होता है। अर्थात् कन्या अर्थ वाले कनीना (स्त्रीत्व विशिष्ट) प्रकृति से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, ऐसा जानना चाहिए । कन्यावाचक कनीना पद वैदिक साहित्य में बहुत्र उपलब्ध होता है । तै० आ० १ । २७ । ६ में कनीना का दूसरा रूप कनीनी भी प्रयुक्त है । दोनों मध्योदात्त कनीन प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में टाप् और ङीप् होकर निष्पन्न होते हैं ।

कनीना प्रकृति कल्पना का लाभ—पाणिनि के उक्त सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करने से कन्या अर्थ में जो 'कनीना' प्रकृति का सद्भाव ज्ञापित होता है । उसके प्रकाश में अवेस्ता के 'हओमयश्त' ९ । २३ का पाठ पढ़िए—ह ओमा तास् चित् या कइनीना (संस्कृत सोमः ताश्चित् याः कनीना···) इसमें पठित 'कइनीना' 'कनीना' का ही अपभ्रंश है, यह स्पष्ट है । कनीना के अज्ञान में इसका सम्बन्ध 'कन्या' से समझा जाएगा, जो कि सर्वथा अयुक्त है । इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा लुप्त प्रकृतियों का उद्धार करने से भाषा वैज्ञानिकों को भाषाओं की पारस्परिक तुलना के लिये एक नई दृष्टि और विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध हो जाता है ।

४—वार्त्तिककार का एक वार्त्तिक है—हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य ८।२।३५॥

अर्थात्—'हृ' और 'ग्रह' (=गृह) के हकार को भकार होता है। भरति, गृभ्णाति। यहाँ दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम—'हृ' के 'ह' को 'भ' करने की आवश्यकता ही क्या है? जब कि स्वतन्त्र 'भृ' धातु का धातुपाठ में सर्वसम्मत पाठ उपलब्ध है। यदि कहा जाए कि धातुपाठ पठित 'भृ' का हरण अर्थ नहीं है, यह भी कहना तुच्छ है। वैयाकरणों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि धातुपाठ में लिखित अर्थ उपलक्षणमात्र हैं, धातु बह्वर्थक होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भृ का हरण अर्थ स्वीकार किया जा सकता है। दूसरा—'ग्रह' के 'ह' को 'भ' और 'र' को 'ऋ' कैसे हुआ? गृभ्णाति गर्भ आदि शब्दों की गृह्णाति गृह आदि शब्दों के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि दोनों प्रकार के प्रयोगों की दो पृथक् पृथक् (गृभ-गृह=ग्रह) मूल प्रकृतियां होनी चाहियें।

वैज्ञानिक व्याख्या—'हृ' के हकार को भकार होकर जो 'भृ' रूप होता है, उसका अर्थ वह भी है, जो 'हरति' का है। इसी प्रकार ग्रह (गृह) के हकार को भकार रूप होकर जो गृभ रूप निष्पन्न हो जाता है, वह गृह्णात्यर्थक स्वतन्त्र धातु है।[1]

इस प्रकार की व्याख्या करने से 'भृ' के हरणरूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है, और ग्रह (गृह) के वर्ण परिवर्तन से स्वतन्त्र गृभ धातु का परिज्ञान होता है। इस गृभ धातु के प्रयोग वेद में तो उपलब्ध होते ही हैं, यास्क भी गर्भ शब्द का निर्वचन इसी धातु से दर्शाता है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। वह लिखता है—

गर्भो गृभेः, गृणात्यर्थे,[2] गिरत्यनर्थानिति वा। निरुक्त १०।२३॥

अर्थात्—गर्भ 'गृणाति' (शब्द) अर्थ में वर्तमान 'गृभ' धातु से, अथवा अनर्थों को निगल जाता है, नष्ट कर देता है, इस कारण 'गिरति' (निगलना) अर्थ में।

५—पाणिनि का समासान्त विधायक एक सूत्र है—राजाहस्सखिभ्यष्टच्।५।४।६१॥

१. इसी प्रकार ग्राहक आदि में ग्रह की उपधा दीर्घत्व द्वारा निदर्शित 'ग्राह' भी स्वतन्त्र धातु है। देखिए महाभारत वन० १३२।४ का 'निजग्राहतुः' प्रयोग।

२. यहाँ पाठ भ्रंश हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। 'गृह्णात्यर्थे' पाठ होना चाहिए। क्योंकि वेद में 'गृभ' धातु का प्रयोग 'ग्रह' धातु के अर्थ में मिलता है। स्वयं यास्क ने भी आगे 'यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति......' वाक्य में गृह्णाति का ही प्रयोग किया है।

इसका अर्थ है—राजन्, अहन्, और सखि शब्द जिसके अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय होने पर पाणिनीय नियम के अनुसार 'अन्' भाग का लोप होता है और रूप बनता है—मद्रराजः काशीराजः, द्व्यहः, त्र्यहः।

इस व्याख्या के अनुसार नागराज्ञा (महा० आदि १६। १३) सर्वराज्ञाम् (आदि १। १०२), काशीराज्ञे (भासनाटक चक्र पृष्ठ १८७) महाराजानम् (भास, यज्ञफल, पृष्ठ २८) आदि शतशः प्रयुक्त शब्दों का साधुत्व उपपन्न नहीं होता। पाणिनि ने भी षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि (अ० ६। ४। १३५) सूत्र में नकारान्त 'धृतराजन्' शब्द का प्रयोग किया है[1]।

वैज्ञानिक व्याख्या— इस व्याख्या के अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—राजन् अहन् और सखि शब्द जिनके अन्त में हों ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है, अर्थात् टच् प्रत्यय करने पर अन् और इ भाग का लोप और प्रत्यय के अ के मेल से जो अकारान्त राज अह सख शब्द निष्पन्न होते हैं, उनसे निष्पन्न मद्रराज काशीराज महाराज द्व्यह त्र्यह आदि समस्त शब्द हैं। दूसरे शब्दों में नकारान्त सदृश अकारान्त राज और अह स्वतन्त्र प्रकृतियां हैं। उन्हीं से निष्पन्न मद्रराज द्व्यह आदि शब्द हैं।

वैज्ञानिक व्याख्या का लाभ—इस व्याख्या का भारी लाभ यह है कि अकारान्त और नकारान्त भेद से दो स्वतन्त्र शब्दों की सत्ता ज्ञात होने पर प्राचीन वाङ्मय में बहुधा प्रयुक्त नकारान्त समस्त ('काशीराज्ञे' आदि) शब्दों का साधुत्व तो अनायास प्रकट हो ही जाता है, साथ में विना समास के अकारान्त शब्दों का प्रयोग भी हो सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे कतिपय विरल प्रयोग भी सुरक्षित हैं। यथा—

अकारान्त राज शब्द—राजाय प्रयतेमहि (महा० आदि १४।४४॥)

अकारान्त अह शब्द—तन्त्राख्यायिका २। १३६ में उद्धृत प्राचीन वचन है—

यस्मिन् वयसि यत्काले यदहे चाथवा निशि।

पाणिनीय नियमानुसार द्व्यह त्र्यह प्रयोग तत्पुरुष समास में ही होता है, परन्तु रामायण १। १४। ४० के त्र्यहोऽश्वमेधः वचन में बहुव्रीहि में भी

---

१. संवत् १९३९ श्रावण वदी ४ को शाहपुराधीश को लिखे गये पत्र में ऋषि दयानन्द ने लिखा है—"श्रीयुत महाराजाधिराजभ्यो धीरवीर........" ऋ० द० पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३४० (द्वि० सं०)। यहाँ समास होने पर भी नकारान्त राजन् शब्द का प्रयोग किया है। समासान्त प्रत्यय नहीं किया।

अकारान्त की प्रवृत्ति देखी जाती है। पाली व्याकरण के अनुसार 'राजन्' शब्द की कतिपय विभक्तियों में नकारान्त और अकारान्त दोनों के रूप प्रयुक्त होते हैं। यथा—द्वि०ए० राजानम्, राजम्। तृ०ए० रञ्ञा, राजेन। स०ब० राजेसु।

प्राचीन आचार्यों का एक वचन है—विभाषा समासान्तो भवति[1] (समासान्तविधिरनित्यः—पाठा०)। इस वचन का वास्तविक भाव यही है कि समासान्त प्रत्यय करने पर लोकप्रसिद्ध उत्तर पद का जो स्वरूप निष्पन्न होता है, उस अप्रसिद्ध शब्द और लोकप्रसिद्ध दोनों प्रकार के शब्दों से निष्पन्न समस्त प्रयोगों का साधुत्व जानना चाहिए। यथा—

सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोप० में, अकारान्त धर्मशब्द।

सत्यधर्माणमध्वरे। ऋ० १।१२।४ में, नकारान्त धर्मन् शब्द।

इसी नियम के अनुसार नकारान्तरूप से प्रसिद्ध कर्मन् शब्द अकारान्त (कर्म) भी देखा जाता है। ऋ० १०।१३०।१ में देवकर्मेभिः प्रयोग अकारान्त कर्म शब्द का ही है।

ऊधसोऽनङ् (अ० ५।४।१३१) सूत्र से 'ऊधस्' को समासान्त 'अनङ्' आदेश करके जो 'ऊधन्' शब्दरूप बनाया जाता है, उसके (=ऊधन् के) बिना समास के अनेक विभक्तियों के रूप वेद में उपलब्ध होते हैं। इस व्याख्या के अनुसार सारा समासान्त प्रकरण द्विविध प्रकृतियों (बिना समासान्त के जो शुद्ध रूप है और समासान्त करने पर शास्त्रीय कार्य होकर जो रूप निष्पन्न होता है) का बोधक है। इस प्रकार केवल एक समासान्त प्रकरण से ही शतशः शब्दों के मूलभूत दो दो रूपों का परिज्ञान हो जाता है।

अब हम पूर्व निर्दिष्ट आशङ्का का परिहार करते हैं—

लोप-आगम-आदेश रूप क्लिष्ट प्रक्रिया अपनाने का कारण

शब्द साधुत्व का परिज्ञान लोक व्यवहार में सहायक होता है। लोक व्यवहार विना अर्थ ज्ञान के सम्भव नहीं। इसलिये व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों की, शब्द-साधुत्व का परिज्ञान कराते हुए उनके अर्थ परिज्ञान की भी विवक्षा रहती है। जो शब्द लोक में व्यवहृत होते हैं, उनके अर्थ लोक व्यवहार से परिज्ञात होते हैं, परन्तु जिन शब्दों का लोक में व्यवहार उत्सन्न हो जाता है, उनका अर्थज्ञान लोक से सम्भव नहीं होता। इसलिए उनके अर्थ परिज्ञान के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

---

१. महाभाष्य ६।२।१९७ में ज्ञापित। 'अनित्य' पाठ आधुनिक है। 'विभाषा' पाठ व्यापक अर्थ का बोधक है। आधुनिक वैयाकरणों ने 'अनित्यः' पद रखकर उसकी व्यापकता नष्ट कर दी।

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार में म्लेच्छता, उच्चारण की अस्पष्टता, अशक्तिज-अनुकरण, राजसिक तामसिक भोजनों के कारण ध्वनि-यन्त्रों में विकार और अज्ञान की वृद्धि होने के कारण संस्कृतभाषा का उत्तरोत्तर ह्रास होने लगा। अर्थात् म्लेच्छ=अपभ्रंश[1] भाषाओं के प्रचलन के कारण वह संकुचित होने लगी। उससे शब्दों का लोप होने लगा। बहुत काल पश्चात् उसमें ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई कि किसी शब्द की मूल प्रकृति का प्रयोग किसी देश में अवशिष्ट रह गया और उससे निष्पन्न शब्दों का व्यवहार उस देश में उत्सन्न हो गया। इसी प्रकार किसी देश में मूल प्रकृति का व्यवहार नष्ट हो गया, केवल उससे निष्पन्न शब्द वहां व्यवहृत रह गये। महामुनि यास्क ने इस अव्यवस्था का चित्र अति संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार उपस्थित किया है—

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। ....विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। निरुक्त २।२॥

अर्थात्—गत्यर्थक 'शव' धातु के आख्यात (तिङन्त) के प्रयोग कम्बोज देश में ही बोले जाते हैं। इसका विकार (कृदन्त) 'शव' शब्द आर्यों में बोला जाता है। काटने अर्थवाली 'दा' धातु के आख्यात प्रयोग प्राच्यदेश में ही व्यवहृत होते हैं, [उससे निष्पन्न] 'दात्र' शब्द का प्रयोग उदीच्य देश में होता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस तथ्य का अधिक स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं—

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। महाभाष्य १।१।१॥

अर्थात्—इस [पूर्व निर्दिष्ट[2]] अति महान् शब्द के प्रयोग विषय (क्षेत्र)

---

१. यहाँ अपभ्रंश शब्द से विकृतभाषा-मात्र अभिप्रेत हैं, अपभ्रंश-संज्ञक विशिष्ट भाषा नहीं।

२. सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणं, वैद्यकम्-इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। महा० १।१।१॥

में वे वे शब्द उन उन स्थानों में नियत विषय[1] वाले देखे जाते हैं। जैसे गत्यर्थक 'शव' धातु [आख्यातरूप में] कम्बोज देश में ही प्रयुक्त होती है, विकार में ही इसका प्रयोग आर्य करते हैं, 'शव' रूप में। गत्यर्थक 'हम्म' धातु सुराष्ट्र (सौराष्ट्र=काठियावाड़) में, 'रंह' प्राच्य और मगध में [प्रयुक्त होती है], आर्य 'गम' का ही प्रयोग करते हैं। काटने अर्थवाली 'दा' धातु का प्राच्य में [प्रयोग होता है], दात्र [कृदन्त शब्द] का उदीच्य देश में।

इस अव्यवस्था की समाप्ति इतने पर ही नहीं हुई। एक नाम अथवा धातु के सब विभक्ति वचनों के पूरे रूप भी सुरक्षित नहीं रहे, किसी शब्द के किसी विभक्ति वचन का रूप अवशिष्ट रह गया, तो तत्समानार्थक अन्य शब्द के अन्य विभक्ति वचनों का। यथा—समानार्थक 'त्रि' और 'त्रय' शब्दों में से प्रथम त्रि के षष्ठी विभक्ति का 'त्रीणाम्' प्रयोग लोक में अव्यवहृत हो गया[2] और 'त्रय' शब्द के षष्ठी विभक्ति के 'त्रयाणाम्' प्रयोग के अतिरिक्त सभी विभक्तियों के रूप अव्यवहृत हो गए। उभ और उभय में से 'उभ' के एकवचन द्विवचन के प्रयोग उत्सन्न हुए और उभय के द्विवचन के। इसी प्रकार 'गम' 'पा' आदि धातुओं के लट् लोट् लङ् विधिलिङ् के प्रयोग अव्यवहृत हो गए तो 'गच्छ' 'पिब' के अन्य आर्धधातुक लकारों में।

ऐसी भयङ्कर अव्यवस्था उत्पन्न होने पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों को कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा, इसकी हम पूरी कल्पना भी नहीं कर सकते। तत्कालीन आचार्यों ने अवशिष्ट संस्कृत भाषा को सुरक्षित और व्यवस्थित रखने के लिए जिन व्याकरणशास्त्रों का प्रवचन किया, उसमें उन्हें तीन कार्य करने पड़े—

१—जिन प्रकृति अथवा विकृति रूप शब्दों का लोक में व्यवहार उत्सन्न हो गया, उनके लिए वैयाकरणों ने नियम बनाया—अनभिधानान्न प्रयुज्यते। अर्थात् उत्सन्न व्यवहार वाले शब्द व्यवहार करने पर अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकते,[3] इसलिये उनका प्रयोग नहीं होता।

२—जिन जिन शब्दों की मूल प्रकृति तत्तद् वैयाकरणों के काल और देश में अव्यवहार्य हो चुकी थी, उनसे निष्पन्न व्यवह्रियमाण कृदन्त अथवा तद्धितान्त शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिये उन्हें स्वकाल अथवा स्वदेश में व्यवहार्य

१. यहाँ विषय से अभिप्राय केवल देश मात्र से नहीं है। उसमें उपदिश्यमान विद्या रूपी विषय का भी अन्तर्भाव समझना चाहिये। इतिहास पुराण आदि का निर्देश इसीलिये किया है।
२. 'त्रीणाम्' प्रयोग वेद में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार 'त्रय' का 'त्रयाणि' प्रयोग निरुक्त ६। २८; उणादिकोष व्याख्या १। १३२ में व्यवहृत है।
३. लोक व्यवहार के नष्ट हो जाने से अर्थाभिधानशक्ति का भी नाश हो जाता है।

तदर्थक तत्सदृश प्रकृति का आश्रय लेना पड़ा। परन्तु व्यवहार्य प्रकृति से वह (अव्यवह्रियमाण=उत्सन्न-प्रकृति से निष्पन्न) शब्द सरलता से उपपन्न नहीं हो सकता था और उत्सन्न-व्यवहारवाली प्रकृति का उपादान करने से अर्थज्ञान सम्भव नहीं था। इसलिये उन्हें व्यवह्रियमाण प्रकृति का उपादान करके, उसमें लोप आगम और आदेशों के विधान द्वारा उसे मूल (परन्तु उस समय अव्यवह्रियमाण) प्रकृति के रूप में परिणत करके[1] प्रत्यय विधान करना पड़ा। इस प्रकार ऋषियों ने अपने शब्दानुशासनों में स्वकाल में व्यवह्रियमाण प्रकृति का उपादान करके 'अर्थपरिज्ञान' और उसमें लोप आगम आदेश के विधान द्वारा अव्यवह्रियमाण 'मूल प्रकृति' के स्वरूप का परिज्ञान कराकर 'एक बाण से दो लक्ष्य बींधना' अथवा 'एक पन्थ दो काज़' आभाणक को चरितार्थ करके अपने अद्भुत बुद्धिचातुर्य का परिचय दिया।

३—संस्कृत भाषा के ह्रास अथवा संकोच के कारण उसमें जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसका संकेत हम पूर्व कर चुके[1]। उस अवस्था में जब किन्हीं दो समानार्थक और प्रायः सदृश शब्दों में से किसी शब्द के कुछ विभक्तियों के रूप अवशिष्ट रह गये और दूसरे शब्द के दूसरी विभक्तियों के रूप तब उस काल के मेधावी आचार्यों ने नष्टाश्व-दग्धरथ-न्याय[2] से उन्हें पुनः एक सूत्र में पिरो दिया। यथा—उभ शब्द के एकवचन और बहुवचन के रूप प्रयुक्त नहीं होते और उभय के द्विवचन के रूप। तथा पा घ्रा ध्मा स्था गम आदि धातुओं के सार्वधातुक लकारों के रूप प्रयुक्त नहीं रहे और पिब जिघ्र धम तिष्ठ गच्छ के आर्धधातुक लकारों के। वैयाकरणों ने इन्हें एक धातु के साथ सम्बद्ध कर दिया।[3] जहाँ इससे भी अधिक अव्यवस्था हुई, वहाँ वैयाकरणों ने विभिन्न शब्दों से निष्पन्न विभक्ति वचनों के लिये एक ही मूल शब्द की कल्पना करके लोप आगम

---

१. 'महाराजः' आदि में राजन् के 'अन्' का लोप और 'टच्' प्रत्यय के अवशिष्ट 'अ' अंश के योग द्वारा 'राज' अकरान्त प्रकृति, 'मानुष-मनुष्य' में 'मनु' के अन्त में षकार आगम करके 'मनुष्' षकारान्त प्रकृति, 'ग्रह' के 'र' को 'ऋ' और 'ह' को 'भ' आदेश करके 'गृभ' प्रकृति का निर्देश किया है।

२. दो रथारोही सहयात्रियों में से एक का रथ जल गया, दूसरे का अश्व मर गया। उस अवस्था में वे दोनों अपने अवशिष्ट साधनों का योग करके यात्रा को पूरी करते हैं। यही 'नष्टाश्वदग्धरथन्याय' कहाता है।

३. इस सम्बन्ध में जिस प्रकृति के अधिक रूप व्यवहृत थे, उसे मूल मान लिया और अल्प व्यवहृत रूपवाली प्रकृति को आदेश बना दिया।

आदेश द्वारा तत्तद् रूप बनाकर एक स्वतन्त्र रूपावली निष्पन्न कर दी। यथा—त्रिशब्द के षष्ठी के बहुवचन का त्रीणाम् रूप लोक में व्यवहृत नहीं होता, त्रयशब्द के षष्ठी के बहुवचन त्रयाणाम् के अतिरिक्त अन्य रूप व्यवहृत नहीं होते। अतः वैयाकरणों ने षष्ठी के बहुवचन में त्रि के स्थान में त्रय आदेश करके कार्य चलाया। पथिन् शब्द की जो रूपावली सम्प्रति प्रसिद्ध है, उस पर यदि इसी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए, तो विदित होगा कि उसके समझे जाने वाले २१ रूप एक पथिन् शब्द के नहीं हैं। उनमें पन्था[1] (आकारान्त) पन्थन्[2] (नकारान्त), पथिन् (इन्नन्त) और पथ्[3] (थकारान्त) चार[4] मूल प्रातिपदिकों के रूप एक सूत्र में पिरोए गए हैं। यह सारा कार्य इस चातुर्य से किया गया है कि बड़े बड़े वैयाकरणों को भी इस बात का परिज्ञान नहीं होता।

धन्य है, उन वैयाकरण ऋषि मुनियों को, जिन्होंने उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त दैवी वाणी के लुप्त हुए और व्यवह्रियमाण दोनों अंशों के अधिक से अधिक स्वरूप को अपने बुद्धि-चातुर्य से सदा के लिये सुरक्षित कर दिया। उनकी इस अनुपम सूझ का परिज्ञान होने पर किस बुद्धिमान् की मूर्धा उनके प्रति श्रद्धा-पूर्वक नत न होगी और किसकी वाणी से सहसा

नमः परमर्षिभ्यो व्याकर्तृभ्यः

उद्गार न निकलेगा।[5]

अब प्रकृत भाष्यस्थ पदों पर पूर्वनिर्दिष्ट वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार विचार किया जाता है।

---

१. पन्था आकारान्त के अन्य विभक्तियों में रूप मिलते हैं। यथा—पन्थाम्, ऋ० १।२४।८ आदि पन्थासः, ऋ० १।१००।३॥

२. तुलना करो—'पन्थानौ पन्थानः' की 'राजानौ राजानः' से।

३. तुलना करो—'पथा पथे पथः' की 'हृदा हृदे हृदः' (हृद् प्रकृत्यन्तरमस्ति। काशिका ६।३।५०) के साथ।

४. इन चार के अतिरिक्त एक 'पथ' अकारान्त भी है। द्र० पथेऽस्थाम् ऋ० ५।५०।३॥ यहाँ सप्तमी का अलुक् है, यथा रथेष्ठा (रथेऽस्था)। समपथ उत्पथ आदि में समासान्त 'डच्' करके 'इन्' का लोप करके इसी अकारान्त 'पथ' प्रकृति का निर्देश किया है।

५. पाणिनि आदि वैयाकरणों की इस सूक्ष्मेक्षिका तक न पहुंचकर वाकरनागल आदि पाश्चात्य लोगों का यह कहना कि हम 'पाणिनि से अधिक जानते हैं' वृथा अभिमान मात्र है।

पूर्व संकेतित भाष्यस्थ-पद-साधुत्व-विचार

पूर्वमुद्रित भाष्य में जिन पदों पर टिप्पणी लिखी है—'इनका साधुत्व परिशिष्ट में देखना चाहिये' उन पदों के साधुत्व का विचार प्रथम निर्दिष्ट वर्गीकरण के अनुसार किया जाता है।

१—अपठित धातु का प्रयोग

१. **गृभ्णाति**—यजुर्वेद भाष्य १ । ६ के अन्वय में पाठ है—

सूर्येण विच्छिन्नान् पदार्थकणान् [प्रतिगृभ्णातु] प्रतिगृभ्णाति ।

इस पाठ में 'प्रतिगृभ्णाति' पद ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त हुआ है। पदार्थ में 'प्रतिगृभ्णातु' प्रतिगृह्णाति पद का निर्देश किया गया है। वार्तिककार ने हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य' (८ । २ । ३२) लक्षण द्वारा वेद में भत्व का विधान किया है। तदनुसार 'गृभ्णाति' प्रयोग लोक में अनुचित है, ऐसा आक्षेप है।

समाधान—हम इसी वार्त्तिक का निर्देश करके और उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करके दर्शा चुके हैं कि संस्कृत भाषा में किसी समय 'गृभ' स्वतन्त्र धातु व्यवहृत थी। निरुक्त १० । २३ के प्रमाण से उसका सद्भाव भी द्योतित कर चुके हैं। देखिए पृष्ठ २७६ ।

पाणिनीय अथवा अन्य धातुपाठों में जो धातुएं पठित हैं, वे निदर्शनार्थ हैं। उनका परिगणन नहीं कर दिया गया कि इतनी ही धातुएं हैं, इनसे अतिरिक्त और कोई धातु है ही नहीं। धातुपाठ निदर्शनार्थ है, इसमें निम्न प्रमाण हैं—

क—धातुपाठ के अन्त में एक वचन है—बहुलमेतन्निदर्शनम् (१० । ३२५)[1] इसकी व्याख्या में क्षीरस्वामी लिखता है—

यदेतद् भवत्यादिधातुपरिगणनं तद् बाहुल्येन निदर्शनत्वेन ज्ञेयम् । तेन अपठिता मिलि-क्ष्मवि प्रभृतयो लौकिकाः[2] स्तम्भु-स्तुम्भु-आदयश्च

१. इस लेख में जहां कहीं धातुपाठ सम्बन्धी अङ्क का निर्देश है, वह रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और हमारे द्वारा सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी के अनुसार है।

२. तुलना करो—मिलिक्ष्मविक्षपिप्रभृतीनां धातुत्वं धातुगणस्यासमाप्तेः । वामनीय काव्यालङ्कार ५ । २ । २ ॥

सौत्राः[1] चुलुम्पादयश्च वाक्यकारीया धातव उदाहार्याः।[2] वर्धन्ते हि धातुगणाः। तथा च श्रीभोजः……। पृष्ठ ३२२।[3]

अर्थात्—जो यह भू आदि धातुओं का पाठ है, उसे निदर्शन रूप से जानना चाहिए।[4] इस कारण [धातुपाठ में] अपठित मिल क्लव आदि लौकिक, स्तम्भु स्तुम्भु आदि सौत्र और चुलुम्प आदि वार्तिककारीय धातुएं उदाहरणीय हैं। धातुगण बढ़ता है। जैसा कि श्री भोज ने कहा है……।

इसके आगे भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण के चार श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ख—कई लोग तैत्तिरीय संहिता के चुर नामक व्याख्याता द्वारा 'दसये' की 'निरवासयामि' व्याख्या देखकर 'दस निरवासने' धातु की कल्पना करते हैं। द्रष्टव्य सायणीय धातुवृत्ति पृष्ठ ३१८, चौखम्बा संस्करण।

ग—हरदत्त पदमञ्जरी (भाग १, पृष्ठ ६५१) में लिखता है—

धातुष्वपठितोऽपि छदिरस्मादेव वचनादभ्युपगम्यते।

अर्थात्—धातुपाठ में अपठित छद धातु छदेश्च नियुक्ते (३।२।१३५) इस वार्तिक वचन से स्वीकार की जाती है।

घ—लगभग ८-१० वर्ष हुए पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न[5] का धातुपाठ प्रकाश में आया है। उसमें पाणिनि के अपेक्षा लगभग ४५० धातुएं संख्या में अधिक हैं। यदि पाणिनि से भिन्न सभी धातुओं की गणना की जाए तो लगभग ८०० धातुएं ऐसी हैं, जो पाणिनि में पठित नहीं हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक—धातुपाठ में धातुओं का पाठ निदर्शनमात्र है। दूसरी—पाणिनीय धातुपाठ में अपठित होने मात्र से कोई धातु अव्यवहार्य नहीं हो सकती।

ङ—दशपादी उणादिपाठ में एक सूत्र है—

हन्तेरन् घ च। ८।१०४॥ (घश्च पाठान्तर)

---

१. द्रष्टव्य—अष्टा० ३।१।८२॥

२. कास्यनेकाच्ग्रहणं चुलुम्पाद्यर्थम्। महा० ३।१।३५

३. क्षीरतरङ्गिणी की यह पृष्ठ संख्या हमारे द्वारा सम्पादित संस्करण की है। आगे भी सर्वत्र ऐसा ही समझें।

४. ऋषि दयानन्द ने भी यही अभिप्राय अपने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास (श. सं. भा १, पृष्ठ १०५) में शिव शब्द के निर्वचन में स्वीकार किया है। आख्यातिक में इस सूत्र की कई व्याख्याएं दर्शाई हैं।

५. यह कन्नड टीका सहित छप चुका है। हम कन्नड टीका का संस्कृत अनुवाद कर चुके हैं। शीघ्र छपेगा।

इस सूत्र में हन् धातु से रन् प्रत्यय और हन् के स्थान में घ आदेश करके घर[1] शब्द का साधुत्व बताया है। कातन्त्र धातुपाठ की दुर्ग टीका में घर स्वतन्त्र धातु मानी गई है। क्षीरस्वामी लिखता है—

घर स्रवणे इति दुर्गः—क्षीरतरंगिणी १०। ६८, पृष्ठ २६०।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि किसी भी धातु का प्रयोग केवल इस कारण असाधु नहीं माना जा सकता कि वह पाणिनीय धातुपाठ में अपठित है।

छान्दस शब्दों का लोक में प्रयोग—अब यह प्रश्न शेष रहता है कि जो शब्द इस समय छान्दस माने जाते हैं, उनका लोक में प्रयोग हो सकता है वा नहीं। इसका उत्तर स्पष्ट है कि 'मूलतः कोई शब्द केवल वैदिक और केवल लौकिक हैं" इस मन्तव्य में कोई प्रमाण नहीं।[2] और ना ही इनका विभाजक कोई निर्दोष लक्षण है। अतः शब्दसाम्यात् वैदिकों का लोक में प्रयोग असाधु नहीं कहा जा सकता।

यदि कहा जाए कि व्याकरण शास्त्र ही दोनों प्रकार के शब्दों का विभाजक है। वह जिस शब्द का 'छन्दसि मन्त्रे ब्राह्मणे' आदि पदों का निर्देश करके साधुत्व दर्शाता है, वे छान्दस हैं, तदतिरिक्त लौकिक। यह कथन भी अनेकान्त है। व्याकरणशास्त्र का जितना वाङ्मय इस समय उपलब्ध है, उसमें छान्दसत्व के विषय में मतैक्य नहीं है। एक शास्त्रकार जिस पद का साधुत्व छान्दस मानकर दर्शाता है, तो दूसरा शास्त्रकार उसे छान्दस नहीं मानता। हम यहाँ केवल ४-५ प्रमाण

---

१. समस्त भाषा वैज्ञानिक गृह पर्याय 'घर' शब्द को गृह का अपभ्रंशरूप प्राकृत प्रयोग मानते हैं; परन्तु यह मिथ्या भ्रम है। इस भ्रम के दो कारण हैं। एक प्राकृत में प्रयोग होना, दूसरा वररुचि के प्राकृत व्याकरण में "गृहे घरोऽपतौ" (४।३२) सूत्र द्वारा गृह को घर आदेश करना। दशपादी उणादि सूत्र महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा उद्धृत है (द्र० हमारे द्वारा सम्पादित, काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय की सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में प्रकाशित द० उ० वृत्ति का उपोद्घात पृष्ठ ३२)। अतः इस उणादिपाठ की प्राचीनता-प्रामाणिकता सन्देह से रहित है। युद्धार्थक 'जङ्ग' और पवित्रतार्थक 'पाक' प्रभृति अनेक ऐसे शब्द हैं, जो मूलतः संस्कृत भाषा के होते हुए भी वर्तमान वाङ्मय में विरल प्रयुक्त होने से, तथा संस्कृतोद्भव भाषाओं में मूल रूप में व्यवहृत होने से अन्य भाषाओं के समझे जाते हैं। इसके विशेष परिज्ञान के लिए हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (भाग १ पृष्ठ ३७-४१) देखना चाहिए।

२. इसके विस्तार के लिए देखिये सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ३—६।

उपस्थित करते हैं। उनसे यह भले प्रकार ज्ञात हो जाएगा कि किसी पद के छान्दसत्व के विषय में परस्पर कितनी भिन्नता है। यथा—

आपिशलि ने तवीति रवीति स्तवीति शमीति (शमीध्वम्) अमीति प्रभृति पदों को छान्दस मानकर तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु छन्दसि[1] सूत्र में छन्दसि पद पढ़ा है। परन्तु पाणिनि तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके (७।३।९५) में 'छन्दसि' पद नहीं पढ़ता। पाणिनि के सभी व्याख्याकार तवीति रवीति स्तवीति प्रयोगों को तो लोक में प्रयोगार्ह मानते हैं, परन्तु शमीति अमीति दो को छान्दस कहते हैं, क्योंकि शम के 'श्यन्' और अम के 'शप्' विकरण का जब तक लोप न हो, तब तक धातु से अव्यवहित परे सार्वधातुक प्रत्यय नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि जैसे पाणिनीयों ने तवीति रवीति स्तवीति को लोक प्रयोगार्ह स्वीकार किया है, उसी प्रकार वे 'शम' और 'अम' धातु का आदादिकत्व भी स्वीकार कर लेते। उस अवस्था में एक सूत्रनिर्दिष्ट पदों की एकरूपता हो जाती। धातुपाठ के पूर्वनिर्दिष्ट बहुलमेतन्निदर्शनम् (१०।३२५) सूत्रानुसार इनके आदादिकत्व मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

विशेष—पदकारों की शैली है कि वे मन्त्र के संहिता पाठ में जिन दीर्घ आदि कार्यों को छान्दस समझते हैं, अथवा उनके समय के व्याकरणशास्त्र के अनुसार जो कार्य छान्दस माने गये थे, उन्हें पदपाठ करते समय लौकिक पदवत् पढ़ते हैं।[2] इस नियम के अनुसार यजुर्वेद १।१५ में प्रयुक्त शमीष्व पद का पदपाठ है—शमीष्व। शमिष्वेति शमिष्व। जिसे स्वभावतः दीर्घ मानते हैं उन्हें पदकार ह्रस्व नहीं करते (द्र० वाज० प्राति० ३।१२६ अनन्त टीका)।

इस पदपाठ से प्रतीत होता है कि यजुर्वेद का पदकार शमीष्व में दीर्घत्व मात्र कार्य छान्दस मानता है और उसके शमिष्व रूप को लौकिक मानता है।[3]

---

१. यह सूत्र काशिका ७।३।९५; धातुवृत्ति पृष्ठ २४१ (काशी संस्क०) में उद्धृत है। आपिशलि के अन्य उपलब्ध सूत्रों और वचनों का संग्रह हमारे सं० व्या० शा० के इतिहास में पृष्ठ ९८-१०१ तक देखें।

२. इस विषय में पदकारों के पदपाठ शैली में परस्पर कुछ कुछ भिन्नता है। ऋग्वेद के पदपाठ में 'मामहानः' का सीधा 'ममहानः' 'ऋतावृधः' का 'ऋतवृधः' आदि निर्देश किया जाता है। यजुर्वेद के पदपाठ में पहले मन्त्रगत मूल पाठ पढ़ा जाता है, तत्पश्चात् लौकिक रूप का निर्देश करके इति पद द्वारा उसका पुनः पाठ किया जाता है। विश्वावसुः। विश्ववसुरिति विश्वऽवसुः।

३. द्रष्टव्य—सुशमि शमिष्व। तै० सं० १।१।५॥

परन्तु वर्तमान व्याकरणों में पदकार द्वारा लौकिक रूपेण स्वीकृत शमिष्व रूप में इडागम विधायक कोई लक्षण नहीं है। पदकार के निर्देश से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक—पूर्व व्याकरणों में रुदिति-स्वपिति के समान शमिष्व में भी इडागम विधायक लक्षण था। दूसरी—शम धातु अदादिगण में भी पढ़ी जाती थी। अन्यथा विकरण के लोप हुए विना इडागम का संभव नहीं।

हमारे विचार में तो शम को अदादि मान लेने पर स्तवीति और रुदिति के समान क्रमशः शमीष्व और शमिष्व दोनों पद प्रयोगार्ह हो जाते हैं।

ख—दीधीङ् वेवीङ् इन्ध ये धातुएं छान्दस हैं, ऐसा पतञ्जलि का मत है।[1] पाणिनि ने इन्हें न तो धातुपाठ में छान्दस कहा है, न सूत्रपाठ में। इतना ही नहीं, केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान करने वाला कातन्त्र व्याकरण[2] इन धातुओं को लौकिक मानकर इनके रूपों का विधान करता है।[3] काशकृत्स्न और चान्द्र व्याकरण[4] में भी इन धातुओं के छान्दसत्व का कोई संकेत नहीं है। वे भी इन्हें लौकिक मानते हैं।[5]

ग—पाणिनि ने स्वादिगण की अह व्याप्तौ से गण के अन्त तक समस्त धातुओं को छान्दस माना है। उसने अह व्याप्तौ से पूर्व छन्दसि (५।२६) अधिकार सूत्र पढ़ा है। परन्तु पाणिनि से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न और उत्तरवर्ती कातन्त्रकार तथा चन्द्राचार्य इनको लौकिक धातुएं मानते हैं।

घ—पाणिनीय धातुपाठ की पश्चिमोत्तर शाखा में कृञ् धातु भ्वादि में पढ़ी जाती थी। पाणिनीय सम्प्रदाय के क्षीरस्वामी, दशपादीउणादिवृत्तिकार, दैवकार, पुरुषकार का कर्त्ता लीलाशुक मुनि आदि अनेक ग्रन्थकार कृञ् को

---

१. दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्। महाभाष्य १।१।६॥ इन्धेश्छन्दोविषयत्वात् महा० १।२।६॥

२. छान्दसाविति। शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयेते। नह्ययं छान्दसान् शब्दान् व्युत्पादयति। कातन्त्रवृत्ति परिशिष्ट, पृष्ठ ५३०, कलकत्ता नागराक्षर संस्क०। त्रिलोचनदास ने कातन्त्र को शर्ववर्म प्रोक्त माना है, यह भूल है। वह तो वृत्तिकार है। मूल ग्रन्थ महाभाष्य से भी प्राचीन है। देखिए-सं० व्या० शा० का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४००-४०४; ४०७।

३. दीधीवेव्योश्च। कातन्त्र ३।५।१५॥ परोक्षायामिन्धिश्रन्थिग्रन्थिदम्भीनामगुणे। कातन्त्र ३।६।३॥

४. चान्द्र के लौकिक भाग में सूत्र है—लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम्। ५।३।२५॥

५. विशेष देखिए-सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २६, ३०, ३१।

भ्वादि में पढ़ते हैं।[1] पाणिनीयेतर जैन शाकटायन और हैम शब्दानुशासन के धातुपाठों में भी इसका भ्वादि में पाठ उपलब्ध होता है।[2] इस प्रकार कृञ् धातु का भ्वादि में पाठ होने से करति करतः करन्ति प्रयोग अन्य धातु प्रयोगों के समान लौकिक हैं। पुनरपि लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों में इनका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। हाँ, पाली और प्राकृत आदि भाषाओं में इसके भ्वादि गण के प्रयोग होते हैं।

ङ—पाणिनीय सम्प्रदाय के अनुसार देवेभिः कर्णेभिः प्रयोग वैदिक हैं, परन्तु केवल लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान करनेवाला कातन्त्र व्याकरण भिस् एस् वा (२।१।१८) सूत्र द्वारा इनको लौकिक भी मानता है।[3] बौधायन धर्म सूत्र १६।३२ में उद्धृत श्लोक में तेभिः प्रयोग उपलब्ध होता है।[4] पाली भाषा में देवेभि देवेहि दोनों और प्राकृत में देवेहि प्रयोग होते हैं। जो देवेभिः के अपभ्रंश हैं। पाणिनि के ७।१।११ नियम के अनुसार इमैः प्रयोग नहीं होना चाहिए, परन्तु महाभारत आदि० १२६।२३ तथा चरक संहिता चिकित्सा स्थान २१।१२७ में इमैः पद प्रयुक्त है।

लौकिक वैदिक भेद का कारण—हम चिरकाल के अनुशीलन के पीछे इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि आरम्भ में शब्दों में तथाकथित वैदिक लौकिक विभाग नहीं था। उत्तरकाल में भाषा के उत्तरोत्तर ह्रास अथवा संकोच होने से जिन शब्दों का लोक में व्यवहार लुप्त हो गया, प्राचीन ग्रन्थ मात्र में जिनके कतिपय प्रयोग सुरक्षित रह गए। उन्हें ही उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने छान्दस-वैदिक अथवा आर्ष प्रयोग की पदवी प्रदान की। इसलिये जैसे जैसे भाषा से शब्दों का लोप होता गया, वैसे-वैसे वैदिकत्व की वृद्धि होती गई। यद्यपि कातन्त्र व्याकरण पाणिनि से उत्तरवर्ती है, परन्तु वह पाणिनि से पूर्ववर्त्ती काशकृत्स्न व्याकरण का संक्षेप है। अतः इसमें पाणिनि पूर्ववर्ती कुछ अंश सुरक्षित रह गया है॥ यथा—देवेभिः में भिस् का सद्भाव।

---

१. क्षीरतरंगिणी १।६३६। पृ० १३० (अत्रस्था टिप्पण्यपि द्रष्टव्या) द० उ० वृत्ति पृष्ठ १७, ५२ इत्यादि। दैव पुरुषकार पृष्ठ ३८। कृञ् करणे भौवादिकः, सायण ऋग्भाष्य १।२३।६॥

२. शाक० धातु संख्या ५७७। हैम धातु १।८४२ (विक्रम विजय मुनि सं०)॥

३. कातन्त्र के टीकाकारों ने इस तत्त्व को न समझ कर 'वा' पद की अन्यथा संगति लगाने की जो क्लिष्ट कल्पना की है, वह चिन्त्य है।

४. मृगैः सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च। तैरेव च सदृशीवृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणम्। यहां "तेभिः" और "तैः" दोनों शब्द प्रयुक्त हैं।

विवेचना का सार—इस विस्तृत विवेचना से स्पष्ट है कि शब्दों के लौकिक और वैदिक विभाग करनेवाला कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं है। मीमांसकों के य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः (१।३।३०) मत के अनुसार दोनों का एकत्व ही प्रामाणिक है।[1] अतः वैदिकरूप से अभिमत शब्दों का लोक में प्रयोग असाधु नहीं है।

धत्तः धत्तवान् विधत्तवान्—यजुर्वेदभाष्य १।१८ के द्वितीय अन्वय में पाठ है—एवं सोऽग्निर्धत्तः[2] सन् सुखमुपदधाति।

यजुर्वेदभाष्य ४।३१ के पदार्थ में पाठ है—(अदधात्) धत्तवान्, दधाति वा।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदनित्यत्व विचार प्रकरण में स पर्यगात् मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—(व्यदधात्) विधत्तवान्।

पाणिनि के दधातेर्हिः (७।४।४२) नियम के अनुसार हितः हितवान् विहितवान् प्रयोग होने चाहियें, ऐसा आक्षेप होता है।

समाधान— दा दाने का निष्ठा में प्रयोग होता है—दत्तः दत्तवान्। पाणिनि ने दो दद् घोः (७।४।४६) से दा के स्थान में दद् आदेश करके दा समानार्थक दद् धात्वन्तर का निर्देश किया है।[3] इसी प्रकार धा धातु के स्थान में तत्समानार्थक धद् प्रकृत्यन्तर समझनी चाहिए। धद् प्रकृत्यन्तर का ऋग्वेद ४।२७।५ में प्रयोग उपलब्ध होता है—प्रति धत् पिबध्यै।[4]

सायण ने इसका अर्थ प्रतिदधातु और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रतिदधाति दर्शाया है। इससे यह स्पष्ट है कि धत् का प्रयोग डुधाञ् धातु के अर्थ में हुआ है। यह धत् प्रयोग डुधाञ् धातु से किसी भी लकार में अञ्जसा

---

१. मीमांसकों के इस सिद्धान्त की पुष्टि निरुक्त (१।२ तथा १।१६), वाजसनेय प्रातिशाख्य (१।३) तथा उनकी टीकाओं से भी होती है। विस्तृत विचार के लिए देखिए सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३-६॥

२. आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी ने स्वसम्पादित यजुर्वेद भाष्य में 'धत्तः' पद को अप्रयुक्त मान (अशुद्ध नहीं) कर 'धृतः' संशोधन दर्शाया है।

३. हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार। दद् धात्वन्तर का दैवादिक 'दद्यामि' रूप महाभारत सभा पर्व ४७। २६ में उपलब्ध होता है। आदादिक का 'दद्मि' रूप रामा० १।२७।१५ में मिलता है।

४. महाभाष्यकार ने भी 'नेषतु' 'नेष्टात्' वैदिक प्रयोगों के आधार पर निष धात्वन्तर की कल्पना की है (३।२।१३५)। द्र० यही प्रकरण पृष्ठ २७७।

उपपन्न नहीं होता। धद् प्रकृत्यन्तर स्वीकार करने पर उसे आदादिक मानकर शब्लुक् और अडभाव पक्ष में लुङ् के प्रथम पुरुष के एकवचन में विना किसी क्लिष्ट कल्पना के धत् रूप निष्पन्न हो जाता है।

दा और धा धातु के जो रूप इस समय स्वीकृत हैं, उनमें दा दद् ददा और धा धद् दधा तीन तीन धातुओं के रूप सम्मिलित हैं।[1] उनमें दत्तः दत्ताम् दत्ते आदि उसी दद् प्रकृत्यन्तर के रूप हैं, जिसका निष्ठा के दत्तः दत्तवान् रूपों में पाणिनि ने आदेश रूप से विधान किया है। इसी प्रकार धत्तः धत्ताम् धत्ते आदि रूप भी पाणिनीय शास्त्र की पूर्व निर्दिष्ट वैज्ञानिक व्याख्यानुसार प्रदर्शित धद् प्रकृत्यन्तर के हैं। ये दद् और धद् प्रकृतियां आदादिक[2] और अनिट् हैं। इसी धद् प्रकृत्यन्तर के निष्ठा के वास्तविक रूप धत्तः धत्तवान् हैं, जो अञ्जसा उपपन्न होते हैं। धद् प्रकृत्यन्तर का ज्ञापन हो जाने पर धत्तः धत्तवान् रूपों के साधुत्व में कोई शङ्का नहीं रहती। हितः हितवान् रूप धा के नहीं हैं, अपितु आदेश रूप से प्रज्ञापित हि प्रकृत्यन्तर के हैं।

संसेध्यताम्, संसेधनीयाः—यजुर्वेदभाष्य १। ५ के पदार्थ और अन्वय में पाठ है—संसेध्यताम्। यजुर्वेद २। १७ तथा ३। १६ के भावार्थ में व्यवहाराः संसेधनीयाः और श्यामजी कृष्णवर्मा के नाम लिखे पत्र में संसेधनीयानि (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १३२ पङ्क्ति १५ द्वि० सं०) पाठ उपलब्ध होता है। इनके विषय में वैयाकरणों का कहना है कि पूर्वोक्त पदों के स्थान में क्रमशः संसाध्यताम् संसाधनीयाः संसाधनीयानि प्रयोग होने चाहियें।

समाधान—इनमें प्रथम संसेध्यताम् प्रयोग षिधु गत्याम् (१। ३८) इस भौवादिक धातु के णिजन्त के कर्म में उपपन्न होता है। सिध्यतेरपारलौकिके (६। १। ४६) सूत्र में श्यन् विकरण का प्रयोग होने से दो बातें

---

१. तुलना करो—पृष्ठ २६५ पर निर्दिष्ट पथिन् के रूपों में पन्था पन्थन् पथिन् पथ् शब्दों के रूपों का संग्रह।

२. (क) दद् का आदादिक रूप 'दद्भिः' रामा० १। २७। १५॥
(ख) अदादि आकृतिगण है। उसमें 'जक्ष' के पास 'तक्ष' का पाठ मानने से 'जक्षति' के समान 'तक्षति' रूप बहुवचन में उपपन्न हो जाता है। उस अवस्था में 'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' (ऋ० १।१६२।६) में बहुवचन के स्थान पर एकवचन रूप व्यत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। काशकृत्स्न और कातन्त्र धातुपाठों में जुहोत्यादि अदादि के अन्तर्गत माना गया है। इसी दृष्टि से 'नवगणी धातुपाठः' प्रवाद उपपन्न हो जाता है।

व्यक्त होती हैं। एक—आत्त्व, दैवादिक षिधु संराद्धौ (४ । ८३) को ही होता है। द्वितीय—भौवादिक सिध भी दैवादिक के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अन्यथा जिसका पारलौकिक अर्थ होगा, उसी सिध को आत्त्व होगा। यदि भौवादिक का पारलौकिक अर्थ नहीं है, तो न उसे आत्त्व की प्राप्ति होगी, न श्यन् निर्देश से उसके व्यावर्तन की आवश्यकता है। यह है वैयाकरण मत से उपपत्ति। हमारे मत में षिधु का सेधयति और साध का साधयति दो धातुओं से दो प्रयोग अंजसा सिद्ध हो जाते हैं। आत्त्वविधान इसी का ज्ञापक है।

संसेधनीयाः संसेधनीयानि ये दोनों प्रयोग दैवादिक षिधु संराद्धौ (४ । ८३) से विना कल्पना के सिद्ध हो जाते हैं।

५. जाययति—यजुर्वेदभाष्य २ । १४ के पदार्थ में हस्तलेखानुसार पाठ है—

(वाजजितम्) यो येन वा वाजं संग्रामं जाययति तम्।

इसके विषय में वैयाकरणों का कथन है कि पाणिनि के क्रीङ्जीनां णौ (६ । १ । ४८) नियम के अनुसार जापयति प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार इस सूत्र का अर्थ होगा—क्री इङ् और जि धातु को आत्त्व होकर जो लुप्त क्रा-आ-जा धात्वन्तर व्यक्त होते हैं उनका प्रयोग भी णिच् में साधु है। पाणिनि ने जि के जाययति प्रयोग के उत्सन्न हो जाने और जा के जापयति प्रयोग के व्यवहृत होने से आत्त्व विधान द्वारा उत्सन्न और व्यवह्रियमाण दोनों शब्दों की व्यवस्था दर्शाई है। जो शब्द दो दो रूप में व्यवहृत थे, उनके साधुत्व ज्ञापन के लिए आत्व के विकल्प का विधान करके प्रयुक्त धातु और लुप्त धातु दोनों के शब्दों की व्यवस्था की है। यथा—चिस्फुरोर्णौ (६ । १ । ५४) चि का चाययति लुप्त चा का चापयति। इस व्यवस्था के अनुसार उत्सन्न होने मात्र से जाययति आदि प्रयोग व्यवहार्य नहीं, साधु नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् उक्त कथन में कोई हेतु नहीं।

२—आत्मनेपद परस्मैपद का अस्थान में प्रयोग

कौनसी धातुएं परस्मैपदी हैं, और कौनसी आत्मनेपदी, तथा किस धातु का किस अवस्था में आत्मनेपद में प्रयोग होता है, किस अवस्था में परस्मैपद में इसकी व्यवस्था आचार्य पाणिनि ने बहुत विस्तार से दर्शाई है। उस व्यवस्था को एकान्त प्रमाण मानकर आचार्य दयानन्द सरस्वती के कुछ पदों पर वैयाकरण आक्षेप करते हैं।

अस्थान में आत्मनेपद—आचार्य भाष्यंकार ने कतिपय परस्मैपदी धातुओं का आत्मनेपद में प्रयोग किया है। यथा—

दृंहते बृंहते हर्षन्ताम् उपदिशताम्—दृह दृहि बृह बृहि वृद्धौ (१ । ४८५) धातुएं परस्मैपदी हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद-भाष्य १ । २ के अन्वय में दृंहस्व दृंहते, २ । १८ के पदार्थ में (बर्हिषि) बृहन्ते वर्धन्ते......तथा २ । २२ के पदार्थ में (बर्हिः) बृहन्ते सर्वे पदार्थाः......प्रयोग किए हैं। इसी प्रकार २ । १३ के पदार्थ में परस्मैपदी हृषु अलीके (१ । ४६८) का (मादयन्ताम्) हर्षन्ताम्, तथा २ । १० के पदार्थ में परस्मैपदी दिश अतिसर्जने (६ । ३) का (ह्वयताम्) स्पर्धताम उपदिशताम् आत्मनेपद में प्रयोग किया है।

इस प्रकार के परस्मैपदी धातुओं के आत्मनेपद के अनेक प्रयोग इस भाष्य में उपलब्ध होते हैं।

अस्थान में परस्मैपद—यजुर्वेदभाष्य २ । १३ के पदार्थ में (प्रतिष्ठ) प्रतिष्ठति में प्रपूर्वक तिष्ठ से परस्मैपद का निर्देश किया है। यहाँ समवप्रविभ्यः स्थः (अ० १ । ३ । १२) लक्षण अनुसार आत्मनेपद का प्रयोग होना चाहिये।

समाधान—अस्थान में जो आत्मनेपद और परस्मैपद के प्रयोग समझे जाते हैं, वे वस्तुतः अस्थान में अथवा असाधु नहीं हैं। इसके विज्ञान के लिए वैयाकरणों के निम्न नियम द्रष्टव्य हैं—

१—पाणिनि ने आत्मनेपद परस्मैपद का जो अनुक्रमण किया है, वह प्रायिक है, नियामक नहीं है। अत एव पाणिनि द्वारा परस्मैपदियों में पठित षस्ज गतौ (१ । १२२) का महाभाष्यकार द्वारा यदभिप्रायेषु सज्जते (अ० ३ । १ । २६) वाक्य में और प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु (गीता ३ । २९) में प्रयुक्त आत्मनेपद प्रयोग उपपन्न होता है। अन्यथा इन्हें भी असाधु प्रयोग स्वीकार करना होगा।

२—चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (२ । ६) धातु में इकार अनुदात्त और इत्संज्ञक है। अनुदात्तेत् होने से ही इस धातु से अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१ । ३ । १२) से आत्मनेपद हो ही जाता, पुनः ङित् करण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि आत्मनेपद विधि अनित्य है। क्षीरस्वामी लिखता है—

गणकृत्यमनित्यमिति ज्ञापनार्थं च। यथा 'स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्' (सुभाषित ६३१)। क्षीरतरङ्गिणी २ । ६।

अर्थात्—गणकार्य के अनित्य ज्ञापन के लिए ङित् करण है। इससे 'स एवायं नागः सहति' में सहते के स्थान में सहति प्रयोग साधु है।

३—वामन काव्यालङ्कार सूत्र में लिखता है—

वलेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात्। चक्षिङोऽनुबन्धकरणम्। ५। २। ३। ४॥

अर्थात्—वल धातु का आत्मनेपद अनित्य होने से वलति प्रयोग साधु है। अनित्यत्व का ज्ञापन चक्षिङ् धातु में ङकार अनुबन्ध से होता है।

४—धातुपाठ प्रवचनकर्ताओं में आत्मनेपदी और परस्मैपदी धातुओं के विषय में बहुत्र विसंवाद उपलब्ध होता है। यथा—

पाणिनि ने वद व्यक्तायां वाचि (१। ७३९) को परस्मैपदी माना है और भासनोप० (अ० १। ३। ४७) आदि सूत्रों द्वारा अर्थ विशेष में आत्मनेपद का विधान किया है। काशकृत्स्न ने अपने धातुपाठ में इसे उभयपदी धातुओं में पढ़ा है।[1] द्रष्टव्य कन्नड टीका, पृष्ठ १६१।

इसी प्रकार पाणिनि ने वस निवासे (१। ७३३) तथा टुओश्वि गति-वृद्ध्योः (१। ७४१) को परस्मैपदी माना है। काशकृत्स्न इन्हें भी उभयपदी धातुओं में पढ़ता है। पृष्ठ १६१ (वही)।

रामायण महाभारत में परस्मैपद आत्मनेपद के व्यत्यास प्रायः उपलब्ध होते हैं। विस्तभिया हम उदाहरण नहीं दर्शाते।

इस विवेचना से सिद्ध है कि पाणिनि का आत्मनेपद परस्मैपद अनुक्रमण प्रायिक है। अतः उनका अन्यथा प्रयोग असाधु नहीं कहा जा सकता। अन्यथा भगवान् वाल्मीकि और कृष्णद्वैपायन व्यास सदृश शिष्टतम व्यक्तियों के शतशः प्रयोग असाधु मानने पड़ेंगे।

३—गण में अपठित धातु का प्रयोग

इस भाष्य में अनेक धातुओं के ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो उन धातुओं के उन-उन गणों में पाठ न होने से नहीं बनते। यथा—

हृषन्तु—यजुर्वेदभाष्य २।१३ के पदार्थ में (मादयन्ताम्) हृषन्तु[2] पाठ है। हृषु धातु अलीक अर्थ में भ्वादि (१। ४६८) में पढ़ी है। उसका हर्षति प्रयोग होता है। हृष तुष्टि अर्थ में दिवादि (४। १२२) में पढ़ी है। उसका हृष्यति प्रयोग होता है। यहाँ हृषन्तु प्रयोग तुदादिगण का मानकर किया है, परन्तु तुदादि में इसका पाठ नहीं है।

---

१. काशकृत्स्न के मतानुसार महाभारत के 'वदसे' अनु० १६। २६, भीष्म ८३। ३; 'वदस्व' द्रोण ६१। ३; उद्योग १६३, १० आदि में प्रयुक्त वद धातु के आत्मनेपद प्रयोग सर्वथा साधु हैं। उनमें आर्षत्वात् साधु' कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है।

२. भाष्य के सभी हस्तलेखों में 'हर्षन्ताम्' पाठ है। उसमें आत्मनेपद विधातव्य है। उसकी निष्पत्ति पूर्ववत् समझें।

विरुध्यति, विरुध्यामः—यजुर्वेदभाष्य १ । २ में (द्वेष्टि) विरुध्यति, (द्विष्मः) विरुध्यामः, २ । १५ के भाष्य में (द्विष्मः) विरुध्यामः, २।२५ के भाष्य के हस्तलेखों में (द्वेष) विरुध्यति, (द्विष्मः) विरुध्यामः[1] पाठ उपलब्ध होते हैं । रुध धातु का पाठ दिवादि में नहीं उपलब्ध होता ।

हिंसामः—यजुर्वेदभाष्य १ । ८ में (धूर्वामः) हिंसामः पाठ उपलब्ध होता है । हिसि हिंसायाम् रुधादिगण (७ । २४) में पठित है । उसका रूप हिंस्मः होता है । इस धातु का दूसरा पाठ चुरादिगण (१० । २२०) में उपलब्ध होता है । उसका हिंसयामः प्रयोग बनता है ।

पृषन्ति—यजुर्वेदभाष्य २ । १६ के पदार्थ में पृषन्ति सिञ्चन्ति का प्रयोग उपलब्ध होता है । पृषु सेचने धातु भ्वादि (४६४) की है । अतः पर्षन्ति प्रयोग होना चाहिए ।

कृणु—यजुर्वेदभाष्य २ । २० के अन्वय में ग्रन्थकार ने कृणु प्रयोग किया है । कृ धातु के स्वादि में अपठित होने से यह प्रयोग असाधु है ।

समाधान—धातुपाठों में जो तत्तद् गणों में धातुएं पठित हैं, वे निदर्शनार्थ हैं, परिगणनार्थ नहीं, अर्थात् सभी गण आकृति गण हैं, यह पूर्व लिख चुके (पृष्ठ २८६, २८७)। अतः किसी गण में अपठित धातु का उस गण के अनुरूप प्रयोग दोषावह नहीं है । शतशः शिष्ट प्रयोगों में इस प्रकार का व्यत्यास देखा जाता है ।

रुध—धातु के दिवादि के रूप महाभारत में बहुधा उपलब्ध होते हैं । यथा—

ब्राह्मणं प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यति । विदुरनीति १ । ६० ।

इसी प्रकार विरुध्यति शान्ति० ७३ । ८, विरुध्यते शान्ति० १६८।१२; २४२ । १०, विरुध्यतु अनु० ६४ । ३१ इत्यादि ।[2]

हिसि—धातु चुरादि में पठित है । चुरादिगण में जितनी इदित् धातुएं हैं, उन सबसे पक्ष में शप् होता है । ऐसा समस्त वैयाकरणों का मत है । यथा—

इदित् पाठादनित्यणिजन्ताश्चुरादय इति ज्ञाप्यते । क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ २७६ ।

चिन्त स्मृत्यामिति सानुषङ्ग एव पठितव्ये इदित्पाठान्नलोपाभावार्थादस्य णिच् पाक्षिकः..............तेन चिन्तति चिन्ततः चिन्तिता इत्याद्यपि भवति । माधवीया धातुवृत्ति पृष्ठ ३७८ चौखम्बा संस्करण ।

---

१. मुद्रित पाठ 'विरुणद्धि, विरुन्ध्मः' ही है ।
२. तुलना करो पच का दैवादिक 'पच्यन्ति' प्रयोग, महाभारत उद्योग० १०६।१४॥

हृषन्तु पृषन्ति---प्रयोग तुदादि के आकृतिगण होने से अनायास उपपन्न होते हैं। गण के अन्त में जो वृत् पढ़ा है। वह सुचादि की समाप्ति के लिये है, ऐसा सभी धातुवृत्तिकारों का मत है।[1] अतः तुदादि में हृष और पृष का अन्तर्भाव जानना चाहिए।

कृणु—पूर्व नियमानुसार कृ का स्वादि में भी अन्तर्भाव जानना चाहिए। अथवा इसे मन्त्रपद का अनुषङ्गरूप मानना चाहिए।

वास्तविकता यह है कि धातुपाठ में धातुओं के दश विभागों द्वारा यह दर्शाया है कि धातु के आख्यातरूप दस प्रकार के होते हैं। जिन धातुओं का जिस जिस गण के अनुरूप प्रायिक प्रयोग उस समय की भाषा में उपलब्ध था, उन धातुओं को वैयाकरणों ने उस उस गण में पढ़ दिया। अत एव धातु-वृत्तिकार चुरादिगण के अन्त में पठित बहुलमेतन्निदर्शनम् (१० । ३२५) की व्याख्या में लिखते हैं, वर्धते हि धातुगणः। अतः उपर्युक्त सभी प्रयोग नितान्त असन्दिग्धरूपेण साधु हैं।

४—स्वार्थिक णिच् का अभाव तथा भाव

चुरादिगण की धातुओं से जो स्वार्थ में णिच् होता है, उसका व्यतिक्रम भी देखा जाता है। जो धातुएं चुरादि में पढ़ी हैं, उनसे नहीं भी होता और जो नहीं पढ़ी हैं उनसे भी हो जाता है। वैयाकरणों ने इसकी व्यवस्था इस प्रकार दर्शाई है—

(क) क्षीरस्वामी चिति स्मृत्याम् (१० । २) पर लिखता है—इदित् पाठाद् अनित्यण्यन्ताश्चुरादय इति ज्ञाप्यते। क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ २७६।

(ख) सायण अपनी धातुवृत्ति (पृष्ठ ३७८) में लिखता है—

इदित्पाठान्नलोपाभावार्थादस्य णिच् पाक्षिकः।

क्षीरस्वामी ने इदित् पाठ से सामान्य रूप से चौरादिक णिच् का अनित्यत्व स्वीकार किया है, सायण ने केवल इदित् धातुओं में णिच् का पाक्षिक अभाव माना है। हमारे विचार में क्षीरस्वामी का सामान्य ज्ञापक ठीक है। क्योंकि सामान्य ज्ञापन द्वारा प्रयोग क्षेत्र अधिक व्याप्त होता है। बहुगणवतुडति संख्या (१ । १ । २३) के भाष्य से भी यही ध्वनित होता है कि विशेषापेक्ष ज्ञापक की अपेक्षा सामान्यापेक्ष ज्ञापक वरिष्ठ होता है।

उक्त ज्ञापक के अनुसार चौरादिक हिसि हिंसायाम् (१० । २२०) धातु से णिज् का अभाव मानने पर यजुर्वेदभाष्य १ । ८ में प्रयुक्त हिंसामः प्रयोग सर्वथा साधु है।

---

२. वृत् सुचादयो वर्तिताः। क्षीर० पृष्ठ २५५।

(ग) बहुलमेतन्निदर्शनम् (१० । ३२९) की व्याख्या में क्षीरस्वामी लिखता है—

भूवादिनवगणोक्ताः स्वार्थे णिजन्ता अपि भवन्ति, चुरादिपाठस्तु निदर्शनार्थ इत्येके। रामो राज्यमकारयत् (रामा० युद्ध १२८ । १०५). वाहयति, वाचयति, भेदयति कृत्यम्, रञ्जयति वस्त्रम्, तापयति, घातयति। पृष्ठ ३२२।

इस वचन से स्पष्ट है कि धातुपाठ की सभी धातुओं से स्वार्थ में णिच् का प्रयोग हो सकता है।

५—ल्यप् आदेश का अभाव तथा प्रत्ययान्तर कल्पना

प्रापयित्वा—यजुर्वेदभाष्य १ । २४ के भावार्थ में प्रापयित्वा प्रयोग है। इसके विषय में वैयाकरणों का कहना है कि यहाँ समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७ । १ । ३७) नियम से ल्यप् होकर प्राप्य प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—रामायण महाभारत आदि प्राचीन वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जहाँ समास होने पर क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं देखा जाता और समास न होने पर भी क्त्वा के स्थान में ल्यप् का प्रयोग उपलब्ध होता है।

समास में ल्यप् का अभाव—यथा—

प्रत्यसित्वा प्रायश्चित्तं जुहुयुः। आश्वलायन।[1]

उत्सयित्वा—रामा० १ । १ । ६४ ॥ उपासित्वा—रामा० १।२।६६ ॥ विसर्जयित्वा—रामा० १ । ८ । २२ ॥ इत्यादि बहुत्र।

विना समास के ल्यप् का प्रयोग—यथा—

संध्यावधूं गृह्यकरेणभानुः। पाणिनीय जाम्बवतीविजय।[2]

आज्येनाक्षिणी आज्य।[3] आश्वलायन ?

अर्च्य तान् देवान् गतः। काशिका ७ । १ । ३८ में उद्धृत।

उष्य—रामा० १ । २७ । १ ॥ दृश्य—रामा० १ । ४८ । ११ ॥

काशिकाकार आदि वैयाकरण समास के विना ल्यप् के प्रयोग की उपपत्ति इस प्रकार दर्शाते हैं—

---

१. तन्त्रवार्तिक १ । ३ । ८, पृष्ठ २५६ (पूना संस्क०) पर उद्धृत।

२. नेमि साधुकृत रुद्रट की काव्यालङ्कार टीका में।

३. आज्येनाक्षिणी आज्य इति असमासेऽपि (ल्यप्) प्रयुक्तः। तन्त्रवार्तिक (१ । ३ । ८, पृष्ठ २५६ पूना० संस्क०)।

वाच्छन्दसीति नोक्तं, सर्वोपाधि व्यभिचारार्थम्। तेनाऽसमासेऽपि ल्यब्भवति। अर्च्य तान् देवान् गतः। ७।१।३८॥

अर्थात—[पूर्व सूत्र (७।१।३७) से समास में ल्यप् का विधान किया है] उसका यहाँ विकल्प विधान न करके क्त्वाऽपि ग्रहण सब उपाधियों के व्यभिचार के लिये है। इसलिए असमास में भी ल्यप् हो जाता है। यथा—अर्च्य तान् देवान् गतः।

वृत्तिकार ने अपि शब्द को सर्वोपधि-व्यभिचारार्थ अन्यत्र भी कई स्थानों में माना है। यथा—

अपि शब्दः सर्वोपधिव्यभिचारार्थः। काशिका ३।२।७५, १०१ इसी प्रकार अन्यत्र भी।

इस नियम के अनुसार जहां समास से अन्यत्र ल्यप् होता है, वहाँ छन्द से अन्यत्र भी समास में क्त्वा के स्थान में ल्यप् का अभाव समझना चाहिए। उससे रामायण महाभारत आदि के समास में क्त्वा के सब प्रयोग उपपन्न हो जाएंगे। इसी प्रकार यजुर्वेदभाष्य १।२४ में प्रयुक्त प्रापयित्वा, पञ्चमहायज्ञविधि के शन्नो देवी मन्त्र के व्याख्यान में प्रयुक्त प्रार्थयित्वा आदि प्रयोग साधु होंगे।

हमारी व्याख्या के अनुसार आदेश रूप से विहित ल्यप् स्वतन्त्र प्रत्यय है। उसका समास के विना अति स्वल्प प्रयोग उपलब्ध होने से आचार्य ने उसे आदेशरूप दिया है। प्रत्ययान्तर कल्पना में समास असमास उभयत्र उभय प्रत्ययों का प्रयोग हो सकता है। प्राचीन शिष्ट प्रयोग इसी के बोधक हैं।

नया विचार—उभयविध प्रयोगों पर विचार करने से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मूलतः धातुएं ही दो प्रकार की हैं। एक वे हैं, जिनमें सम्प्रति समझा जाने वाला उपसर्गांश धातु का अपना अवयव है और दूसरी वे हैं जिन में उपसर्गांश नहीं है। इसी अभिप्राय को प्रकट करनेवाले दो प्राचीन नियम वैयाकरणों द्वारा अभी तक सुरक्षित हैं। वे हैं—

पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन। परिभाषावृत्ति सीरदेव १३२॥

पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण। परि० सीर० १३१॥

अर्थात्—पहले धातु उपसर्ग से युक्त होती है, तत्पश्चात् कारक बोधक प्रत्ययों से। पहले धातु कारक बोधक प्रत्यय से युक्त होती है, पश्चात् उपसर्ग से।

साम्प्रतिक वैयाकरण इन परिभाषाओं की प्रयोगानुसार व्यवस्था मानते हैं। हम समझते हैं कि इन नियमों में अतिपूर्व काल की धातु की द्विविधता का संकेत है। पाणिनीय धातुपाठ में भी कतिपय सोपसर्ग धातु अद्ययावत सुरक्षित हैं। यथा—

संग्राम युद्धे (१०।३०८) (सम् + ग्राम) । निवास आच्छादने (१०।२७१) (नि + वास) । वीर विक्रान्तौ (१०।२८५) (वि + ईर) । व्यय गतौ (१।६२०॥१०।३१७) (वि + अय) । आदि-आदि ।

इन सभी को मूल धातु मानकर आज भी वैयाकरण लङ् आदि में अट् आगम उपसर्गांश से पूर्व करते हैं और क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश नहीं करते । यथा—

अट्—असंग्रामयत्, अनिवासयत्, अवीरयत्, अव्ययत्, अव्ययत्, अव्यययत् ।

क्त्वा—संग्रामयित्वा, निवासयित्वा, वीरयित्वा, व्ययित्वा, व्यययित्वा ।

इस प्रकार की दो धातुएं और दो स्वतन्त्र प्रत्यय होने पर उभयविध सहस्रों प्रयोग अनायास साधु हो जाते हैं ।

६—धातुस्थ अनुनासिक के लोप का अभाव

संतन्य—यजुर्वेदभाष्य २।१३ के अन्वय में पाठ है—एतमरिष्टं यज्ञद्वयं संतन्य……। यहाँ अष्टाध्यायी ६।४।३८ के वा ल्यपि नियम में वा पद व्यवस्थित विभाषा का बोधक होने से मकारान्त से अन्यत्र नित्य ही अनुनासिक का लोप होता है ।[1] अतः यहाँ संतत्य प्रयोग होना चाहिए ।

समाधान—हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार जहां विकल्प नहीं है, वहाँ भी अन्यत्र दृष्ट कार्य का अन्यत्र अतिदेश करने से सर्वत्र प्रायिक विकल्प सिद्ध होता है ।[2] उस अवस्था में साक्षात् पठित वा शब्द के विस्तृत क्षेत्र को व्यवस्थित विभाषा द्वारा संकुचित करना नितान्त अन्याय्य है । इसलिए सूत्र की यथास्थित व्याख्यानुसार नान्त धातुओं के अनुनासिक का लोप भी ल्यप् में विकल्प से ही होना चाहिए ।

अपि च, लोप आगम आदेश द्वारा प्रकृत्यन्तर कल्पना के सिद्धान्तानुसार वस्तुतः धातुएं ही दो प्रकार की हैं, एक नान्त, दूसरी तान्त । दोनों से ल्यप् में दो-दो स्वतन्त्र प्रयोग होंगे । अग्निचित् सोमसुत् आदि में तुगागम से द्योतित चित् सुत्[3]

---

१. व्यवस्थितविभाषा चेयम्, तेन मकारान्तानां विकल्पो भवति, अन्यत्र नित्यमेव लोपः । काशिका ६।४।३८॥

२. अत एव 'अनुदात्तोपदेशवनोति०' (६।४।३५) के नियमानुसार रम+क्तिन् (= रति) में प्राप्त अनुनासिक लोप का 'इह रन्तिः स्वाहा' (सं० वि० पृष्ठ १५२ द० ग्र०) गृह्यमन्त्र (छा० मं० ब्रा० १।३।१४) में अभाव देखा जाता है ।

३. तुलना करो वृत् (वृतु) वर्तने (१।५०४) 'वृ' से क्विप् में तुक् होने पर 'वृत्' रूप ही होता है ।

स्वतन्त्र धातुएं हैं। उन्हीं के ल्यप् में संचित्य प्रसुत्य रूप निष्पन्न होते हैं। इसी दृष्टि से वैयाकरणों के यहाँ एक नियम है—

क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति।[1]

इसी नियम के अनुसार ६।४।७७ से धातु से विहित इयङ् उवङ् नियौ नियः लुवौ लुवः में भी होते हैं।

शिशुपालवध १।६८ की वल्लभदेव की टीका में एक प्राचीन वचन उद्धृत है—

शत्रदन्त-क्विबन्तानां क्वसन्तानां तथैव च।
तृजन्तानां तु लिङ्गानां धातुत्वं नोपहन्यते॥

अर्थात्—शतृ-अद् (अच्), क्विप्, क्वसु, और तृच् प्रत्ययान्त लिङ्गों[2]=प्रातिपदिकों में धातुत्व का नाश नहीं होता। उनमें धातु-विहित कार्य क्वचित् हो जाते हैं।

यह मत बड़े काम का है। इसमें अति प्राचीनकाल की व्याकरण-प्रक्रिया का स्वरूप छिपा हुआ है। इस श्लोक की यदि वैज्ञानिक व्याख्या की जावे तो प्रतीत होगा कि मूल शब्द ही ऐसे थे जिनके एक ओर आख्यात प्रत्ययों में रूप चलते थे, तो दूसरी ओर नामिक प्रत्ययों में। उन्हीं का अति संकुचित रूप आज भी कण्ड्वादि के रूप में सुरक्षित है। कण्डू आदि से तिङन्त और सुबन्त दोनों प्रत्यय होते हैं। पाणिनीय धातुपाठ में भी ऐसी पचासों धातुएं सुरक्षित हैं, जो मूलतः धातु और नाम उभयरूप हैं। यथा—

पुष्प विकसने (४।१४) वृक्ष आवरणे (१।३८७), भू सत्तायाम् (१।१), घट चेष्टायाम् (१।८१०), कुमार क्रीडायाम् (१०।२६३), शूर वीर विक्रान्तौ (१०।२८५), व्यय गतौ (१।६२०) आदि आदि।

काशकृत्स्न के धातुपाठ में तो इस प्रकार की लगभग ३०० धातुएं पाणिनि-धातुपाठ से अधिक पठित हैं।

वार्तिककार का 'सर्वप्रतिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्यः" नियम भी उक्त तथ्य का ही संकेत करता है।

इतना ही नहीं, पाणिनि द्वारा सुरक्षित प्रातिपदिक संज्ञा अपनी अन्वर्थता[3] के द्वारा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति की सूचना देती है। तदनुसार

---

१. इसी नियम के अनुसार 'वाच्यति' 'स्रुच्यति' में क्यच् परे रहते ६।१।१५ से संप्रसारण की प्राप्ति होती है। उसे रोकने के लिये वैयाकरणों ने दूसरा नियम बनाया है—'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्य विज्ञास्यते'। द्र० काशिका ६।१।१५॥

२. काशकृत्स्न और कातन्त्र व्याकरण में लिङ्ग-शब्द से पाणिनीय प्रातिपदिकों का ग्रहण होता है।

३. पदं पदं प्रति इति प्रतिपदम्। प्रतिपदे भवं प्रातिपदिकम्; अर्थात् चारों प्रकार के प्रत्येक पद में वर्तमान।

मूलतः एक ही शब्द आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात रूप में परिणत हो जाता है। विस्तरभिया हम इस का संकेत मात्र ही करते हैं।

७—अस्थान में णिलोप

यजुर्वेद भाष्य में अनेक ऐसे पद प्रयुक्त हैं, जिनमें णेरनिटि (६।४।५१) के नियमानुसार णिच् प्रत्यय का लोप नहीं होना चाहिए, परन्तु णिच् का लोप किया गया है। यथा—

शिक्षित्वा—यजुर्वेदभाष्य १।१७ के अन्वय में। शिक्षयित्वा चाहिए।

शोधित्वा—यजुर्वेदभाष्य २।१ के भावार्थ में। शोधयित्वा चाहिए।

साधित्वा—यजुर्वेदभाष्य २।१६ के भावार्थ में। साधयित्वा चाहिए।

विभाजितारः—यजुर्वेदभाष्य १।१८ के पदार्थ में। विभाजयितारः चाहिए।

समाधान—पाणिनि का णिलोप का विधान और निषेध प्रायिक है। प्रायिक होने से जहाँ णिलोप विहित है, वहाँ क्वचित् णिलोप का अभाव देखा जाता है और जहाँ प्रतिषेध है वहाँ णिलोप देखा जाता है। महाभाष्यकार ने ७।४।६५ में लिखा है—

दर्धर्ति⋯⋯अनिपात्यम्, देवा अदुह्रवद् रुक् पर्णशुषिवत णिलुक् च भविष्यति।

अर्थात्—दर्धर्ति में 'पर्णशुष्'[1] के समान णि का लुक् हो जाएगा (पर्णों को जो सुखाने वाला वायु वह 'पर्णशुष्' कहाता है)।

यहाँ णिलुक् एक दिशा (=मार्ग) का निदर्शक है। ऐसे ही णि का लोप भी समझना चाहिये।

अन्य समाधान—शिक्षित्वा[2] और शोधित्वा में अन्तर्भावित ण्यर्थ की कल्पना से णिच् के विना भी यथार्थ प्रयोग उपपन्न हो सकता है। साधित्वा में आगे विक्रियमाण इड् अनिट् व्यवस्था के अनुसार अन्तर्भावित ण्यर्थक साध धातु से इडागम जानना चाहिए। विभाजितारः में चौरादिक भाज पृथक्कर्मणि (१०।२७२) से पूर्व प्रपञ्चित नियमानुसार स्वार्थ णिच् के अभाव में अन्तर्भावित हेत्वर्थ से तृच् में प्रयोग अनायास उपपन्न होता है।

---

१. पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—वान्ति पर्णशुषो वातास्ततः पर्णमुचोऽपरे। ततः पर्णरुहो वान्ति ततो देवः प्रवर्षति॥ द० उ० वृत्ति पृष्ठ ३१२ पर उद्धृत। इस में कुछ पाठ भेद भी है।

२. हस्तलेखों में 'शिक्षयित्वा' पाठ है।

८—अस्थान में इट् का आगम और अभाव

यजुर्वेदभाष्य में अनेक ऐसे प्रयोग हैं, जिनमें अनिट् धातुओं के प्रयोगों में इट् का आगम किया है, और सेट् धातुओं में इट् का आगम नहीं किया। यथा—

अनिट् धातुप्रयोगों में इडागम—आकर्षितः, प्रक्षेपितुम्, भजितुम्।

आकर्षितः—यजुर्वेदभाष्य १।२५ के भावार्थ में आकर्षितस्य, २।१ के पदार्थ में आकर्षितः, २।१६ के भावार्थ में सूर्याकर्षितं जलम्, तथा २।२० के भावार्थ के अन्त में आकर्षितम् का प्रयोग मिलता है। कृष विलेखने भ्वादि (७१७) और तुदादि (६) दोनों गणों में अनुदात्त पढ़ा है। अतः इस से इट् नहीं हो सकता।

प्रक्षेपितुम्—यजुर्वेदभाष्य २।६ के पदार्थ में यज्ञेऽग्नौ च प्रक्षेपितुं योग्येन घृतादिना पाठ है। क्षिप प्रेरणे दिवादि (१३) और तुदादि (५) दोनों में अनुदात्त पढ़ा है। अतः प्रक्षेप्तुम् प्रयोग होना चाहिए।

भजितुम्—यजुर्वेदभाष्य २।२० के पदार्थ में (यशोभगिन्यै)...भजितुं शीलं यस्याः' पाठ है। भज धातु अनिट् है। अतः 'भक्तुं' प्रयोग होना चाहिए।

सेट् धातुओं से इट् का अभाव—वेत्ता, सर्ववेत्रा।

यजुर्वेदभाष्य १।१६ के अन्वय में 'गुणानां च वेत्ताऽसि' तथा २।२१ के भावार्थ में सर्ववेत्रा प्रयोग है। इसी प्रकार ४०।८ में भी। विद् ज्ञाने (२।५६) सेट् धातु है, इसका तृच् में वेदिता, सर्ववेदित्रा प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—ऊपर अनिट् धातुओं से इट् आगम के और सेट् धातु से अनिट् रूप उदाहृत किये हैं। उनके विषय में यह जानना चाहिए कि सारा इट् अनिट् प्रकरण प्रायिक है। उसके अपवादभूत शतशः शिष्ट प्रयोग उपलब्ध होते हैं। अत एव वैयाकरणों ने भी एक नियम स्वीकार किया है—

आगमशास्त्रमनित्यम्। परिभाषेन्दुशेखर ६४।

अनित्यमागमशासनम्। परि० सीर० १०१।

इस नियम के अनुसार आगम शास्त्र के अनित्य होने से अनिट् से इट् का आगम और सेट् से इट् का अभाव, दोनों कार्य भले प्रकार उपपन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, लक्षणभेद से भी अनिट् को इडागम क्वचित् देखा जाता है।

अनिट् को इडागम—पाणिनि के स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते (७।२।३६) के नियमानुसार क्रम को आत्मनेपद में इट् नहीं होना चाहिए, परन्तु महाभारत शल्यपर्व ४।४६ का वचन है—

नातिक्रमिष्यते कृष्णो वचनं कौरवस्य तु।

यहाँ इट् के प्रतिषेध विषय में इडागम देखा जाता है।

पाणिनीय धातुपाठ में शक्लृ शक्तौ (५।१८) अनुदात्त पढ़ी है। इससे निष्ठा में इट् नहीं होना चाहिए, परन्तु पाणिनि से परवर्ती सौनाग आचार्य के मत में कर्म में इट् का आगम विकल्प से होता है—[१] शकितो घटः कर्तुम्, शक्तो वा।

इसी प्रकार असु क्षेपणे (४।१०३) उदित् होने से यस्य विभाषा (७।२।१५) नियम से निष्ठा में इट् का नित्य निषेध प्राप्त है, परन्तु सौनाग आचार्यों के मत में भाव में विकल्प से इट् का आगम होता है—असितमनेन, अस्तं वा।[२]

पत्लृ गतौ (१।५८०) धातु से तनिपतिदरिद्राणामुपसंख्यानम् (७।२।४६) वार्तिक से सन् में इट् का विकल्प विधान होने से यस्य विभाषा (७।२।१५) नियम से निष्ठा में इट् का आगम नहीं होना चाहिए, परन्तु स्वयं आचार्य पाणिनि ने द्वितीयाश्रितातीतपतित (२।१।२४) इत्यादि सूत्र में पतित में इडागम का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त प्रयोगों में जिस प्रकार इट् का निषेध होने पर भी इट् का आगम निषेध के प्रायिक होने से हो जाता है, उसी प्रकार आकर्षितः प्रक्षेपितुम् भजितुम् में भी इट् का आगम जानना चाहिए।

सेट् से इट् का अभाव—जिस प्रकार इट् निषेध में इडागम शिष्टप्रयोगों में उपलब्ध होता है, उसी प्रकार सेट् धातुओं से इट् का अभाव भी देखा जाता है। तथा कई प्रयोगों में लक्षणान्तर से इट् का अभाव स्वीकार किया जाता है। यथा—

श्वस प्राणने (२।६६) उदात्त पठित होने से सेट् है। परन्तु महाभारत वनपर्व २९९।८ में पाठ है—

ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया।

यहाँ इट् का अभाव प्रयुक्त है। काशिकाकार ने ७।२।१६ में चकार से आश्वस्त और वान्त पदों का संग्रह किया है[३]। टुवम उद्गिरणे (१।५८५) धातु भी सेट् है, परन्तु वान्त में इट् का आगम नहीं होता। क्षीरस्वामी ने अघृणः खलु वान्ताशी (क्षीरत० पृ० ११६) प्राचीन प्रयोग उद्धृत किया है।

---

१. सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन, अस्यतेर्भावे। काशिका ७।२।१७ में, तथा धातुवृत्ति, पृष्ठ ३०७ चौख० संस्क०।

२. इसी पृष्ठ पर टि० १ देखिये।

३. चकारोऽनुक्त समुच्चयार्थः—आश्वस्तः, वान्तः।

क्षीरस्वामी और सायण ने अपनी धातुवृत्तियों में काशकृत्स्न के मत में श्वस धातु से निष्ठा परे इट् का अभाव माना है।[1] काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका में तकारादि प्रत्यय मात्र में इट् का अभाव उदाहृत है। यथा—श्वस्तिः श्वस्तम् श्वस्तव्यम् (पृष्ठ १६१)।

विशेष—पाणिनि द्वारा इडागम का प्रतिषेध न होने से और काशकृत्स्न के मत में इट् का निषेध होने से वास्तविक वैज्ञानिक तत्त्व यह प्रकट होता है कि श्वस धातु के तकारादि प्रत्ययों में इट् का विकल्प जानना चाहिए। इसीलिए भगवान् कृष्णद्वैपायन ने वनपर्व २१८।८ में इट् रहित आश्वस्त का प्रयोग करके अगले २० वें श्लोक में—एवमाश्वसितैस्तु सेट् आश्वसित शब्द का निर्देश किया है।

इस मीमांसा से स्पष्ट है कि पाणिनि-प्रोक्त इट् का विधान और निषेध प्रायिक है। जिन धातुओं के प्रायः करके अनिट् प्रयोग व्यवहृत थे, उनको अनिट् पढ़ दिया और जिनके सेट् प्रयोग अधिक व्यवहृत थे, उनको सेट्। इसी प्रकार जिनके इट् अनिट दोनों के सामान्य रूप से प्रयोग मिलते थे, उन्हें वेट् स्वीकार किया।

सेट् विद धातु के तृच् प्रत्यय में इट् का बहुधा अभाव देखा जाता है। गीता ११।३८ के वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम वचन तथा 'यथा खरश्चन्दन-भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य' सुभाषित में इडागम विहीन वेत्ता पद प्रयुक्त है।

९—अप्रयोगार्ह क्रिया पद का प्रयोग

संस्कृत भाषा में अनेक ऐसे पद हैं जिनका प्रयोग वैयाकरणों में वर्जित माना गया है। उन्हीं में एक वचन्ति प्रयोग भी है। सभी धातुवृत्तिकार वच परिभाषणे (२।५७) धातु पर लिखते हैं—

वचन्तीति नेष्यतेऽनभिधानात्। क्षीरत० पृ० १८१।

सायण ने धातुवृत्ति में क्षीर के पूर्वोक्त मत को उद्धृत करके सम्मताकार और भोज का साक्ष्य भी उपस्थित किया है (द्र० पृष्ठ २५१) तत्पश्चात् आत्रेय के मत में एकवचन से अन्यत्र सर्वत्र (द्विवचनों और बहुवचनों में) प्रयोग का अभाव दर्शाया है।[2]

---

१. काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः। क्षीरत० पृष्ठ १८५, धातुवृत्ति पृष्ठ २६४।

२. आत्रेयस्तु एकवचनान्तान्युदाहृत्य अन्यत्रानभिधानमित्येके, झिमात्र एवानभिधानमिति केचित्। धातुवृत्ति पृ० २५८।

यजुर्वेदभाष्य २।१८ के पदार्थ के (वाचम्) वचन्ति वाचयन्ति वा सर्वा विद्या यया पाठ में अप्रयोगार्ह वचन्ति पद का प्रयोग किया है।

समाधान—जब शास्त्रकारों द्वारा साक्षात् शिष्ट प्रयोगों में भी व्यत्यास देखा जाता है, तब शास्त्रकारों द्वारा साक्षात् अनिर्दिष्ट विषय में प्रसिद्धि मात्र से उन उन प्रयोगों का अप्रयोगार्हत्व मानना दुःसाहस मात्र है। वचन्ति का प्रयोग नहीं होता, ऐसा किसी प्राचीन शास्त्रकार का मत नहीं है। इसके विपरीत वचन्ति के प्रयोग देखे जाते हैं। ऋग्वेद का भाष्यकार स्कन्दस्वामी ऋ० १।१४।८ के भाष्य में प्रवचन्ति=प्रकरोति का प्रयोग करता है।

लेट् प्रयोग—यजुर्वेदभाष्य १।१३ के भावार्थ में जलौषधिरसान् छिन्तः वाक्य में छिन्तः पद छिन्द्याताम् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा वाक्य से प्रतीत होता है। उक्त अर्थ में छिन्तः प्रयोग केवल लेट् में ही उपपन्न हो सकता है। ऐसा ही एक प्रयोग १।२२ के अन्वय में 'मा हिंसीत् नैव हिनस्ति' है। पूर्वापर के पाठ से तथा पदार्थ से 'हिनस्तु' अर्थ स्पष्ट है। यह प्रयोग भी इस अर्थ में लेट् में अट् आट् आगम के अभाव में उपपन्न हो सकता है, अन्यथा अर्थ सम्बद्ध नहीं होता। परन्तु लेट् छान्दस है। अतः उक्त प्रयोग चिन्त्य हैं यजुर्वेदभाष्य ७।८ के भावार्थ के अन्त में व्रश्मि प्रयोग उपलब्ध होता है। महाभाष्यकार ने ३।१।६ के भाष्य में वश धातु को छान्दस माना है।

समाधान—हम पूर्व सप्रमाण लिख चुके हैं कि कोई भी प्रयोग इसलिये भाषा में अप्रयोगार्ह नहीं हो सकता कि वह वैदिक है अर्थात् वैदिक ग्रन्थों में ही उसका प्रयोग मिलता है, लोक में प्रयोग नहीं मिलता। वश धातु को छान्दस मानने पर भी लोकभाषा में इसके प्रचुर प्रयोग देखे जाते हैं। वष्टि भागुरिरल्लोपम् वचन वैयाकरणों में प्रसिद्ध है। अब रहता है केवल लेट् लकार का प्रश्न। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों का इस दृष्टि से अनुशीलन किया जाए तो उनमें लेट् के प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होंगे।

इस प्रकार यजुर्वेद भाष्य में धातु सम्बन्धी अपशब्द समझे जाने वाले पदों की मीमांसा करके नाम सम्बन्धी पदों के साधुत्व की मीमांसा करते हैं।

१०—असिद्ध प्रातिपदिक का प्रयोग

यजुर्वेद भाष्य में यत्र तत्र ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से असिद्ध हैं। यथा—

आशी (ईकारान्त) मान्य (मान अर्थ में) एष्ट्रितव्यम्—यजुर्वेदभाष्य १।२३ के भावार्थ में 'आशीश्च वदति' प्रयोग किया है। यहाँ आशिषो वदति प्रयोग होना चाहिए। यजुर्वेदभाष्य २।१० के भावार्थ में मान अर्थ में मान्य शब्द

का प्रयोग है—सर्वस्य मान्यप्राप्तिहेतुत्वात् । २।११ के भावार्थ में मान्यकारिणः, तथा संवत् १९३५ श्रावण बदी ११ को अल्काट के नाम लिखे संस्कृत पत्र में मातरं मान्यकर्त्री[1] और संवत् १९४० भाद्रवदी १० के पत्र में मानपत्र के लिए मान्यपत्र शब्द प्रयुक्त हैं[2] । मान अर्थ में मान्य शब्द का प्रयोग असाधु है । यजुर्वेदभाष्य १।५ के भावार्थ में एष्टितव्यम् शब्द का प्रयोग मिलता है । यहां एषितव्यम् प्रयोग होना चाहिए ।

समाधान—हम आरम्भ में दर्शा चुके हैं कि व्याकरणशास्त्र की वैज्ञानिक व्याख्यानुसार लोप आगम आदेश द्वारा जैसे लोकभाषा से उत्सन्न धातुओं का परिज्ञापन होता है, उसी प्रकार लोकभाषा से उत्सन्न शतशः प्रातिपदिकों का भी ज्ञापन होता है । उदाहरण के लिये मनुष् कनीना राज (अकारान्त) अह (अकारान्त) शब्दों का ज्ञापन दर्शा चुके । उस प्रकरण को ध्यान में रखकर अगला समस्त प्रकरण पढ़ना चाहिए ।

आशी—दीर्घ इकारान्त स्वतन्त्र शब्द है । इसका अर्थ भी 'आशिष्' ही है । अमरकोश (३ । ३ । २२८) की टीका में भानुजी दीक्षित ने लिखा है—

केचित्तु ईकारान्तम् आशीशब्दमाहुः । उदाहरन्ति च—'आशीमिव कलामिन्दोः' इति ।

इस उल्लेख तथा उद्धाहरण से स्पष्ट है कि यजुर्वेदभाष्य में प्रयुक्त दीर्घ इकारान्त आशी शब्द साधु है । उसको असाधु मानना अथवा कहना अपना अज्ञान प्रकट करना है ।

हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार 'आशिष्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में जो दीर्घत्व (आशीः) होता है, वह लक्ष्मीः के समान दीर्घ इकारान्त 'आशीः' पद का ज्ञापक है ।

मान्य—मानार्ह के अर्थ में मान शब्द से यत् प्रत्यय होकर मान्य शब्द सिद्ध होता है, यह ठीक है । परन्तु मन ज्ञाने से जैसे भाव में 'घञ्' होकर मननं मानः प्रयोग बनता है, उसी प्रकार ऋहलोर्ण्यत् (३ । १ । १२४ ।) से भाव अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होकर मननं मान्यम् प्रयोग भी अञ्जसा उपपन्न होता है । इसी मानार्थक संस्कृत मान्य शब्द का मान अर्थ में प्रयोग राजस्थान, गुजरात और सौराष्ट्र की भाषाओं में अद्ययावत् होता है । अतः मानार्थक मान्य शब्द को असाधु समझना भूल है ।

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ६७, पं० २२ (द्वि० संस्क०) ।
२. वही, पृष्ठ ४५५, पं० १० ।

एष्टितव्यम्—यह पद इष्ट प्रातिपदिक से सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्यः (३ । १ । ११) वार्तिक से क्विप्, तत्पश्चात् धातु संज्ञा होकर तव्य प्रत्यय में उपपन्न होगा। इसका अर्थ होगा—

आ समन्ताद् इष्ट इवाचरितव्यम्=एष्टितव्यम्।

व्याकरण की इस प्रक्रिया के अनुसार एष्टितव्यम् प्रयोग सर्वथा साधु है। अर्थ भी प्रकरण में संगत हो जाता है।[1]

११—असिद्ध विभक्तिरूप

यजुर्वेदभाष्य में अनेक प्रातिपदिकों से ऐसी विभक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो व्याकरण द्वारा उपपन्न नहीं होतीं। यथा—

अध्यात्मनि, यथायोग्यान्, प्रतिवस्तुषु, प्रतिजनः—

यजुर्वेदभाष्य १।२० के भावार्थ में अध्यात्मनि प्रयोग है। अव्ययीभाव समास होने से नाव्ययीभावादतोम् त्वपञ्चम्याः (२ । ४ । ८३) के नियम से यथायोग्यम् प्रयोग साधु होता है। यजु० भाष्य १ । ३० । तथा २ । १७ के भावार्थ में प्रतिवस्तुषु पाठ उपलब्ध होता है। यहाँ भी अव्ययीभाव की अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुपः (२ । ४ । ८२) से सुप् का लोप होकर प्रतिवस्तु प्रयोग साधु होता है। यजुर्वेदभाष्य १ । २२ के प्रथम अन्वय में प्रतिजनस्त्वम् प्रयोग मिलता है। यहाँ भी नाव्ययीभावात् (२ । ४ । ८३) के नियम से प्रतिजनम् प्रयोग साधु है।

समाधान—अब हम उपर्युक्त असाधु दर्शाए गये शब्दों पर विचार करते हैं—

अध्यात्मनि—हम पूर्व पृष्ठ २७६–२८१ पर राजाहस्सखिभ्यष्टच् (५।४। ९१) सूत्र के विचार प्रसङ्ग में सोपपत्तिक वर्णन कर चुके हैं कि विभाषा समासान्तो भवन्ति (महा० ६ । २। १६७) नियम से समासान्त कार्य विकल्प से होते हैं। तदनुसार यहाँ भी अनश्च (५ । ४ । १०८) से प्राप्त टच् का अभाव जानना चाहिये। टच् का अभाव होने पर सप्तम्येकवचन को जो लुक् प्राप्त होता है, उसका प्रतिविधान क्वचित् प्रवृत्ति, क्वचित् अप्रवृत्ति, क्वचित् विभाषा, क्वचित् अन्यत् (प्रकरण बहिर्भूतकार्य,) कार्यों के करने में समर्थ बहुल पद के[2] ग्रहण (२ । ४ । ८४) से करना चाहिए।

---

१. श्री आचार्यवर पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने अपने विवरण में इसे क्लिष्ट कल्पना मानकर सीधा 'एषितव्यम्' संशोधन दर्शाया है।

२. क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति। व्याकरण ग्रन्थों में प्रायः स्मृत वचन।

४०

हमारे विचार में तृतीया सप्तम्योर्बहुलम् (२। ४। ८४) में अतः अम् पदों की अनुवृत्ति नहीं लानी चाहिये। अर्थ करना चाहिए—

अव्ययीभावाद् यदुक्तं तत् तृतीयासप्तम्योर्बहुलं भवति। बहुलग्रहणात् तृतीयासप्तमीभ्यामन्यत्रापि।

अर्थात्—अव्ययीभाव से तृतीया और सप्तमी विभक्ति को जो कुछ कार्य (अम्भाव-विभक्ति का लुक्) कहा है वह बहुल करके होता है, कहीं होता है, कहीं नहीं होता तथा बहुलग्रहणसामर्थ्यात् तृतीया और सप्तमी से भिन्न विभक्तियों को भी।

इस व्यापक अर्थ से जहाँ अनेक असाधु समझे जाने वाले आर्ष प्रयोगों का साधुत्व व्यवस्थापित होगा, वहाँ महाभाष्यकार के यथाप्राप्तश्चेक् श्रूयेत[1] (१।१।२६) में 'यथाप्राप्तः' प्रयोग का साधुत्व भी व्यवस्थापित होगा। इसी प्रकार 'अध्यात्मनि' प्रयोग का साधुत्व भी जानना चाहिए।

यथायोग्यान्—इसका साधुत्व भी पूर्व 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' की उपरि निर्दिष्ट व्याख्या तथा 'यथाप्राप्तश्चेक् श्रूयेत' महाभाष्यकार के प्रयोग के अनुसार जानना चाहिए। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य सम्बन्धी विज्ञापन में प्रयुक्त यथाशक्त्या सहायः[2] कार्यः (द्र० ऋ० द० पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३४ पं० २३ द्वि० सं०) प्रयोग को भी साधु समझना चाहिए।

प्रतिवस्तुषु—इसका साधुत्व भी यथायोग्यान्, यथाप्राप्तः प्रयोगों के समान असन्दिग्ध है।

प्रतिजनः—इसका साधुत्व भी यथायोग्यान् और महाभाष्यकार के यथा-प्राप्तः प्रयोगों के अनुसार जानना चाहिये।

विशेष—'अव्ययीभाव' अन्वर्थ संज्ञा है। तदनुसार इसका अर्थ है—अनव्ययमव्ययं भवतीत्यव्ययीभावः। अर्थात्—जो अव्यय न हो, वह अव्यय होता है। अभूततद्भाव में विहित च्विप्रत्यय उत्तर अवस्था के बाहुल्य मात्र का प्रतिपादन करता है, पूर्व अवस्था का निषेध नहीं करता। शुक्ली भवति वस्त्रम् का अर्थ इतना ही है कि जो वस्त्र पहले श्वेत नहीं था, किसी अन्य रंग

१. तुलना करो—काशिका ३।२।१३५ में प्रयुक्त 'यथाप्राप्तस्य' प्रयोग। काशिका के व्याख्यान में हरदत्त ने लिखा है—'यथा येन प्रकारेण प्राप्तं प्राप्तिर्यस्येति बहुव्रीहिः, अव्ययीभावे त्वम्भावः स्यात्'। यह सब लक्षणैकचक्षु वैयाकरणों की क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

२. 'सहायः' का साधुत्व प्रतिपादन आगे किया जायगा।

का था, वह शुक्ल (प्राय) हो गया। पूर्व रंग का कुछ भी अंश विद्यमान नहीं रहा, इस बात को 'च्वि' प्रत्यय नहीं कहता। अतः अव्ययीभाव समास के अव्यय हो जाने पर भी उस में अनव्ययांश अवशिष्ट रहता है और उसी को मानकर दूसरे कार्य भी हो जाते हैं (जैसे स्थानिवत् भाव होने पर स्वाश्रय कार्य भी होते हैं)। इसलिए अव्ययों से प्रतिषिद्ध पराङ्गवद्भाव अकच् मुम् और च्वि परे ईत्व कार्य अव्ययीभाव से देखे जाते हैं (द्र० महाभाष्य १।१।४)।

१२—अन्य विभक्ति के स्थान में अन्य विभक्ति का प्रयोग।

यजुर्वेदभाष्य में क्वचित् विभक्ति व्यत्यास भी देखा जाता है। यथा—

ओषधिं सेविकाः—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य १। १२ के पदार्थ में उपलब्ध होता है। यहाँ कर्तृकर्मणोः कृति (२। ३। ६५) नियम से 'ओषधेः सेविकाः' प्रयोग होना चाहिए।

मनुष्येभ्यः इदमुपदिशति—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य २। २ के भावार्थ में उपलब्ध होता है। अकथितं च (१। ४। ५१) सूत्र के भाष्य में पठित दुहि याचि धातुएं परिगणित नहीं हैं, अपितु उनके द्वारा उन-उन अर्थों का निर्देश किया है, ऐसा वैयाकरणों का सिद्धान्त है।[1] इसलिए ब्रूञ् के अर्थ में उपदिश का अन्तर्भाव होने से पुत्रं धर्मं ब्रूते के समान मनुष्यान् इदमुपदिशति प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—कारक के लिए प्रामाणिक आचार्यों का कथन है कि कारकत्व वक्ता की विवक्षा के आधीन होता है। इसलिए वक्ता जिस कारक की विवक्षा से प्रयोग करना चाहता है, वही वही विभक्ति होती है। अकथितं च (१।४।५१) सूत्र पर ही महाभाष्यकार ने लिखा है—

कारकं चेद् विजानीयाद् यां यां मन्येत सा भवेत्। कारकं चेद् विजानीयाद् यां यां प्राप्नोति सा सा कर्त्तव्या। दुह्यते गोः पयः, याच्यते पौरवात् कम्बलः।

अर्थात्—[कारकत्व के वक्ता के आधीन होने से] यदि वक्ता कारक की विवक्षा करता है, तो जो जो विभक्ति प्राप्त होती है, वह करनी चाहिए। यथा—दुह्यतः गोः पयः, याच्यते पौरवात् कम्बलः में गौ और पौरव से द्वितीया न होकर अपादान विवक्षा में पञ्चमी विभक्ति होती है।

---

१. इसलिए वैयाकरण आपाततः समानार्थक याच और भिक्ष के अर्थों में भी सूक्ष्म भेद दर्शाते हैं। द्रष्ट० १। ४। ५१ का न्यास तथा पदमञ्जरी ग्रन्थ।

इस नियम के अनुसार उपदिश को व्रज् धातु के अर्थ के अन्तर्गत मान लेने पर भी सम्प्रदान की विवक्षा में चतुर्थी हो जाएगी। अतः मनुष्येभ्यः प्रयोग में कोई अशुद्धि नहीं है।

ओषधिं सेविका में भी यही स्थिति है। वर्तमान वैयाकरणों के मतानुसार कर्तृकर्मणोः कृति में शेष की अनुवृत्ति नहीं आती। परन्तु हमारा मत है कि शेष की अनुवृत्ति आती है[1]। अतः कर्त्ता और कर्म के शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठी होगी, अविवक्षा में द्वितीयादि हो जाएगी। अत एव ग्रामं गन्ता ग्रामाय गन्ता ग्रामस्य गन्ता तीनों प्रयोग उपपन्न होते हैं।[2] अपि च, यदि हमारी व्याख्या न मानी जाए तो पाणिनि का अपना तद् अर्हम् (५।१।११७) प्रयोग भी चिन्त्य ही होगा, वहाँ भी २।२।६५ नियम से तस्य अर्हम् प्रयोग होना चाहिए। यदि हमारी व्याख्या स्वीकार न की जाए तब भी तदर्हम् निर्देश से कर्तृकर्मणोः कृति का अनित्यत्व तो मानना ही होगा।[3] उभयथा इष्टसिद्धि हो जाती है।

१३—समान वाक्य में विभक्ति भेद

वैयाकरणों का मत है कि किसी अर्थ में अथवा किसी उपपद को निमित्त मानकर एक से अधिक विभक्तियों का विधान किया गया हो, तो भी समान वाक्य में उन विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग साधु नहीं होता। महाभाष्यकार ने कहा है—

एकस्याकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति। तद्यथा गोषु स्वामी अश्वेषु च। ३।१।४०॥

अर्थात् एक आकृति से प्रारब्ध प्रयोग दूसरी और तीसरी आकृति से नहीं होता। यथा—गवां स्वामी अश्वेषु च।

स्वामी शब्द के योग में स्वामीश्वराधिपतिदायाद० (२।३।३६) से षष्ठी और सप्तमी दोनों का विधान होने पर भी गवां स्वामी अश्वेषु च प्रयोग साधु नहीं होता। गवां स्वामी अश्वानां च अथवा गोषु स्वामी अश्वेषु च ही प्रयोग साधु है।

यजुर्वेदभाष्य में समानवाक्य में विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग मिलता है। यथा—

---

१. काशिकाकार ने 'शेष इति निवृत्तं पुनः कर्मग्रहणात्' हेतु दिया है यह चिन्त्य है। कर्म की अनुवृत्ति २।३।६१ तक ही है। आगे उसका सम्बन्ध ही नहीं होता। आगे चतुर्थ्यर्थ, करण और अधिकरण में षष्ठी का विधान है।

२. द्रष्टव्य हमारे द्वारा प्रकाशित भागवृत्तिसंकलनम् २।३।१२॥

३. द्रष्टव्य २।३।६५ की दुर्घटवृत्ति।

अग्नेरूर्ध्वगमनशीलेन सर्वपदार्थच्छेदकत्वाच्च—यह पाठ यजुर्वेदभाष्य २ । ७ के भावार्थ में प्रयुक्त है । इसी प्रकार अन्यत्र भी—

तस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन सर्वत्राभिव्यापकत्वादिति—यजुर्वेद ३ । २५ भावार्थ में ।

'**सर्वज्ञत्वेन.........श्रोतृत्वेन सर्वाधारकत्वेनान्तर्यामितया......... शोधकत्वेन सर्वस्य मित्रत्वाच्च**—ऋग्भाष्य १ । १० । ६ भावार्थ ।

स्वस्ति श्रेष्ठोपमायोग्यस्य गङ्गादत्तशर्मणे—ऋ० द० पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४, पंक्ति ३, द्वि० सं० ।

इन चार उदाहरणों में से प्रथम तीन में **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२ । ३ । २५) से हेतु में विहित तृतीया और पञ्चमी दोनों का समान वाक्य में प्रयोग किया है । चतुर्थ वाक्य में कुशलार्थवाची स्वस्ति के योग में **चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः तथा आयुष्यादीनां पर्याय-ग्रहणं कर्त्तव्यम्** (२ । ३ । ७३ सू० वा०) से विहित षष्ठी और चतुर्थी का एक साथ प्रयोग किया है । वैयाकरणों के उक्त सिद्धान्त के अनुसार ऐसे प्रयोग चिन्त्य हैं ।

समाधान—महाभाष्यकार का जो मत ऊपर लिखा गया है, वह एकान्त नहीं है, प्रायिक है । प्राचीन ग्रन्थों में समानवाक्य में उक्त प्रकार के विभिन्न विभक्तियों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं । यथा—

१—शतपथ ब्राह्मण का पाठ है—**अनस एव यजूंषि सन्ति, न कौष्ठस्य, न कुम्भ्यै** । १ । १ । २ । ७ ॥

२—तैत्तिरीय संहिता का वचन है—**धेन्वै वा एतद् रेतो यदाज्यम्, अनुडुहस्तण्डुलाः** । २ । २ । ६ ॥

३—तैत्तिरीय संहिता का दूसरा वचन है—**इदमहममुं भ्रातृव्यमाभ्यो दिग्भ्योऽस्यै दिवोऽस्मादन्तरिक्षात्**......। १ । ६ । ६ ॥

इन उदाहरणों में प्रथम दो में **षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या** (२ । ३ । ६२) वार्त्तिक से विहित चतुर्थी और पक्ष में यथाप्राप्त षष्ठी दोनों का समान वाक्य में ठीक उसी प्रकार प्रयोग हुआ है (कौष्ठस्य-कुम्भ्यै, धेन्वै-अनुडुहः) जैसे प्रयोग का भाष्यकार ने प्रतिषेध किया है । तृतीय वाक्य में और भी अधिक वैशिष्ट्य है, उसमें अस्यै दिवः विशेषण विशेष्य में भी विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो साम्प्रतिक वैयाकरणों को सर्वथा असह्य है ।

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में समानवाक्य में विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग दोषावह नहीं माना जाता था । इतना ही नहीं, पाणिनि ने इसके

प्रतिषेध के लिए कोई साक्षात् वचन नहीं पढ़ा है। अतः केवल भाष्यकार के स्वकाल में प्रचलित प्रसिद्धि के अनुसार, अथवा उनके प्रायिक नियम के आधार पर समानवाक्य में विभिन्न विभक्तियों के प्रयोगों को चिन्त्य कहना, स्वयं ही चिन्त्य है। आधुनिक वैयाकरण तो यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम् जैसे काल्पनिक नियम घड़कर प्राचीन वैयाकरणों द्वारा साक्षात् शिष्ट प्रयोगों को भी असाधु कहने से नहीं चूकते।[1]

१४—लिङ्गभेद

यजुर्वेदभाष्य में कतिपय ऐसे पद प्रयुक्त हैं, जिनका वास्तविक लिङ्ग कुछ और ही है और वेदभाष्य में अन्य लिङ्ग में उनका प्रयोग किया है। यथा—

अहोरात्राणि, आकाशम्, बृहच्चासौ ग्रावा च, एतदर्थौ, प्रतिपादितः (भावे)।

अहोरात्राणि—यजुर्वेदभाष्य २। २७ के पदार्थ में आसमन्ताद्वर्तन्ते अहोरात्राणि यस्मिन् पाठ है। अष्टाध्यायी के रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९) नियम के अनुसार अहोरात्राः प्रयोग साधु होता है।

आकाशम्—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य ३२। ५ में प्रयुक्त है। घञ् प्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग होते हैं। अतः आकाशः प्रयोग साधु है।

बृहच्चासौ ग्रावा च—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य १। १५ के बृहद्ग्रावा के अर्थ में लिखा है। बृहत् शब्द में उणादि २। ८४ के अनुसार शतृवद् अतिदेश से पुल्लिंग में नुम् होकर बृहंश्चासौ ग्रावा च प्रयोग होना चाहिए।

एतदर्थौ—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य १। १३ के भावार्थ में उपलब्ध होता है। यहाँ एतदर्थं प्रयोग होना चाहिए।

प्रतिपादितः (भावे)—यह प्रयोग यजुर्वेदभाष्य २। ११ के भावार्थ में उपलब्ध होता है। यहाँ 'प्रतिपादितम्' पाठ होना चाहिए।

समाधान—ऊपर लिङ्ग सम्बन्धी जो दोष बताए गए हैं, वे भाषा तथा व्याकरण के रहस्य को यथार्थरूप में न जानने के कारण प्रतीत होते हैं। वैयाकरणों का मत है—

---

१. द्र० भट्टोजिदीक्षित विरचित शब्दकौस्तुभ १। १। २७। यहां पाणिनि से पूर्ववर्ती चाक्रवर्मण आचार्य के मत से 'द्वय' की सर्वनामसंज्ञता को स्वीकार करके भी 'यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' के अनुसार असाधु कहा है। धन्य है ऐसे वैयाकरणों को जो स्वयं पाणिनि के द्वारा आदृत आचार्य के नियम को भी असाधु कहने में नहीं हिचकिचाते!

लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य ।[1]

अर्थात्—लिङ्ग शासन करने योग्य नहीं है (उसका शासन अशक्य है) लिङ्ग लोकव्यवहार के आश्रित है।

सम्प्रति लोक में संस्कृतभाषा प्रचलित नहीं, अतः हम लोक से निर्णय करने में असमर्थ हैं, व्याकरणशास्त्र और लिङ्गानुशासन ही प्रधान आश्रय है। हाँ, संस्कृत भाषा में लिखित जो प्राचीन वाङ्मय है, वह लोक की कमी को पूरा करता है। प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में जो विभिन्न प्रयोग मिलते हैं, उनकी शास्त्र से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि लिङ्गानुशासन प्रायिक है।

हम कतिपय ऐसे प्रयोग उपस्थित करते हैं, जिनसे हमारे कथन की पुष्टि होती है—

अनुमानः—महाभाष्य २ । १ । १,	अनुमानम् के स्थान में।
सम्बन्धम्—महाभाष्य १ । १ । १.	सम्बन्धः ,, ,, ।
रज्जुना—अर्थशास्त्र ४ । ७,	रज्ज्वा ,, ,, ।
तर्कया—महा० शान्ति० ३३४ । ५,	तर्केण ,, ,, ।
चर्चः—योगभाष्य ४ । ८,	चर्चा ,, ,, ।

इसी प्रकार 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' उपनिषद् वाक्य में घञन्त आनन्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है।[2]

अब हम पूर्व निर्दिष्ट प्रयोगों के बारे में विचार करते हैं—

अहोरात्राणि—रात्राह्णाहाः पुंसि (२ । ४ । २९) यह नियम प्रायिक है। इस सूत्र द्वारा पुंल्लिङ्ग प्रतिपादित शब्द वामन के मत में नपुंसक लिङ्ग हैं। अतः हेमचन्द्र लिखता है—

पञ्चरात्रः पञ्चरात्रम्, षड्रात्रः षड्रात्रम्, सप्तरात्रः सप्तरात्रम्। पुंस्त्वे रात्राह्णौ इति सूत्रम्, षण्ढे वामनः।……अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः अहोरात्रम्। पुंसि हर्षः, क्लीबे वामनः। हैम लिङ्गा० पुन्नपुंसक, कारिका ७ का विवरण, पृष्ठ ११७।

अर्थात्—पञ्चरात्र आदि शब्दों के पुंल्लिङ्गत्व में रात्राह्णौ सूत्र प्रमाण है, नपुंसकत्व में वामन।……अहन् और रात्रि का समाहार द्वन्द्व होने पर अहोरात्रः अहोरात्रम् दोनों प्रयोग होते हैं। पुंस्त्व में हर्ष[वर्धन] और नपुंसकत्व में वामन प्रमाण है।

---

१. महाभाष्य में बहुधा पठित वचन।

२. टीकाकारों ने इस आपत्ति से घबड़ाकर मत्वर्थीय अच् प्रत्यय की कल्पना की है, वह प्रसंगविपरीत होने से त्याज्य है।

इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि पाणिनीय लिङ्गानुशासन विहित लिङ्ग ही एकमात्र प्रमाण नहीं है। अन्य तन्त्रों से भी लिङ्गपरिज्ञान में साहाय्य लेना चाहिए। लिङ्ग विषय में अतिशय भिन्नता होने से ही लिङ्गानुशासन का प्रायिकत्व अथवा अशिष्यत्व माना जाता है।

इतना ही नहीं, अहोरात्राणि प्रयोग ऋग्वेद १० । १६० । २ में प्रयुक्त है। छान्दस प्रयोग प्रमाण नहीं हो सकता, यह बात भी अनेकान्त है। हर्षवर्धनप्रोक्त लिङ्गानुशासन की व्याख्या करता हुआ पृथिवीश्वर लिखता है—

क्रतौ धर्मंक्रतौ यज्ञे तत्साधने वर्तमानं धर्मं नपुंसकम्। यथा—तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० १० । ६० । १६)। कारिका ३७ की व्याख्या।

अर्थ—क्रतु=यज्ञ और उसके साधन अर्थ में वर्तमान धर्म शब्द नपुंसक होता है। जैसे—तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् मन्त्र में।

हरदत्त धातुपाठ में अपठित क्षद धातु के आत्मनेपदित्व के निर्णय के लिए ब्राह्मणग्रन्थ को ही प्रमाणरूप से उपस्थित करता है। वह लिखता है—

क्षद्......आत्मनेपदी चायम्, उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते (१ । १५) इति बह्वृचब्राह्मणे प्रयोगात्। पदमञ्जरी ३ । २ । १३५॥

अर्थात्—ऐतरेय ब्राह्मण (१ । १५) में क्षदन्ते प्रयोग होने से क्षद आत्मनेपदी है।[1]

जिन्हें इतने से ही संतोष न हो वे वाल्मीकिप्रोक्त रामायण अयोध्या काण्ड १०६ । २० का पाठ देखें—अहोरात्राणि गच्छन्ति। यहां स्पष्टलौकिक भाषा में भी नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग उपलब्ध होता है।

आकाशम्—आकाश घञ् प्रत्ययान्त होने से पुंल्लिङ्ग माना जाता है। परन्तु यह 'सम्बन्ध' शब्द के समान नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है। महाभारत आश्व० २० । २४ का पाठ है—

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।

यहां 'आकाशम्' स्पष्ट नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त है।

बृहच्चासौ ग्रावा च—बृहत् रूप नपुंसक का समझकर उक्त दोष दर्शाया गया है। वस्तुतः बृहत् शब्द दो प्रकार का है, एक औणादिक (२ । ८४) जिसमें शतृवत् अतिदेश से नुम् और स्त्रीलिङ्ग में उगितश्च (४ । १ । ६) से ङीप् प्रत्यय होता है। दूसरा बाहुलक से शतृवत् अभाव वाला। इसी प्रकार 'महत्'

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण के इसी प्रकरण के 'क्षदन्तम्' 'क्षद' से शतृ भी देखा जाता है। अतः, हरदत्त का कथन प्रौढिवाद मात्र है।

शब्द भी दो प्रकार का है। बृहत् और महत् के दो प्रकार के होने में निम्न प्रमाण है—

यदि शतृवद् अतिदिष्ट ही बृहत्-महत् शब्द हों, तो उगितश्च से ङीप् हो ही जाएगा, पुनः गौरादि गण में बृहत् महत् का पाठ व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापन करता है कि बृहत् महत् ऐसे स्वतन्त्र शब्द भी हैं, जिनमें शतृवदतिदेश नहीं होता। इन्हीं बृहत् महत् के स्त्रीलिङ्ग में गौरादि से ङीप् होकर बृहती महती प्रयोग बनते हैं। यद्यपि शतृवत् अतिदेश वाले शब्दों में भी षष्ठ्यर्थ में 'वति' होने से शप् के अभाव में नुम नहीं होगा और स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय से बृहती महती शब्द ही बनेंगे, पुनरपि ङीप् के अनुदात्त होने से और शतृवद् देश के (बृहन् बृहन्तौ) नुम निमित्तक होने से शतुरनुमो नद्यजादी (६।१।१७३) से ङीप् को उदात्तत्व प्राप्त नहीं था, उसके विधान के लिए बृहन्महतोरुपसंख्यानम् (६ । १ । १७३) वार्तिक है। कई लोग इस सूक्ष्म तत्त्व को न समझकर शतृवद् अतिदेश और उदात्तविधायक वार्तिक को देखकर गौरादि पाठ को प्रक्षिप्त कहते हैं,[1] वे भूल करते हैं। यह भी इस मीमांसा से सिद्ध है।

एतदर्थौ—यह पद अग्नि और वायु का विशेषण है। इसका अर्थ है—एतत्प्रयोजनौ। अतः यहां विशेष्यवत् लिङ्ग विभक्ति युक्त है।

प्रतिपादितः (भावे)—प्रतिपादितः प्रयोग भाव में नहीं हैं, यहाँ कर्म में प्रत्यय है—कार्य इत्यर्थः प्रतिपादितः। यहां अर्थ-अभिप्राय आदि योग्य साकांक्षपद अध्याहार्य है, यह जानना चाहिए।

इसी प्रकार ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १३१ पं० १७ में स्थानभृत्यप्रबन्धं च में प्रबन्ध शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है। उसका साधुत्व महाभाष्यकार के (१ । १ । १) के संबन्धमनुवर्तिष्यते प्रयोग के अनुसार जानना चाहिए।

१५—अस्थान में समासान्त आदि कार्य तथा उनका अभाव

यजुर्वेदभाष्य में समास के अनेक ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनमें समास संबन्धी कार्य अस्थान में देखे जाते हैं अथवा उनका अभाव मिलता है। यथा—

सुगन्धि—यजुर्वेदभाष्य २ । २२ के पदार्थ में सुगन्ध्यादिगणयुक्तेन और २ । २५ के भावार्थ में सुगन्ध्यादिगुणयुक्तानि में सुगन्धि शब्द का प्रयोग सुगन्ध अर्थ में किया है (यह प्रयोग ग्रन्थकार द्वारा अनेक स्थानों में

---

१. महाभाष्य टीकाकार कैयट आदि।

व्यवहृत है)। गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः (५ । ४ । १३५) के नियम से अच्छे गन्धवाले द्रव्य के लिए सुगन्धि शब्द का व्यवहार होता है। अतः गुणवाचक सुगन्धि शब्द में इकार का प्रयोग चिन्त्य है।

कर्त्ताकारयितारौ—यजुर्वेदभाष्य १ । ६ के पदार्थ में कर्त्ताकारयितारौ ६ । ११ के अन्वय में हे यज्ञकर्ताकारयितारौ तथा ३ । १५ के भावार्थ में मातापित्राचार्याणाम् का प्रयोग उपलब्ध होता है। आनङ् ऋतो द्वन्द्वे (६ । ३ । २५) इस आनङ् विधायक सूत्र में 'विद्यायोनिसंबन्ध' की अनुवृत्ति है। विद्यायोनिसंबन्ध के अभाव के कारण कर्ताकारयितारौ में आनङ् का प्रयोग चिन्त्य है। मातापित्राचार्याणाम् में यद्यपि तीनों शब्द विद्यायोनि संबन्धवाची हैं, तथापि ऋकारान्तों के द्वन्द्व में आनङ् का विधान होने से यहां आनङ् प्राप्त नहीं है, क्योंकि आचार्य पद ऋकारान्त नहीं है। इतना ही नहीं, जहां केवल विद्यासम्बन्धी अथवा केवल योनि-सम्बन्धी ऋकारान्त होते हैं, वहीं आनङ् होता है। मातापित्राचार्याणाम् में पूर्व दो पद योनिसम्बन्धी हैं और अन्त्य पद विद्यासंबन्धी।

समाधान—अब हम क्रमशः पूर्व आक्षेपों के उत्तर देते हैं—

सुगन्धि—हमारी अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार सु+गन्ध शब्दों के बहुव्रीहि समास में ५ । ४ । १३५ से विहित समासान्त इकार द्वारा गन्धि (ह्रस्व इकारान्त) शब्द के सद्भाव का ज्ञापन होता है। इस प्रकार ज्ञापित ह्रस्व इकारान्त गन्धि शब्द गन्ध अर्दने (१० । १३२) स्वार्थ णिजन्त से अच इः (उ० ४ । १३६) सूत्र द्वारा इ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इसी गन्धि शब्द से तत्पुरुष समास में गुणवाचक और बहुव्रीहि में द्रव्यद्योतक उभयविध सुगन्धि प्रयोग अनायास निष्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया के अनुसार दुर्गन्धि शब्द भी लोक में दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस तत्त्व को न समझकर वामन ने दुर्गन्धिपदे इद् दुर्लभः सूत्र द्वारा अति लोकप्रसिद्ध दुर्गन्धि पद को भी असाधु कहा है। सुगन्ध और दुर्गन्ध शब्द गन्ध धातु से अच् प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं और सुगन्धि तथा दुर्गन्धि शब्द इ प्रत्यय से, यह भेद ध्यान में रखना चाहिए।

कर्त्ताकारयितारौ—आनङ् विधायक सूत्र में विद्यायोनिसंबन्ध की अनुवृत्ति होने पर भी यह नियम प्रायिक है। अतः विद्यायोनिसंबन्ध से अन्यत्र भी आनङ् हो सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१ । ४ । २) पर कहा है—

अनङ् आनङ्भ्यां चेति वक्तव्यम्। अनङ्-सुकृत्। आनङ्—सुकृद्दुष्कृतौ। तुक् प्राप्नोति अनङ्-आनङौ च। परत्वादनङानङौ स्याताम्। तुग्भवत्यन्तरङ्गतः]।

अर्थात्—अनङ् और आनङ् से तुक् अन्तरङ्ग होने से प्रथम होता है, ऐसा कहना चाहिए। अनङ्-सुकृत्, यहां सुकृसु इस अवस्था में ऋकारान्त होने से अनङ् की भी प्राप्ति होती है और तुक् की भी। आनङ्-सुकृद्दुष्कृतौ, यहां सुकृ+दुष्कृ इस अवस्था में पूर्वपद को आनङ् की भी प्राप्ति होती है और तुक् की भी। परत्व से अनङ् आनङ् प्राप्त होते हैं। तुक् अन्तरङ्ग होने से प्रथम होता है [तत्पश्चात् ऋकारान्तत्व के नष्ट होजाने के कारण अनङ् आनङ् नहीं होते]।

यहां प्रश्न होता है कि सुकृ+दुष्कृ समुदाय न विद्यासम्बन्धी है और न योनिसंबन्धी। तब इसमें आनङ् की प्राप्ति ही कैसे हो सकती है। और यदि कथंचित् आनङ् की प्राप्ति न हो तो भाष्यकार का उक्त विप्रतिषेध और अन्तरङ्गता से तुक् का प्रथम विधान उपपन्न ही नहीं होगा। अतः भाष्यकार के इस निर्देश से स्पष्ट है कि आनङ् विधायक सूत्र में विद्यायोनिसंबन्ध प्रायिक है। उस अवस्था में विना विद्यायोनिसंबन्ध के भी क्वचित् आनङ् का दर्शन साधु होगा।

विशेष—महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने उक्त सीधा मार्ग न अपनाकर भाष्यकार के वचन को ही चिन्त्य=अशुद्ध कहा है। कैयट का अशेषशेमुषीसम्पन्न भगवान् पतञ्जलि को मूर्ख बनाना, उसकी अपनी अज्ञता को ही प्रकट कर रहा है। नागेश भाष्यकार के वचन को तो चिन्त्य कहने का साहस नहीं करता, परन्तु उसने सुकृ+दुष्कृ को विद्यायोनिसम्बन्धियों का विशेषण मानकर भाष्यवचन की उपपत्ति दर्शाने का प्रयत्न किया है। यदि नागेश का यही अभिप्राय स्वीकार कर लिया जाए तो कर्ताकारयितारौ में भी आनङ् ठीक है। ये भी यजमान और ऋत्विक् रूप विद्यासंबन्धियों के विशेषण बन सकते हैं। वस्तुतः नागेश का यह द्रविड़ प्राणायाम क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार आनङ् आदेश से दीर्घ आकारान्त माता पिता होता आदि स्वतन्त्र शब्दों की सत्ता का परिज्ञान होता है। तत्सदृश कर्ता भी दीर्घ आकारान्त स्वतन्त्र शब्द है। इस दीर्घ आकारान्त माता शब्द के सद्भाव का ज्ञापन कारीषगन्धीमातः में सम्प्रसारणविधायक मातच्मातृकमातृषु (६ । १ । १४) में श्रूयमाण मातच् आदेश में भी होता है। यह मातच् वस्तुतः दीर्घ आकारान्त माता का समास के कारण गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१ । २ । ४८) नियम से विहित ह्रस्व रूप ही है।[1] इसी सिद्ध ह्रस्व रूप का आदेशरूप से निर्देश किया है। जिस प्रकार माता आकारान्त मातृ ऋकारान्त दो स्वतन्त्र शब्द हैं, उसी प्रकार अन्य ऋकारान्तों के विषय में

१. तुलना करो—'मातृक' शब्द से। यह कृतसमासान्त रूप निर्दिष्ट है।

भी जानना चाहिए।[1] माता-मातृ द्विविध स्वतन्त्र शब्दों के सद्भाव की प्रतीति महाभारत शान्ति० १२६।६ में प्रयुक्त मातृपितृभ्याम् और शान्ति० १३८।८४ तथा उद्योग ६५।४५ में श्रूयमाण मातृपितृवत् उभयविध प्रयोगों से भी होती है। दो शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता अथवा आनङ् के प्रायिकत्व को स्वीकार न करने पर मातृपितृभ्यां और मातृपितृवत् प्रयोगों को असाधु मानना होगा, जो कि शिष्ट प्रयोग होने से सर्वथा अनवद्य हैं। इसी व्याख्या से पूर्व निर्दिष्ट मातापित्राचार्याणाम् प्रयोग का साधुत्व जान लेना चाहिए।

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः (६।३।४६) सूत्र द्वारा विहित आत्व से महत् समानार्थक दीर्घान्त महा प्रकृत्यन्तर का भी ज्ञापन होता है। दीर्घ आकारान्त महा शब्द के द्वितीया के एकवचन का महाम् रूप वेद में असकृत् उपलब्ध होता है। उसी प्रकार एक महान् नान्त भी स्वतन्त्र शब्द है। इसके महानाम् महानि प्रयोग ऋक् तथा अथर्व में उपलब्ध होते हैं। इन दोनों (महा-महान्) में से किसी शब्द से भी षष्ठीसमास में महादेव शब्द उपपन्न होजाता है। सत्यार्थप्रकाश में पठित महतां देवः प्रयोग इसी प्रक्रिया से साधु है अर्थात् अविरविकन्याय[2] से विग्रह महत् तान्त से दर्शाया है और समास महा अथवा महान् से। अतः महतां देवः विग्रह में आत्व प्राप्ति के अभावरूप दोष का उद्भावन सर्वथा चिन्त्य है।[3] इसी प्रक्रियानुसार आदि षष्ठीसमास के महाग्रासः महाकारः आदि प्रयोगों के लिए उपसंख्यान की भी आवश्यकता नहीं रहती। अत एव जहां वस्तुतः तान्त महत् शब्द से समास होता है, वहां आत्वसहित प्रयोग ही बनता है। संस्कृत वाङ्मय में ऐसे प्रयोग भी सुरक्षित हैं। यथा—

---

१. कर्तृ मातृ पितृ आदि की जो रूपमाला है उसमें न्यूनातिन्यून तीन तीन शब्दों का समन्वय है—कर्त्ता, कर्त्तार्, कर्तृ; पिता, पितर्, पितृ। अत एव 'पितरस्तर्पयामि' आदि में द्वितीया बहुवचन में अनुक्त 'अर्' रूप भी उपपन्न हो जाता है। द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २६।

२. तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यति अविरविकन्यायेन। तद्यथा अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति। महाभाष्य ४।१।८८; ४।२।६०, १३१ आदि।

३. आत्व अप्राप्ति दोष की निवृत्ति के लिये श्री स्वामी वेदानन्दजी ने स्वसम्पादित सत्यार्थप्रकाश में 'महतां देवानां देवः' पाठान्तर किया है। इसमें 'न निर्धारणे' (२।२।१०) नियम से समासप्रतिषेध रूप नया दोष उपस्थित हो जाता है। और एक देव शब्द का अप्राप्त लोप भी स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' आभाणक की प्राप्ति होती है।

महद्वावासाः । रामा० बाल० १३ । १२ ॥

सुमहत्पर्वतोपमान् । रामा० बाल० १ । ४० । ८ ॥

टीकाकारों ने यहां आर्षत्वात् आत्त्वाभाव दर्शाया है। हमारी प्रक्रियानुसार आर्षत्व हेतु की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। इस विमर्श से स्पष्ट है कि महत् महा महान् तीन स्वतन्त्र शब्द हैं।

१६—भावविशिष्ट अर्थ में मूल प्रातिपदिक का प्रयोग

वेदभाष्य आदि ग्रन्थों में भाव अर्थ में विना भावप्रत्यय के भी मूल प्रातिपदिक का अनेक स्थानों पर प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—

शुद्धये बलपराक्रमाय दृढाय दीर्घायुषे च—यजुर्भाष्य १ । २० के भावार्थ में दार्ढ्याय के स्थान में दृढाय प्रयोग किया है।[1]

इसी प्रकार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के आरम्भ में ईश्वरस्य सहायेन तथा वेदभाष्य संबन्धी विज्ञापन में यथाशक्त्या सहायः कार्यः पाठ में साहाय्य अर्थ में भाव-प्रत्यय-रहित सहाय प्रातिपदिक मात्र का प्रयोग मिलता है।

समाधान—वक्ता जब किसी शब्द का प्रयोग गुणप्रधान निर्देश की विवक्षा से करता है, तब विना भावप्रत्यय के भी भावार्थ जाना जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने १ । ४ । २१ पर कहा है—

यत्तावदुच्यते नह्यन्तरेण भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देश इति। [तन्न] अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः।.........
पटस्य शुक्लः.........।

अर्थात्—जो यह कहा जाता है कि नहीं होता विना भाव प्रत्यय के गुणप्रधान निर्देश। [यह ठीक नहीं,] विना भी भावप्रत्यय के गुणप्रधान निर्देश होता है। यथा—पटस्य शुक्लः अर्थात् कपड़े का शुक्लपना।

विना भावप्रत्यय के भी भावार्थ को कहने की शक्ति प्रातिपदिक में उसी प्रकार निहित होती है, जिस प्रकार अन्तर्भावितण्यर्थ धातुओं में विना हेत्वर्थक णिच् के विद्यमान होती है।

इस नियम और भाष्यकार के निर्देश से दार्ढ्य के अर्थ में दृढाय और साहाय्य के अर्थ में सहाय प्रयोग सर्वथा निर्दोष हैं।

इस प्रकार पूर्वमुद्रित शास्त्रीपरीक्षोपयोगी यजुर्वेदभाष्य की टिप्पणी में निरूपित समस्त शब्दों के साधुत्व की जो विस्तृत मीमांसा की है, उससे स्पष्ट है कि

---

१. आचार्यवर ने क्लिष्टता परिहारार्थ तथा हिन्दी के अनुसार अभिप्राय व्यक्त करने के लिए अपने विवरणयुक्त संस्करण में समस्त 'दीर्घायुषे' पद को 'दृढाय दीर्घा [या] युषे' इस प्रकार असमस्त दर्शाया है।

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य अथवा अन्य संस्कृत निबद्ध ग्रन्थ अथवा पत्रों में प्रयुक्त जिन पदों को साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु समझते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल सर्वथा साधु हैं, प्राचीन शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित हैं। उनको असाधु समझना अथवा कहना संस्कृतभाषा और उसके व्याकरणशास्त्र के मर्म के प्रति अपने अज्ञान को प्रकट करना मात्र है। अत एव वेद कहता है—

पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः । ऋ० १ । १६४ । १६ ॥

अर्थात्—कृतभूरि परिश्रम शास्त्रचक्षु पुरुष ही शास्त्र के मर्म को जान सकता है, अन्य नहीं।

अन्यत्र भी कहा है—

सन्तः समीक्ष्येतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।

अर्थात्—ज्ञानी साधु असाधु की समीक्षा=आलोचना=विमर्श करके साधु पक्ष को स्वीकार करता है, परन्तु मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि=विना विचारे दूसरों के पीछे चलने वाले होते हैं।

इस प्रकार हमने महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि प्राचीन प्रामाणिक वैयाकरणों द्वारा संकेतित अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार विना किसी क्लिष्ट कल्पना के महर्षि दयानन्द के इस भाष्यांश में प्रयुक्त असाधु समझे जाने वाले समस्त शब्दों का साधुत्व दर्शाने का प्रयत्न किया है। हमारी इस वैज्ञानिक प्रक्रिया से न केवल महर्षि के इतने ही शब्द, अपि तु उनके वाङ्मय में प्रयुक्त अन्य सभी शब्दों और प्राचीन आर्षवाङ्मय में प्रयुक्त सहस्रों शब्दों के साधुत्व का परिज्ञान अनायास हो जाता है। महर्षि वाल्मीकि, कृष्ण द्वैपायन, पाणिनि और पतञ्जलि आदि परम प्रामाणिक शिष्ट आचार्य अपने ग्रन्थों में अपशब्दों का प्रयोग करेंगे, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी अवस्था में इन महर्षियों के प्रयोगों के साधुत्व के लिये जो भी मार्ग अपनाया जाएगा, उसी मार्ग से ऋषि दयानन्द के असाधु समझे जाने वाले प्रयोगों का साधुत्व भी व्यवस्थापित हो जाएगा।

आशा है विद्वन्महानुभाव अष्टाध्यायी की हमारे द्वारा प्रदर्शित वैज्ञानिक प्रक्रिया पर मनन करेंगे, इसका लाभ समझने का प्रयत्न करेंगे और इस अमोघ शस्त्ररूप वैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनाकर पाश्चात्त्य काल्पनिक भाषामत का मान-मर्दन करके दैवी सुरभारती को पुनः अपने प्राचीन गौरवमय आसन पर आसीन करावेंगे, जहां से ईसाई और यहूदी मत के पक्षपात के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने इसे नीचे गिराने की चेष्टा की है।

इतने पर भी जो मनुष्य आग्रही होता है, सत्य को ग्रहण करना नहीं चाहता, उसे ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता, मादृश अल्पज्ञ की तो शक्ति ही क्या। अस्तु।

अन्त में हम भवभूति के शब्दों में इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणब्रह्मदत्तशङ्करदेवाचार्याणां शिष्येण
पाणिनीय कातन्त्र-चान्द्र-जैनेन्द्र-शकटायन-हैमाद्रिविविधतन्त्रज्ञेन
सारस्वतकुलप्रसूतेन भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
गौरीलालात्मजेन यमुनादेवीतनूद्भवेन
युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचितोऽपाणिनीयपदविमर्शः समाप्तः
शुभं भूयात् लेखकपाठकयोः॥

परिवर्धन

१—पृष्ठ ६, पं० २, ११, १३, १७ पर निर्दिष्ट "गृह" धातु के सम्बन्ध में—
आचार्य हेमहंसमणि ने अपने न्यायसंग्रह की व्याख्या में "गृह" स्वतन्त्र धातु मानी है। वह लिखता है—गृहौङ् ग्रहणे औदित्वाद्वेटि गर्ढा गर्हिता।... के गृहम्, गृहाः। पृष्ठ १४६।

२—पृष्ठ १३ पं० २० के आगे—

लोप आगम आदि द्वारा निर्दिष्ट प्रकृत्यन्तर सद्भाव में महर्षि दयानन्द की सम्मति—लोप आगम आदेश आदि की वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार वैयाकरण आचार्यों ने विलुप्त प्रकृत्यन्तरों का निर्देश किया है, इस विषय में भगवान् पतञ्जलि की सम्मति पृष्ठ २७७ पर उद्धृत कर चुके हैं। अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा प्रकृत्यन्तर कल्पना महर्षि दयानन्द को भी इष्ट है। उन्होंने नञ्समास-घटित शब्दों में "अ" को स्वतन्त्र अव्यय माना है। अव्ययार्थ में "अ" अव्यय पर लिखते हैं—

अ=अभावे। अराजके तु लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् (मनु ७। ३)।

वैयाकरणों के नियमानुसार न+राजके=अराजके में नलोपो नञः (अ० ६। २। ७१) से नकार का लोप होकर अ शेष रहता है।

पदकार गार्ग्य द्वारा अनुमोदन—आचार्य गार्ग्य ने साम के पदपाठ में नञ्समास-घटित पदों में "अ" को अवग्रह द्वारा स्वतन्त्र पदरूप में दर्शाया है। यथा—अरातेः अ रातेः (१। १। १। ६), अमित्रम् अ मित्रम् (१। १। २। १) अमृतम् अ मृतम् (१। १। ४। १)॥

हमारे पास साम का सम्पूर्ण पदपाठ इस समय नहीं है। परन्तु हमें स्मरण है कि आचार्य गार्ग्य ने अजादृयुत्तर पद में नञ् के न का लोप और नुट् का आगम= (तस्मान्नुडचि ६। ३। ७३) द्वारा विहित "अन्" भाग को भी अवग्रह द्वारा स्वतन्त्र पदरूप में दर्शाया है। अन्य पदकारों ने ऐसे स्थानों पर अवग्रह नहीं किया।

३—पृष्ठ ३२, पं० ३४ में प्रापयित्वा के आगे पढ़ें—

यजुर्वेद-भाष्य २। १४ के भावार्थ में आनन्दयित्वा,

४—पृष्ठ ४६, टि० १ के अन्त में

इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति...। तदिहापि साध्यम् (महा० १। १। ३) वचन द्वारा भगवान् पतञ्जलि ने अन्य वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट पदों को पाणिनीय शास्त्र द्वारा भी साध्य माना है। आधुनिक वैयाकरण पाणिनि द्वारा साक्षात् स्मृत आचार्य द्वारा निर्दिष्ट पदों को भी अपशब्द कहते हैं। पाठकगण इस विषय में गम्भीरता से विचार करें।

५—पृष्ठ २९३, टि० १ में "पृष्ठ १७ पर" के स्थान में "पृष्ठ २४२ पर" पढ़ें।

महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा, प्रकाशन

प्रथम पुष्प

महर्षि दयानन्द की पद प्रयोग शैली

लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक

अध्यक्ष—अनुसन्धान विभाग, म० द० स्मारक ट्रस्ट, टंकारा

मूल्य प्रचारार्थ केवल १॥) (डेढ़ रुपया) डाक व्यय अलग



इस ग्रन्थ में ऋषि दयानन्दजी महाराज द्वारा प्रयुक्त उन पदों का तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर युक्तियुक्त साधुत्व दर्शाया गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से उन लोगों का भ्रम दूर हो जायगा जो लोग यह सोचते हैं कि स्वामीजी ने अपने वेदभाष्यादि ग्रन्थों में कतिपय अपाणिनीय पदों का प्रयोग किया है।

यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्यसमाज के सदस्य तथा प्रत्येक आर्यसमाज के पुस्तकालयों में रखना चाहिये। आर्यसमाज के सदस्यों को चाहिये कि इस ग्रन्थ को लेकर संस्कृत के अन्य विद्वानों तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ाने वाले संस्कृत के प्रोफेसरों को भेंट करें जिससे अन्य मतमतान्तरों के विद्वानों की दृष्टि में भी ऋषि के वेदभाष्य की महत्ता प्रकट हो।

प्रतियाँ बहुत कम छापी गई हैं, इसलिये महानुभावों से निवेदन है कि अपनी-अपनी प्रति शीघ्र मँगालें।

पुस्तक मिलने का पता—

(१) महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, प्रकाशन
टंकारा (मोरवी) जिला सौराष्ट्र

(२) महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा, कार्यालय
आर्यकन्या महाविद्यालय, बड़ौदा

पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अन्य ग्रन्थ



लिखित—

१—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास।

२—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (उत्तर प्रदेश राज्य से पुरस्कृत)।

३—वैदिक-स्वर-मीमांसा (उत्तर प्रदेश राज्य से पुरस्कृत)।

४—वैदिक-छन्दोमीमांसा।

५—ऋग्वेद की ऋक्संख्या।

६—आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय।

७—काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र।

८—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—पर विचार।

९—दुष्कृताय चरकाचार्यम्—मन्त्र पर विचार।

१०—ऋग्वेद की दानस्तुतियों पर विचार।

सम्पादित—

१—अष्टाध्यायी-प्रकाशिका (ले० पं० दे[illegible]काश पातञ्जल)।

२—दशपादी-उणादि-वृत्ति (उणादि की प्राचीन व्याख्या)।

३—क्षीर-तरङ्गिणी (धातुपाठ की प्राचीन व्याख्या)।

४—निरुक्त-समुच्चय (वररुचि-कृत)।

५—शिक्षा-सूत्राणि (आपिशलि-पाणिनि-चन्द्रगोमी के शिक्षा सूत्र)

६—भागवृत्तिसंकलनम् (अष्टाध्यायी की अनुपलब्ध वृत्ति के उद्धरणों का संकलन)।



